अंक 2

ISSN 0975-5217
वर्ष 2010

भैरवी

संगीत शोध पत्रिका

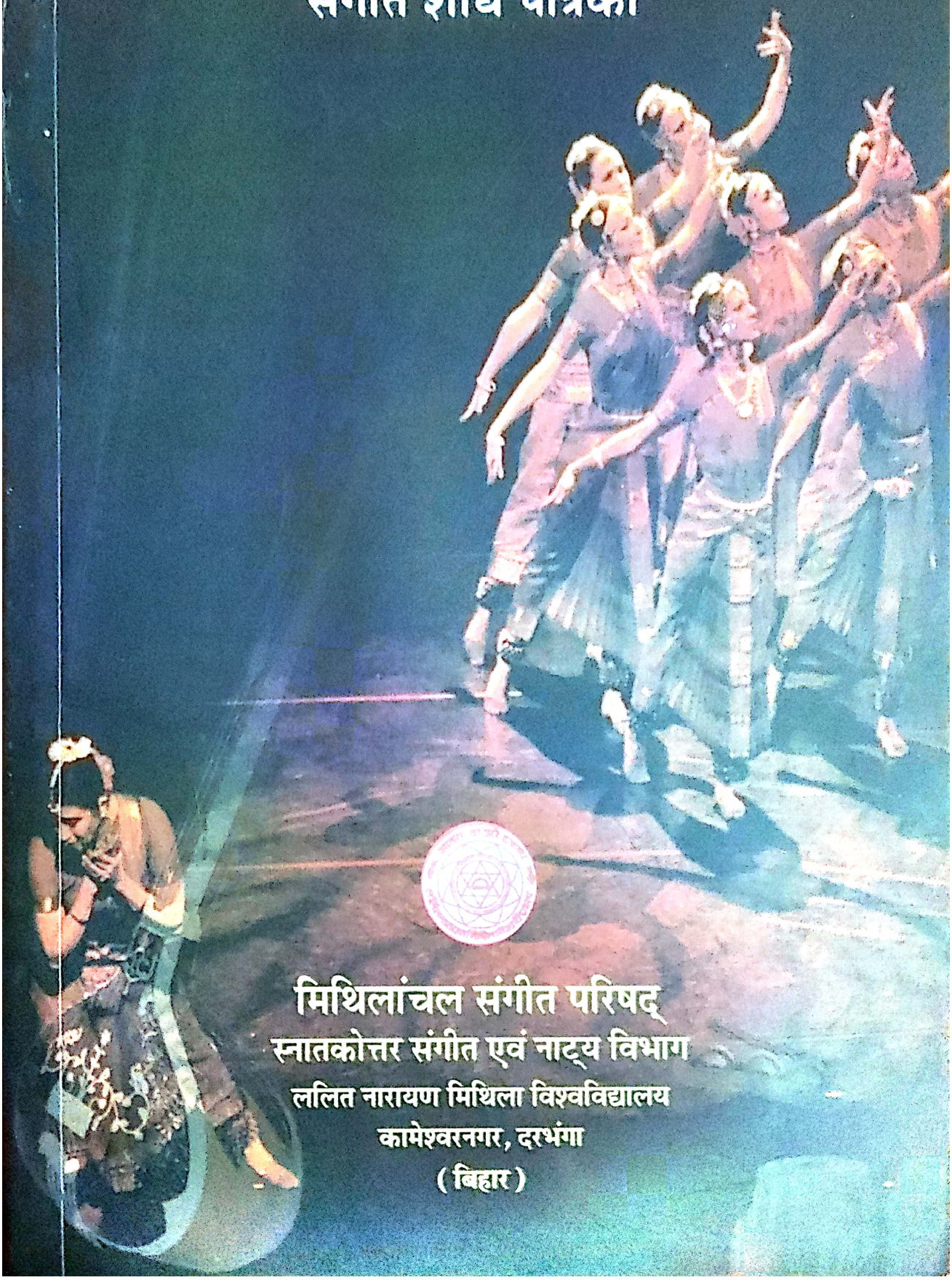

मिथिलांचल संगीत परिषद्
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय
कामेश्वरनगर, दरभंगा
(बिहार)

Scanned with OKEN Scanner

भैरवी

(संगीत शोध-पत्रिका)

(वर्ष 2010 अंक 2)

मिथिलांचल संगीत परिषद्

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वर नगर, दरभंगा 846 004

Scanned with OKEN Scanner

भैरवी (संगीत शोध-पत्रिका)

वर्ष-2010, अंक : 2

प्रधान सम्पादक

डॉ. पुष्पम नारायण

प्रकाशक : मिथिलांचल संगीत परिषद्

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वर नगर, दरभंगा 846 004
दूरभाष - 06272 248340
मो0 - 09430063265
ईमेल - npushpamji@gmail.com

मूल्य :

इस अंक का मूल्य : 350/- रुपये

व्यक्तियों के लिए :

वार्षिक : 700/- रुपये / त्रैवार्षिक 2000/- रुपये

पंचवार्षिक 3200/- रुपये / आजीवन : 10000/- रुपये

संस्थाओं के लिए :

वार्षिक : 750/- रुपये / त्रैवार्षिक 2200/- रुपये

पंचवार्षिक 3700/- रुपये / आजीवन : 12000/- रुपये

(केवल मीनआर्डर / चेक / बैक ड्राफ्ट से)

(दरभंगा से बाहर के चेक में 35 रुपये अधिक जोड़ें)

© सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशित सामग्री के उपयोग हेतु लेखक, प्रकाशक की अनुमति आवश्यक है।
प्रकाशित रचनाओं के विचार से सम्पादक व प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं।
समस्त विवाद दरभंगा न्यायलाय के अन्तर्गत विचारणीय।

मुद्रक

विकास कंप्यूटर एंड प्रिंटर्स
1/10753, गली नं. 3 सुभाष पार्क,
नवीन शाहदरा, दिल्ली - 110032

Scanned with OKEN Scanner

प्रधान सम्पादक

डॉ. पुष्पम नारायण

सम्पादक मंडल

डॉ. लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्या'

डॉ. वेद प्रकाश

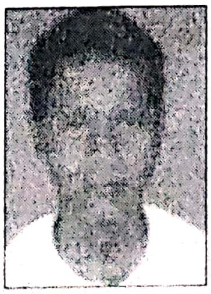

शिवनारायण महतो

Scanned with OKEN Scanner

Scanned with OKEN Scanner

Ph. - 06242-232225

JANTA KOSHI COLLEGE

BIRAUL - 847203 (DARBHANGA)

(A Constituent unit of L.N.Mithila University, Darbhanga)

Ref. No. ..... Date .....

Message

I am very glad to know that the P.G. department of Music and Dramatics has established 'Mithilanchal Sangeet Parisad' and is publishing Bi -Annual Music Journal.

Music as a form of art is something very essential in this worldly life which leads to entertainment, excitement and relaxation, and gives soothing effect to mankind. Hence the publication of this Journal will lead to encouragement, enrichment and promotion of higher education and finally betterment of society.

I, on behalf of Janta Koshi College , Biraul extend my sincere greetings to the members of PG Department of Music & Dramatics and wish grand success of its Annual Publication.

* A CONSTITUENT UNIT OF LNMU, DARBHANGA
* CO- EDUCATIONAL COLLEGE HAVING A CLEAN AND ACADEMIC ENVIRONMENT.
* IMPART EDUCATION UPTO DEGREE (HONS) STANDARD IN ARTS & COMMERCE AND UPTO INTER LEVEL IN SCIENCE.
* EXPERIENEED AND QUALIFIED TEACHERS.
* WELL -EQUIPPED & FURNISHED LIBRARY AND LABORATORY FACILITIES.
* SEPERATE COMMON ROOM FOR BOYS & GIRLS.
* STRESS ON ALBROUND PERSONALITY DEVELOPMENT OF STUDENTS THROUGH NSS AND OTHER ACTIVITIES.
* INCENLINES TO POOR & MERITORIUS STUDENTS.
* SPORTS FACILITIES WITH bIA PLAY gROUND WITHIN THE CAMPUS.

To,
Dr.P. Narain
H.O.D.
PG Deptt of Music
LNMU, Kamesharnagar,
Darbhanga.

23/07/10

(Dr. Shyam Chandra Gupta)
Principal

Scanned with OKEN Scanner

Mob. - 09431443864

K. S. COLLEGE

LAHERIASARAI - (DARBHANGA)

(A Constituent unit of L.N.Mithila University, Darbhanga)

Ref. No. ..... Date .....

Message

I am very glad to know that the P.G. department of Music and Dramatics ha established 'Mithilanchal Sangeet Parisad' and is publishing Bi -Annual Music Journal.

Music as a form of art is something very essential in this worldly life which lead to entertainment, excitement and relaxation, and gives soothing effect to mankind. Henc the publication of this Journal will lead to encouragement, enrichment and promotion c higher education and finally betterment of society.

I, on behalf of K. S. College ,Laheriasaria Darbhanga extend my sincere greeting to the members of PG Department of Music & Dramatics and wish grand success of i Annual Publication.

* A CONSTITUENT UNIT OF LNMU, DARBHANGA
* CO- EDUCATIONAL COLLEGE HAVING A CLEAN AND ACADEMIC ENVIRONMENT.
* IMPART EDUCATION UPTO DEGREE (HONS) STANDARD IN ARTS & COMMERCE AND UPTO INTER LEVEL IN SCIENCE.
* EXPERIENEED AND QUALIFIED TEACHERS.
* WELL -EQUIPPED & FURNISHED LIBRARY AND LABORATORY FACILITIES.
* SEPERATE COMMON ROOM FOR BOYS & GIRLS.
* STRESS ON ALBROUND PERSONALITY DEVELOPMENT OF STUDENT THROUGH NSS AND OTHER ACTIVITIES.
* INCENLINES TO POOR & MERITORIUS STUDENTS.
* SPORTS FACILITIES WITH bIA PLAY gROUND WITHIN THE CAMPUS.

To,
Dr.P. Narain
H.O.D.
PG Deptt of Music
LNMU, Kamesharnagar,
Darbhanga.

(Dr. Rameshwar Prasad)
Principal

Scanned with OKEN Scanner

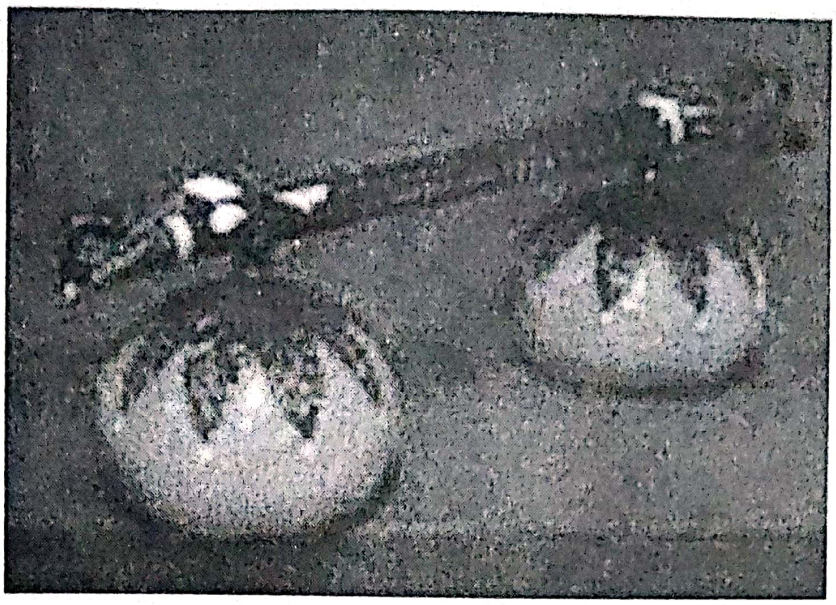

रूद्र वीणा

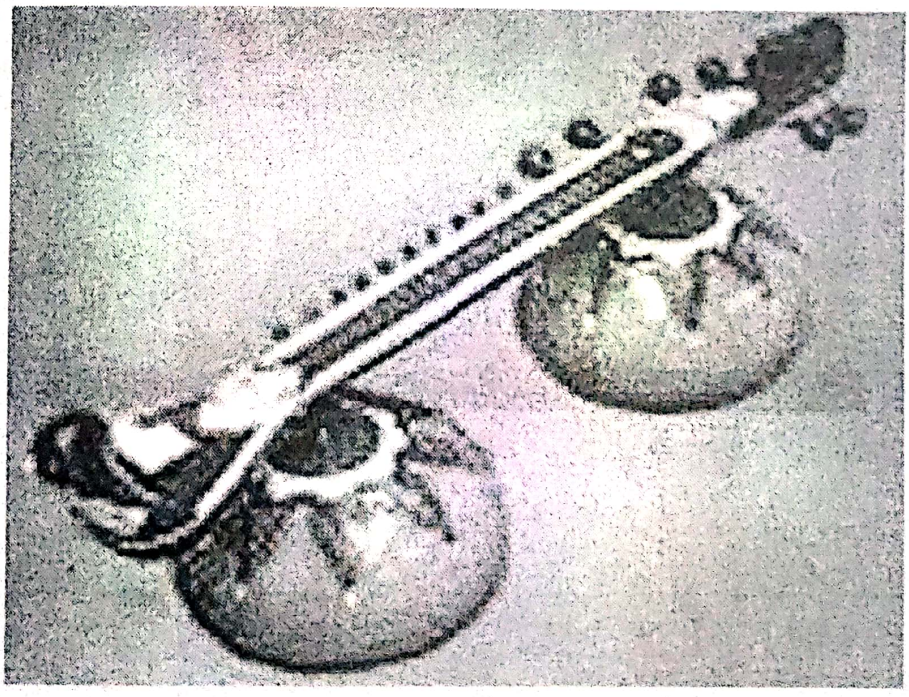

विचित्र वीणा

Scanned with OKEN Scanner

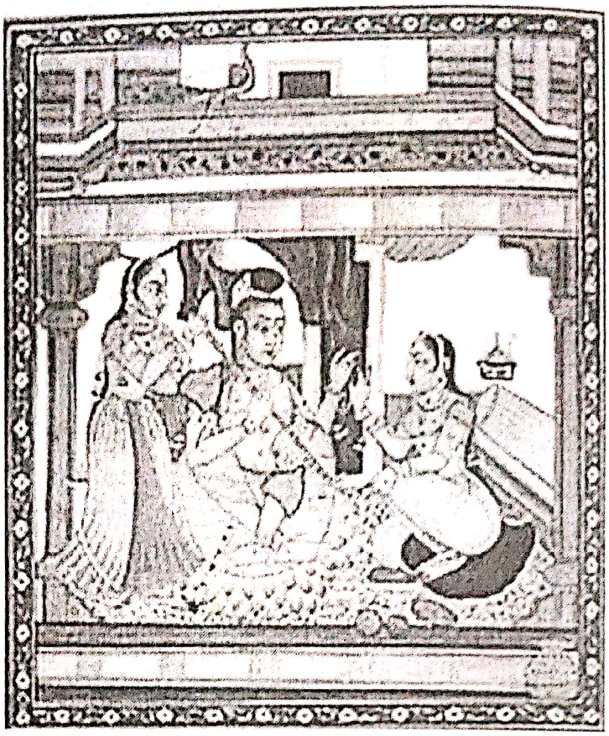

राग भैरव - ध्यान चित्र

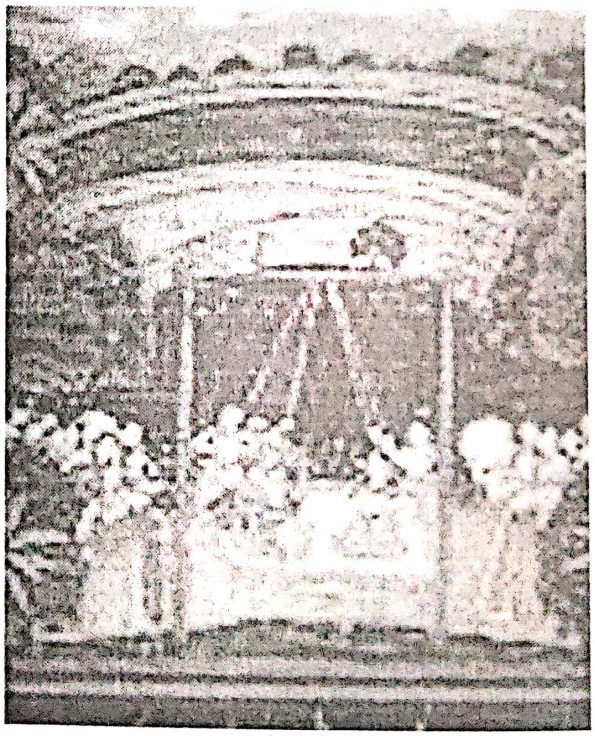

राग भैरव - ध्यान चित्र

Scanned with OKEN Scanner

संपादक की कलम से ...

कला, आर्ट या फन ये शब्द किसी भी भाषा, व्याकरण या लिपि की उपज तो हो सकते हैं लेकिन इनकी अभिव्यक्ति किसी भी काल, व्याकरण, भाषा, कथ्य, लिपि या तकनीकि भाव की देन नहीं है। मनुष्य ने सौन्दर्य, भाव व अनुभूति को जबसे लिपि व कथ्य में साधा, तभी से उसने इसकी परिभाषा व इसके नामकरण कला की घोषणा की जबकि यह सत्य है कि कला अर्थात् लय ब्रह्माण्ड में पहले से ही विद्यमान थी। कला शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद में हुआ है :-

"यथा कलां यथा शफं ऋणं सन्यामसि।"

संगीत एक बहुआयामी कला है। यदि संगीत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात किया जाए तो ज्ञात होता है कि संगीत प्रागैतिहासिक काल से ही अनेक लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु उत्कृष्ट साधन सिद्ध हुआ है। आदि मानव द्वारा उसके आंतरिक उद्‌गारों के प्रकटीकरण हेतु प्रयुक्त किए जानेवाली संगीत कला कालान्तर में उसके बौद्धिक विकास के साथ-साथ जब पूर्ण शास्त्र और विद्या के रूप में विकसित हुई तो मानव जीवन के प्रमुख प्रयोजनों की सिद्धि के लिए भी परिपूर्ण मानी जाने लगी। संगीत कला के ज्ञान से चारों पुरूषार्थ यथा धर्म अर्थ काम व मोक्ष की प्राप्ति सहज ही हो जाना संभव माना गया है।

संगीत को विश्व मे अभिनवीकरण का श्रेय मिला है। चिरकाल में इसने मानव में नवीन राग भरकर भावनाओं की मधुरिमा की सृष्टि की तथा निराशा के प्रांगण में आशा और आनन्द का उत्स पैदा कर दिया। बाद में यह विश्व का नैतिक विधान बनकर लोक को दिव्य सौंदर्य प्रदान करने लगा।

संगीत सृष्टि का सृजनकर्ता है और प्रलय के उपरांत सृष्टि के विनाश हो जाने पर भी संगीत का अस्तित्व रहता हैं संगीत अनादि है, इसका जन्म स्वर्ग के चारू प्रांगण में हुआ है। इसलिए इसमें स्वर्गीय तत्व है। न केवल चेतन सृष्टि ही प्रत्युत जड़ सृष्टि भी संगीतमय है। जड़ जंगम में जहां-जहां दृष्टि डालिए संगीत के सप्त स्वरों का समा सा बंधा दिखाई देता है।

मानव जीवन के प्रत्येक क्षण में संगीत भरा पड़ा है। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त समस्त सामाजिक जीवन संगीतमय है। भारतीय जीवन के प्रत्येक मंगलकार्य में संगीत की लड़ियां गुंथी हुई है। नवोदित शिशु के रोने की प्रथम ध्वनि के साथ ही ढोल मंजीरे की ताल पर उठते हुए संगीत के सामूहिक स्वर सुनाई देने लगते हैं और आंगन के बाहर से शहनाई की मंगल ध्वनि गुंजरित होने लगती है।

सुन्दर स्वरों से बंधा हुआ तंत्री का नाद जब रंजक राग बनकर प्रादुर्भूत होता है उस समय उसके स्वरों में हृदय को झंकृत करने की इतनी शक्ति होती है कि पशु-पक्षी भी उस पर मोहित हो जाते हैं। पंडित ओंकारनाथ ठाकुर जी का कहना है कि लहरियां सुनते ही पाषाण हृदय भी सहसा झूम उठता है। संगीत में वह नैसर्गिक शक्ति है जो मानव हृदय की कोमलतम भावनाओं को स्पर्श कर उसकी लुप्त आशाओं को जगा देती है और हृदय के किसी नीरव कोने में डूबी स्मृतियों को हरा-भरा कर देती है।

आज संगीत उद्योग एक अहम रोजगार देनेवाले उद्योग का रूप ले चुकी है तथा इससे म्यूजिक कैरियर के अनेक रास्ते खुल गए हैं जैसे संगीत निर्देशक, अरेन्जर, गीतकार, पार्श्व गायक-गायिका, सहायक कलाकार, संगतकार, साउंड रिकार्डिस्ट, साउंड इंजीनियर, तकनीशियन्स, म्यूजिक थेरेपिस्ट, कैसेट एवं सीडी

Scanned with OKEN Scanner

कंपनियां तथा इनसे संबंधित अनेक छोटे-बड़े, रोजगार परक क्षेत्र। यही नहीं संगीत के क्षेत्र में शिक्षण परफार्मेन्स, कंसर्ट, लाइव शो, डिस्क जाकी, विडियो जाकी, रेडियो जाकी के रूप में भी कैरियर बनाया जा सकता है। यही नहीं शास्त्रीय, भजन, गजल, लोक, पॉप, फ्यूजन आदि के कलाकार के रूप में भी कैरियर बनाया जा सकता है।

आज के बदलते हुए वैश्विक परिवेश मे जहां एक ओर शिक्षा का नवीनीकरण हो रहा है वहीं दूसरी ओर संगीत के क्षेत्र में भी नवीनीकरण हो रहा है। गीतों का स्वरूप बदल रहा है। रीमिक्स गीतों का दौर चल गया है। लोकप्रिय एवं प्रचलित फिल्मी गीतों को 'रिद्म' के नए अंदाज में अरेन्ज कर नए रंग के साथ प्रस्तुत करनेवाले प्रोड्यूसर-डाइरेक्टर ने इनमे भी रोजगार की संभावनाए खोज ली है।

संगीत की लोकप्रियता को देखते हुए कलाकारो ने आज विभिन्न कंपनियों द्वारा अपने प्राइवेट (शास्त्रीय, गजल, भजन, लोकगीत, पाप आदि) एलबम निकलवा कर कीर्ति और पैसा दोनों ही अर्जित की है।

इसमें कोई दो राय नहीं कि आज संगीत को भारतीय सभ्य समाज मे एक सम्मानजनक स्थान प्राप्त है यह सिर्फ मनोरंजन का साधन न रहकर बहुत से लोगों को रोटी रोजी प्रदान कर रहा है। इसकी बढ़ती हुयी लोकप्रियता ने संगीत को उद्योग के रूप में विकसित किया है, जिससे रोजगार के अनेक रास्ते खुल गए हैं। अतः वर्तमान स्थिति में संगीत उद्योग दोहरे-तिहरे रोजगार का मापदण्ड बन गया है और इसका व्यापार आज धनार्जन का अच्छा साधन बन गया है।

योजनानां सस्त्रंतु शनैर्याति पिपीलिका।
अगच्छ-वैनतेयोऽपि पदमेकं न गच्छति।।

नारदीय शिक्षा

शनैः शनैः गमन से एक चींटी भी सहस्त्रों मील की दूरी तय कर लेती है जबकि रूका हुआ वेगमयी पक्षी गरूड़ एक पग की दूरी भी तय नहीं कर सकता।

नारद मुनि की इन्हीं पंक्तियों ने मुझे प्रेरणा दी है और शनैः शनैः पग प्रति पग लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए आज भैरवी संगीत शोध पत्रिका की दूसरी आहुति आपके यज्ञ कुण्ड रूपी ज्ञान के लिए सादर समर्पित है।

पुष्पम नारायण

—डॉ॰ पुष्पम नारायण
विभागाध्यक्ष, स्नातकोत्तर संगीत
एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय
कामेश्वर नगर, दरभंगा 846 00
दूरभाष - 06272 24834
मो0 - 09430063261
ईमेल - npushpamji@gmail.com

Scanned with OKEN Scanner

अनुक्रम

संपादक की कलम से ...		9
1. भारतीय संगीत शिक्षण और मनोविज्ञान	*प्रो. साहित्य कुमार नाहर*	13
2. संगीत और मनोविज्ञान	*नूतन कुमारी*	18
3. मनस-तत्व और संगीत	*डॉ. अश्विनी कुमार सिंह*	20
4. संगीत के अंतर्गत लय एवं लयकारियों का सौन्दर्य तथा महत्व	*डॉ. अमृता*	22
5. स्वर, लय और राग से उत्पन्न रस और भाव का सौंदर्य विश्लेषण	*कुमारी कंचन*	24
6. "संगीत वाद्य एवं रस" : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन	*डॉ. (श्रीमती) रेनू वर्मा*	26
7. सरोद की पृष्ठभूमि में रवाब	*डॉ. रीता दास*	30
8. कुतप वृन्द तथा आर्केष्ट्रा भारतीय संगीत के परिप्रेक्ष्य में	*डॉ. मधु शुक्ला*	32
9. तबले की बंदिशों का उद्भव एवं विकास	*डॉ. गौरांग भावसार*	36
10. भारतीय (तत्-वितत) वाद्य की उत्पत्ति एवं विकास	*डॉ. राकेश जे. महीसुरी*	39
11. तबले के विभिन्न बाजों का तुलनात्मक अध्ययन	*अभिषेक तुषार*	41
12. तबले में कलात्मक सृजनशीलता	*डॉ. सुदेश कुमारी*	43
13. लखनऊ घराने के तबले पर एक दृष्टि	*डॉ. प्रवीण उद्धव*	45
14. चारी	*डॉ. लयलीना भट्ट*	48
15. प्रबंध-परंपरा	*अमी मोदी*	51
16. 'स्वतंत्रता प्राप्ति पश्चात् भोपाल का सांगीतिक विकास - एक तथ्यात्मक अध्ययन'	*डॉ. रवि कुमार पंडोले*	53
17. विद्यालयी संगीत शिक्षा में पंडित विष्णु नारायण भातखण्डे का योगदान	*संतोष दत्तात्रय राव परचूरे*	56
18. संगीत शिक्षा में दूरस्थ प्रणाली का प्रयोग	*अंजू कुमारी*	63
19. पारंपरिक संगीत शिक्षा प्रणाली एवं वैज्ञानिक उपकरण	*डॉ. सोनिया बिन्द्रा*	66
20. वर्त्तमान सामाजिक परिवेश में संगीत कला की स्थिति	*डॉ. रेणु निगम*	68
21. भाव के स्वरों में रंगी ठुमरी	*आभा कुमारी*	72
23. सितार एवं अभ्यास विधि	*डॉ. शोभित कुमार नाहर*	75
24. भारतीय संस्कृति में संगीत का स्थान	*डॉ. मनोरमा झा*	77
25. शास्त्रीय संगीत में महिलाओं का योगदान	*डॉ. रेखा रत्नम*	79
26. कालिदास वाङ्मय में संगीत तत्त्व	*डॉ. ज्ञानेश चन्द्र पाण्डेय*	83
27. रवीन्द्र संगीत पर विभिन्न गायन शैलियो का प्रभाव	*रूपाली दास*	87
28. काशी के सांगीतिक इतिहास में शसक्त हस्ताक्षर पूज्यनीय पण्डित ओम्कारनाथ ठाकुर	*रश्मिका शिवंक*	91

Scanned with OKEN Scanner

29.	जयदेवकृत गीतगोविन्दम् का संगीतशास्त्रीय अध्ययन	डॉ. रवीन्द्र नारायण चौरसिया	95
30.	भारतीय संगीत के विकास में हिन्दी-भक्त कवियों का योगदान	आलोक रंजन	98
31.	गीतगोविन्दम् में वर्णित वासंतिक रास का स्वरूप विवेचन	कमलेश कमल	101
32.	जानकीवल्लभ शास्त्री के गीतों में संगीत-तत्त्व	डॉ. रंजना कुमारी	104
33.	पूरब अंग की ठुमरी गायकी में महिला कलाकारों का योगदान एवं हुस्नाबाई	कु. रागिनी सरना	109
34.	।। हस्तेनार्थं प्रदर्शयेत् ।। ।। शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम् ।। (कालिदास, कुमारसम्भवम्)	श्री प्रेमचन्द होम्बल	112
35.	महम्मद हुसैन खां साहब तथा इनकी रचनाएं	श्री प्रवीण के. आहिरे	114
36.	ताल और मानव जीवन	डॉ. पुष्पम नारायण	116
37.	लोकनृत्य और चिकित्सा	अमृता कर्मकार	121
38.	संगीत चिकित्सा पद्धति	डॉ. प्रवीण सैनी	124
39.	लोकगीत एक आत्मिक आवाज है	इंदिरा सिंह	127
40.	सामा चकेवा के गीतों का सांगीतिक अनुशीलन	स्मिता सुमन	129
41.	मिथिलांचल की लोकगाथाएँ : संगीत एवं श्रद्धाभाव	राजेश कुमार गुप्ता	133
42.	बिहार के लोक-नृत्यों का सांगीतिक अध्ययन	कुमारी मेनिका	136
43.	मिथिला में प्रमुख लोकनाट्य	डॉ. नरेन्द्र नाथ झा	139
44.	बिहार के लोकगीतों के अंतर्गत संस्कार गीत-एक दृष्टि	डॉ. माधुरी सिंह	143
45.	Leadership for Global Excellence through Nad Sampraday and Guru-Shishya Parampra of Indian Music	*Pandit Ishwarchandra*	148
46.	The Various Facts of Semi-Classical Music	*Dr. Shyam Mohan* *Dr. Arbind Kumar*	151
47.	Ramakien The Great Epic of Thailand	*P. Medini Hombal*	154
48.	Chordophones : The String Instrument	*Vishwas V. Sant*	157

Scanned with OKEN Scanner

भारतीय संगीत शिक्षण और मनोविज्ञान

प्रो. साहित्य कुमार नाहर*

संगीत, जिसे नाद ब्रह्म के रूप में विद्वानों ने स्वीकार किया है, भारत वर्ष में सांस्कृतिक विकास की एक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में मान्य है, क्योंकि यह सृष्टि के प्रादुर्भाव के समय से ही प्रायः प्रत्येक सजीव गतिविधि में व्याप्त है। संगीत के दो मूलभूत तत्व स्वर एवं लय (गति) जिन पर संगीत पूर्णतः आधारित है, सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है और इसी से सृष्टि के समस्त चराचर कार्य संचालित होते हैं। संगीत मूलतः मानव मस्तिष्क एवं प्रकृति के आधार पर विविध रूपों में परिलक्षित होता है और मन का विज्ञान होने के कारण मनोविज्ञान भी मन आत्मा एवं मस्तिष्क से सीधे जुड़ा हुआ माना जाता है। वैसे मनोविज्ञान को भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में भिन्न-भिन्न रूपों में व्याख्यायित किया गया है। किसी ने मन का विज्ञान तो किसी ने आत्मा का विज्ञान, तो किसी ने अंतःचेतना या व्यवहार का विज्ञान कहकर पारिभाषित किया है। वस्तुतः मानव प्रकृति के अध्ययन या समस्त सजीव प्राणियों की क्रियाओं यथा - प्रेम, द्वेष, चिन्ता, जिज्ञासा, सुख, खुशी इत्यादि तथा दैनिक जीवन में किये गए व्यवहार का आकलन तथा इसे मस्तिष्क, मन, बुद्धि विवेक से व्यवस्थित करने एवं मूल्यांकन करनेवाली प्रक्रिया को मनोविज्ञान के रूप में व्यक्त किया गया है।

भारतीय चिंतन, के आध्यात्मिक आधार पर दृष्टिपात् करें तो पाते हैं कि पूर्व जन्म एवं भविष्य की मान्यता, जो पाश्चात्य देशों में नहीं है, भारतवर्ष में ऋषि-मुनि को भूत-वर्तमान-भविष्य के ज्ञान के रूप में प्राचीन काल से ही व्याप्त रही है क्योंकि उत्तम से उत्तम संस्कार और प्रतिभावान बालक को योग्य गुरू की शिक्षा, संग तथा उचित वातावरण एवं प्रोत्साहन नहीं मिलता तो उसका संस्कार एवं प्रतिभा धूमित तथा बुद्धि व विवेक कुंठित हो जाता है। इतना ही नहीं पूर्व संस्कार न रहने पर भी उत्तम शिक्षा एवं सत्संग से मानव में अच्छे गुणों एवं सद्बुद्धि विवेक का संचार होकर वह सतपथ पर अग्रसरित होने लगता है। यही संस्कार, सदगुण एवं प्रतिभा के रूप में उम्र के साथ विकसित होती जाती है। यहीं पर यह मनोविज्ञान के कार्यक्षेत्र को आमंत्रित करता है कि मनोविज्ञानी मूल्यांकन के द्वारा जांच की जानी चाहिए कि व्यक्ति का रूझान किस ओर है और बुद्धि विवेक के सही प्रयोग एवं लगन मेहनत के सही सामंजस्य से होकर वह उस विषय के पठन-पाठन साधना चिंतन में कितनी उंचाई तक जाने की संभावना रखता है।

भारतीय संगीत, जो सृष्टि के समय से ही सजीव गतिविधियों का अंग है, हमारे देश के सामाजिक, सांस्कृति तथा आध्यात्मिक जीवन का अभिन्न अंग है। भारतीय संगीत योग विधा है। जिसे विद्वानों ने नाद ब्रह्म कहकर परमेश्वर का रूप माना है। जिस प्रकार ज्ञान का संचरण बुद्धि से बुद्धि की ओर होता है उसी प्रकार संगीत में भी ज्ञान का संचरण, शिक्षण के द्वारा गुरू से शिष्य की ओर होता आ रहा है इसीलिए इसे गुरूमुखी विद्या भी कहा जाता है।

संगीत को कला के रूप में मान्यता प्राप्त है और पंच ललितकलाओं में सर्वश्रेष्ठ स्थानासीन मानने की भी प्रथा प्रचलित है, क्योंकि संगीत का मूलाधार नाद-ब्रह्म है जो अत्यंत सूक्ष्म है। शास्त्र की बात

* पूर्व विभागाध्यक्ष, संगीत एवं प्रदर्शनकला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

Scanned with OKEN Scanner

कौन कहे, संगीत का शास्त्रीय एवं प्रयोगात्मक पक्ष भी यह सिद्ध करता है कि संगीत शब्द से रहित होकर भी भावाभिव्यक्ति में सफल होता है।

यह भी सत्य है कि संगीत का संबंध मानव मन-मस्तिष्क से है। अस्तु यह मनोविज्ञान से भी सीधे संबंधित माना जाता है। क्योंकि समाज की इकाई मानव के अंदर निहित प्रतिभा, यदि रूचि लगन और परिश्रम के साथ अनुकूल वातावरण में उचित मार्गदर्शन प्राप्त करती है तो वही निहित शक्तियां मनुष्य की विशिष्ट प्रतिभा के रूप में विकसित होती है और तब उस मनुष्य की पुष्पित, पल्लवित मानसिकता के द्वारा ही समाज एवं देश प्रगति कर सकता है। क्योंकि संगीत का संबंध ज्ञान से है और प्रारंभ से ही ज्ञानार्जन मानव मन की प्राथमिकता रही है। प्राचीनकाल से ही मनुष्य ज्ञानार्जन की ओर उन्मुख हुआ है जो मानसिक विकास के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। वास्तव में मानव के विकास के इतिहास में शिक्षण एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। मानव ने अपने और दूसरे प्राणियों के बीच यही अंतर भी स्थापित किया है कि अन्य प्राणियों का सीखना स्वतः चलता रहता है, जबकि मनुष्य को सीखने के लिए शिक्षण की आवश्यकता होती है। सीखने का यह क्रम मानव जीवन में बाल्यकाल से ही प्रथमतः अपने परिवार में ही मां की गोद से प्रारंभ होता है। बाद में पिता, परिवार-समाज के अन्य लोग तथा अन्ततः गुरूजनों के कुशल निर्देशन मे विधिवत शिक्षण प्रारंभ होती है। विधिवत् शिक्षण के अंतर्गत गुरूजनों की भूमिका तथा विद्यालयों की आवश्यकता भी कालांतर की देन है। चूंकि संगीत एक कला है जिसका सीधा संबंध मन-मस्तिष्क से है तथा मनोविज्ञान मानसिक क्रियाओं का अध्ययन करता है। अतः मनोविज्ञान एवं कला का आपसी संबंध सीधे ही स्थापित हो जाता है। हृदय ही कला का उद्गम स्थल है और मनोविज्ञान हृदय एवं मन का अध्ययन करता है। यह मनुष्य की अन्तर्निहित भावनाओं एवं व्यवहार के परिप्रेक्ष्य में मानसिक क्रियाओं का अध्ययन करता है। कला भी मन की आंतरिक भावनाओं का उद्गार होने के कारण मनुष्य की मनःस्थिति एवं मस्तिष्क से संबंधित है। कला के संदर्भ में मनोविज्ञान में ऐसी मान्यता है कि प्रतीक विधान के द्वारा सृजनता का आविर्भाव होता है तथा कलाकार या सृजनशील व्यक्ति अपने चेतन और अचेतन मन तथा विषय प्रधान चित्त में एक सामंजस्य स्थापित करता है। यही सामंजस्य कला के रूप में मुखरित होता है एवं उस मनःस्थिति को प्रदर्शित करता है। साथ ही यह निश्चत रूप से मन एवं मस्तिष्क से संबंध रखता है। मनुष्य के मन की यह उड़ान है कल्पना, जिसने कला की उत्पति को सीधे प्रभावित किया है।

मनोविज्ञान में निहित तथ्यों के अनुसार मन के तीन खंड हैं :-

(क) चेतन मन

(ख) व्यक्तिगत अचेतन मन तथा

(ग) सामूहिक अचेतन मन

कला की उत्पति के संबंध में यह सर्वमान्य तथ्य है कि कला जिस प्रकार मन-मस्तिष्क से संबंधित है उसका आधार प्रतीक है, जो अचेतन मन की दोनों अवस्थाओं, व्यक्तिगत अचेतन मन और सामूहिक अचेतन मन से है।

ललित कला के प्रमुख तत्वों में रचना की दृष्टि से कल्पना का सर्वोपरि स्थान है। कल्पना का सीधा संबंध मानव के मन-मस्तिष्क से है अतएव मनोविज्ञान और कला का भी अत्यंत निकट का संबंध स्थापित जान पड़ता है। क्योंकि कल्पना ही वह तत्व है जिससे कलाकार को नूतन सृजन और अभिनव रूप व्यापार-विधान की शक्ति प्राप्त होती है। वस्तुतः कल्पना कलाकार की सृजन शक्ति है, जिसे विद्वानों ने दो अर्थो में स्वीकार किया है-एक अर्थ में कल्पना वस्तु सन्निकर्ष के सामानय प्रभावों से निर्मित बिम्बों को संग्रहित कर उन्हें सहस्त्रों प्रकार के संयोजन प्रदान करती है।

जहां तक भारतीय संगीत का प्रश्न है, संगीत अपने आप में सृजन प्रक्रिया का द्योतक है। संगीत में प्रदर्शन हो या शिक्षण, सृजनशीलता हमेशा विद्यमान रहती है। मनुष्य जब से ही संगीत के संपर्क में आता है और शिक्षा दीक्षा प्रारंभ करता है, सृजनात्मक प्रक्रिया आरंभ हो जाती है। शिक्षण के क्रम में चाहे शिक्षक हो या विद्यार्थी अथवा प्रदर्शन के क्रम में चाहे कलाकार हो या श्रोता, दोनों ही स्थितियों में सृजनशील होना परमावश्यक है। क्योंकि कलाकार

और श्रोता तथा शिक्षक एवं विद्यार्थी दोनों ही इस सृजन की प्रक्रिया में बराबर के भागीदार होते हैं।

जहां तक संगीत में शिक्षा का संबंध है, वैसे तो प्रारंभ से ही गुरू शिष्य परंपरा, संप्रदाय, घरानों के संदर्भ में अत्यंत सुदृढ़ एवं समृद्धशाली परंपरा संगीत में रही है तथापि शैक्षणिक संस्थागत शिक्षण एवं परंपरागत शिक्षण दोनों ही व्यवस्थाओं में मनोवैज्ञानिक संदर्भ अत्यंत महत्वपूर्ण साबित होते हैं और हो सकते हैं क्योंकि शिक्षा हमारे ग्रंथों में वर्णित विधाओं में से एक महत्वपूर्ण अंग है।

वस्तुतः शिक्षा मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति का अन्यतम साधन है, उसके व्यक्तित्व के पूर्ण विकास का सोपन है। शिक्षा वह ज्ञान है, जो मनुष्य के आंतरिक गुणों को जगमगा देता है, जिसके प्रकाश में वह स्वयं अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है और समाज को भी लाभ पहुंचाता है। आधुनिक संदर्भो में शिक्षा को भी मनोविज्ञान के साथ जोड़कर शिक्षा-मनोविज्ञान नाम से एक शाखा का अध्ययन किया जा रहा है क्योंकि संगीत विषय में परंपरागत शिक्षण के अनुसरण एवं तदनुसार क्रियान्वयन की व्यवहारिकता पर जब गंभीरता पूर्वक विचार किया जाता है तो यह पाया जाता है कि मूल में जो शिक्षा अन्तर्निहित है और जिन सिद्धान्तों पर यह आधारित है, उन शिक्षा सिद्धांतों के द्वारा हम शिक्षा के उद्देश्य और उसके विषय विस्तार का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रक्रिया में मनोविज्ञान उस उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायता प्रदान करता है। यह मनोविज्ञान ही है जो हमें बताता है कि विषय के प्रति चिन्तन करने एवं सोचने की सर्वश्रेष्ठ विधि कौन सी है इसलिए हम यह कह सकते हैं कि शिक्षा से जुड़ा मनोविज्ञान शिक्षण विधि को निःसंदेह एक नवीन दृष्टिकोण प्रदान करता है।

भारतीय संगीत शिक्षण के संदर्भ में हम इतिहास पर दृष्टिपात करें तो यह पाते हैं कि भारतीय संगीत गुरूकुल पद्धति के द्वारा विकसित पल्लवित और समृद्ध हुआ है, क्योंकि प्राचीनकाल मे गुरूकुल पद्धति द्वारा ही शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था थी, जिसमें बाल्यकाल से ही एक निश्चित अवधि तक शिष्य को अपने गुरू के संरक्षण में ही रहकर शिक्षा ग्रहण करना होता था। संगीत के संदर्भ में भी यही प्रथा रही है, जिसमें निश्चित काल तक गुरू अपने शिष्यों को संगीत की शिक्षा देते थे और शिष्यगण अपनी साधना, लगन, परिश्रम एवं गुरूभक्ति के द्वारा बताये गए सिद्धांतों का सतत् अभ्यास करते थे। अपने दीर्घकाल की शिक्षण अवधि में समय-समय पर गुरू शिष्यों की परीक्षा भी लिया करते थे। इतना ही नहीं शिक्षण प्रारंभ करने के पूर्व भी विषयगत अभिरूचि की परीक्षा ली जाती थी।

आगे चलकर गुरूकुल पद्धति से परंपरा, वाणी, घरानों इत्यादि का प्रादुर्भाव हुआ। इन्हीं घराना पद्धति की सीमाओं और मनमौजीपन तथा अनेक सामाजिक, राजनैतिक कारणों ने संगीत की संस्थागत शिक्षण-पद्धति को विकसित होने का अवसर प्रदान किया। आधुनिक युग की परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुरूप संगीत शिक्षा में भी एक ऐसी सुसंगठित और सुव्यवस्थित पद्धति की जरूरत महसूस हुई, जो गुरूकुल और घराने की विशेषताओं पर आधारित हो।

स्वातंत्र्योत्तर काल में संगीत का काफी प्रचार-प्रसार हुआ है। घरानों और परंपराओं के बंधन से मुक्त होती हुई भारतीय संगीत शैक्षणिक संस्थानों के माध्यम से जन-जन के बीच पहुंचने लगी। इसके साथ ही इस सार्वभौम तथ्य का भी समुचित ध्यान रहा है कि संगीत का मूल प्रयोजन आनन्दानुभूति है और इसे संगीत की ऐसी शिक्षा देकर प्राप्त किया जा सकता है, जिससे छात्र को उसकी सांगीतिक प्रतिभा, क्षमता और योग्यता तथा संवेदनशीलता को विकसित करने का अवसर मिल सके और इस प्रकार वे संगीत को श्रवण के द्वारा अथवा गा-बजाकर आनन्दानुभूति करने के योग्य बन सकें।

भारतीय संगीत शिक्षण के मनोवैज्ञानिक परिदृश्य में जब आधुनिक समय की संस्थागत शिक्षण व्यवस्था पर दृष्टिपात करते हैं तो इसके चार मुख्य अंग सामने आते हैं -

(1) विद्यार्थी
(2) अध्यापक
(3) शिक्षण पद्धति एवं
(4) मूल्यांकन

इन चारों में उचित समन्वय के द्वारा ही वांछित व स्तरीय फल प्राप्त किया जा सकता है। विद्यार्थी

Scanned with OKEN Scanner

में संगीत सीखने की क्षमता और अध्यापक में शिक्षा देने की योग्यता होनी चाहिए। इतना ही नहीं शिक्षा देने की पद्धति सही और उचित होनी चाहिए तथा विद्यार्थी का मूल्यांकन भी सही ढंग से होना चाहिए।

वस्तुतः संगीत के संदर्भो में तो यह निर्विवाद सत्य है कि संगीत सीखना प्रारंभ करने के पूर्व ही परीक्षणों के द्वारा यह जांच हो जाना चाहिए कि संगीत के प्रति विद्यार्थी में संवेदनशीलता किस सीमा तक विद्यमान है। इसके लिए परीक्षण की मदद ली जाती है और ली जा भी सकती है। परीक्षणों के विविध रूपों का विद्वानों ने काफी उल्लेख किया है और इस संबंध में प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक कार्ल.ई. सीशोर का नाम विशेष उल्लेखनीय है, जिन्होंने संगीत संबंधी योग्यता की जांच के लिए जांच परीक्षणों का निर्माण किया। इन परीक्षणों का मुख्य आधार विद्यार्थी की प्रतिभा एवं व्यक्तित्व की जांच करनी है। क्योंकि मानसिक योग्यता और मानसिक स्तर के परिप्रेक्ष्य में प्रतिभा एवं व्यक्तित्व ही दो प्रमुख अंग है जो मनुष्य को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में समस्त क्रियाकलापों में श्रेष्ठता प्रदान करते हैं क्योंकि गुणात्मक श्रेष्ठता के सिद्धान्तों के आधार पर ही प्रतिभाषाली मनुष्य को सामान्य से पृथक माना जाता है। संस्कृत वांगमय में प्रतिभा या शक्ति को व्युत्पत्ति एवं अभ्यास के साथ मिलकर सक्रिय काव्य के लिए व्यक्त किया गया है।

प्रतिभा हृदय और मस्तिष्क का वह संयुक्त तथा विशिष्ट संस्कार मूलक रूपांतर है जो व्युत्पति एवं अभ्यास से पोषित होता हुआ प्रज्ञारूप में गतिमान, व्यापारमान तथा आवेशयुक्त होता है। यह प्रज्ञारूप व्यक्तित्व की असाधारणता, प्रेरणा तथा कल्पना की अतिशयता तथा निपुणता एवं अनुसंधान की नवीनता के प्रकाशन व स्फुरण को आयन्त करता है।

संगीत विषय में तो प्रतिभा को मुख्य रूप से ईश्वर की देन कहकर संबोधित किया जाता है। प्रतिभा एक सीमा तक तो जन्मजात होती है और कुछ सीमा तक यह वातावरण के द्वारा विकसित भी की जा सकती है। वैसे दोनों ही स्थितियां एक उचित अनुपात में किसी को मिलें तो विषयगत विकास तेजी से होता है। योग्य एवं विद्वान गुरू लगन परिश्रम, अनुकूल परिस्थिति इत्यादि भी कुछ ऐसी बातें हैं। जो प्रतिभा के विकास में सहायक सिद्ध होती है। प्रतिभा, बुद्धिमता, ज्ञान, व्यवहार इन सब चीजों से मिलकर मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण होता है। प्रतिभा एवं व्यक्तित्व दोनों ही मिलकर किसी व्यक्ति के प्रभावोत्पादक चरित्र का निर्माण करते हैं।

संगीत ऐसे विषय में बाल्यकाल से ही विद्यार्थी को संगीत शिक्षण के प्रति उन्मुख करना चाहिए। इसके लिए नैसर्गिक प्रतिमा को ही देखा जा सकता है। तथापि आगे के स्तर पर सांगीतिक जांच परीक्षण के कुछ प्रमुख तत्वों के सहारे इस दिशा में आगे कार्य किया जा सकता है। जिनमें प्रमुख हैं -

1. लिखित परीक्षा
2. प्रायोगिक परीक्षा
3. मौखिक परीक्षा
4. प्रश्नावली द्वारा परीक्षा
5. रिकार्ड द्वारा परीक्षा

इतना ही नहीं विद्यार्थी को संगीत की एक या एक से अधिक विद्या में उसके प्रदर्शन एवं योग्यता के आधार पर भी जांच की जा सकती है। जिसके लिए निम्न प्रकार से जांच किया जाना श्रेयस्कर होगा -

1. नाद-श्रुति-स्वर ज्ञान पर आधारित
2. राग ज्ञान तथा
3. लय एवं ताल ज्ञान।

जिसके अन्तर्गत नाद-श्रुति-स्वर ज्ञान में सर्वप्रथम शुद्ध स्वरोच्चारण, स्वर में फिर आकार में करवा पूछा जाये। तत्पश्चात् विकृत (कोमल एवं तीव्र स्वरों से संबंधित पहचान। राग ज्ञान के अंतर्गत वैसे विद्यार्थियों की जांच की जा सकती है, जिन्हें संगीत का प्रारंभिक ज्ञान है। तथापि दस थाट तथा इनसे उत्पन्न प्रारंभिक रागों के बारे में पूछा जा सकता है।

जबकि लय-ताल-ज्ञान के अंतर्गत सर्वप्रथम ताल की स्थिरता की जांच ठाह-दुगुन-चौगुन के क्रम में की जा सकती है। फिर सम-विषम मात्राओं के छंद में पहले मात्रा, फिर बोलों के माध्यम से प्रदर्शन करने की क्षमता की जांच की जानी चाहिए।

इन विविध प्रकार के जांच से स्वर एवं ताल दोनों के प्रति विद्यार्थी की संवेगात्मक सूझ-बूझ की जांच की जा सकती है। शुद्ध, तीव्र तथा कोमल स्वरों के साथ-साथ विभिन्न छंदों में निबद्ध स्वरावली

Scanned with OKEN Scanner

से लय-छंद के प्रति मनःस्थिति का भी आभास लग सकता है।

भारतीय संगीत शिक्षण के विविध रूपों चाहे गुरू-शिष्य परंपरा हो या संस्थागत शिक्षण पद्धति, में मनोविज्ञान का महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें परीक्षण, प्रतिभा, व्यक्तित्व के साथ बुद्धि एवं बुद्धिमता तथा स्मृति का भी महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। लगन के साथ परिश्रम एवं नियमित अभ्यास (रियाज) से स्मृति को स्थायित्व प्राप्त होती है। क्योंकि संगीत में स्मृति का भी अनन्य महत्व है। विशेषकर बंदिशों की तालीम एवं उन्हें सतत् अभ्यास से लंबे समय तक स्मृति में रखने के संदर्भ में।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय संगीत के संदर्भ में मनोविज्ञान और मनोविज्ञान के कई पहलू महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। ये न केवल संगीत की शिक्षा प्रणाली को सुदृढ़ता प्रदान करते हैं बल्कि उन्हें स्तरीयता प्रदान करने की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान भी करते हैं।

Scanned with OKEN Scanner

संगीत और मनोविज्ञान

नूतन कुमारी*

संगीत वह ललितकला है, जिसमें संगीतज्ञ अपने मनोगत भावों एवं कल्पनाओं को स्वर, लय तथा ताल की सहायता से व्यक्त करता है। किन्तु मनोविज्ञान वह विज्ञान है, जो मन की चेतन और अचेतन क्रियाओं का निरीक्षण करके अपरोक्ष अनुभूति द्वारा मनुष्य की वाह्य क्रियाओं का अध्ययन करता है। मनोविज्ञान की सहायता से संगीत का रसास्वादन करते है। संगीत एक प्रदर्शन कला है तो मनोविज्ञान एक श्रव्य कला है।

मनुष्य अपनी अंतर्भावनाओं को सुख-दुख के माध्यमों से व्यक्त करते आया है। दुख में रोना, चिल्लाना और सुख में हर्षोल्लास करना। कालांतर में संगीत मानव जीवन के हर पहलू को प्रभावित करती है, चाहे हर्ष हो या विषाद, रंग महल हो या लड़ाई का मैदान, वैवाहिक कार्य या धार्मिक संस्कार, रियाज प्रशिक्षण हो या प्रदर्शन। समाज के प्रत्येक कार्य में संगीत की महत्ता है। इनकी महत्ता निम्न रूपों में उल्लेखनीय है-

(1) दार्शनिक (2) मनोवैज्ञानिक (3) सामाजिक (4) शैक्षणिक तथा (5) अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध।

जीवन दर्शन में जो कुछ सोचते-विचारते है वहीं स्वर और लय के माध्यम से प्रकट होता है।

मनोविज्ञान व्यक्ति के अनुभवों या विचारों को व्यक्त करने के लिये व्यवहार का अध्ययन एवं निरीक्षण करता है। भावों को प्रकट करने हेतु व्यवहार के पहलुओं को हम तीन भागों में बांट सकते है-

(1) ज्ञानात्मक पहलू, (2) क्रियात्मक पहलू और (3) भावात्मक पहलू

ये तीनों पहलू एक दूसरे से जुड़े हुये हैं। प्रत्येक मनुष्य के मन में कुछ न कुछ भाव अवश्य होते हैं। उनमें कुछ जन्म लेते है, कुछ व्यक्त होते हैं और कुछ भावों को व्यक्त करने में क्रियात्मक कलाओं का सहारा लेते हैं। कला में जब व्यक्ति अपने भावों या विचारों की अभिव्यक्ति संगीत के माध्यम से करते हैं तो श्रोता स्वयं आनंदित हो उठता है।

यदि संगीत से शांति, आनंद, सुख तथा संतोष की प्रेरणा मिलती है तो मनोविज्ञान से संगीत के प्रति बालक या व्यक्ति की रूचि, रूझान एवं व्यक्त करने प्रवृति का ज्ञान प्राप्त होता है। संगीत में मनोवैज्ञानिक कारक कल्पना, स्मृति, चिंतन, ध्यान आदि मन से सम्बंधित मानसिक प्रक्रिया है।

विद्वानों के अनुसार-

"Psychology is the Science of mind, Science of consciousness, Science of behavior, and Science of human nature".

वाटसन के अनुसार-

"मनोविज्ञान व्यवहार का शुद्ध विज्ञान है।"

संगीत अपने आप में सृजन प्रक्रिया का द्योतक है। शिक्षण के क्रम चाहे शिक्षक हो या विद्यार्थी, प्रदर्शन के समय में चाहे कलाकार हो या श्रोता, दोनों के लिये आनंद का सृजन होता है। शिक्षा के द्वारा व्यक्ति या बालकों के अंदर व्यवहारिक परिवर्तन लाये जाते हैं। मनोविज्ञान का सम्बन्ध इन्हीं व्यवहारिक परिवत्तनों से है। इनकी महत्ता को निम्न प्रकार से वर्णित किया जा सकता है-

(1) मनोविज्ञान शिक्षा के उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक होता है तथा शिक्षण प्रक्रिया बताता है।

* शोध छात्र, ति॰ मा॰ भा॰ वि॰ वि॰, भागलपुर

Scanned with OKEN Scanner

(2) मनोविज्ञान शिक्षण विधि को उन्नत बनाकर नवीनता प्रदान करता है।

(3) मनोविज्ञान के द्वारा अनुशासन की भावना का विकास होता है।

(4) मनोविज्ञान शिक्षण में विद्यार्थियों की अभिरूचि जगाता है तथा योग्यता का मापदण्ड कराता है।

इस प्रकार मनोविज्ञान शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं से अवगत कराता है तथा उसके निदान की प्रक्रिया बताता है। संगीत सम्बन्धी शिक्षा-दीक्षा एवं प्रदर्शन में मनोविज्ञान के आधार पर अध्ययन एवं अनुशीलन आवश्यक एवं उपयोगी है। इससे मानसिक, योग्यता, बुद्धिमत्ता, प्रतिभा एवं व्यक्तित्व का विश्लेषण होता है।

निष्कर्षतः संगीत तथा मानसिक प्रक्रिया एक दूसरे पर आश्रित है। संगीत में मनोविज्ञान का संतुलन आवश्यक है। इसलिए संगीत मनोविज्ञान से सम्बन्धित है। इस परिप्रेक्ष्य में द्रष्टव्य है -

"Behavior of the human organism, as a whole in response to music, is what brings in the psychology of music."

Scanned with OKEN Scanner

मनस - तत्व और संगीत

डॉ. अश्विनी कुमार सिंह*

दार्शनिक ने मन को अंतःकरण कहा है। दस ब्रह्येन्द्रियों में पांच ज्ञानेन्द्रियाँ-चक्षु (आंख), श्रोत्र (कान), घ्राण (नाक), रसना (जीभ) और त्वक (चमड़ा) तथा पांच कर्मेन्द्रियाँ - वाक, पाणि, पाद, वायु और उपस्थ के साथ ही मन को अन्तरिन्द्रिय स्वीकार कर कहा है कि बिना मन के अन्य दस ब्राह्येन्द्रियाँ अपना काम नहीं कर पाती और इस इन्द्रिय का प्रत्यक्ष भी नहीं होता फिर भी हम मन इन्द्रिय की सत्ता को सुख - दुःख के अनुभवों द्वारा अनुमान से समझते हैं। दार्शनिक सांख्य तथा नैयायिकों के अनुसार जिस इन्द्रिय में संकल्प, विकल्पात्मक वृत्ति होती है उसे अतःकरण या मन कहते हैं। जैसे -

संकल्पविकल्पात्मकवृत्तिमत अन्तःकरणं मनः

श्रुतियों के अनुसार इच्छा, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, बुद्धि और भय इन्हें मन ही माना गया है। मनुष्य मन से ही ज्ञान प्राप्त करता है। ऋग्वेद में कहीं-कहीं मन के स्वभाव के विषय में उल्लेख मिलता है। यथा -

महिम्न एषां पितरश्चनेशिरे देवा देवेश्वदधुरपि क्रसुम्।
समविंयचरूत यान्यत्विपूरेषां तनूषु निविविशुः पुनः॥4॥[1]
द्विध सूनवोसुरे स्वर्विद्मास्थापियन्त तृतीयेन कर्मणा।
स्वां प्रजां पितरः पित्र्यं सह आवरेष्वद धस्तन्तु माततम्॥6॥

उपर्युक्त स्तोत्रों में मन के स्वभाव के विषय में तथा स्वयं के विषय में स्पष्ट रूप से व्याख्या की गई है। यहां बताया गया है कि मन के सुरक्षित रहने पर सन्तति और सम्पत्ति का लाभ मानव को मिल सकता है। यह भी तभी संभव होता है जब मानव-शरीर में प्राण हो। मन के कारण ही मनुष्य को मनुष्य संज्ञा वैदिक ऋषियों ने दी है। प्रार्थना, मंत्र तथा तंत्र में विश्वास रखनेवाले लोगों को मन की शक्ति से ही लाभ मिलता है क्योंकि मन की शक्ति ही इनका प्रभाव है। मन ही ज्योतिष का प्रकाश है। मन से ही मानव विश्व का साक्षात्कार करता है। ज्ञान, चिन्तन और धैर्य मन के ही व्यापार है। शुभ-संकल्प (मन) वाला मनुष्य शुभ कर्म करता है और अशुभ-संकल्प वाला अशुभ मन अत्युच्य शक्ति सम्पन्न है जिसे शिव-संकल्पित (कल्याणकारी संकल्प) करना समस्त मानव का ध्येय होना चाहिए। छांदोग्य उपनिषद् में मन को अन्नमय माना गया है। मानव द्वारा ग्रहण किए गए अन्न के घने भाग से विष्ठा, मध्य घने भाग से मांस तथा सूक्ष्म भाग[2] से मन बनता है। विविध प्रकार के मनोधर्म विविध अन्न सेवन से उत्पन्न होते हैं। दर्शन और स्मरण मन के स्फुरण हैं। वैदिक ऋषियों ने मन और हृदय में भेद बताया है। विचार, तर्क और विवेचना का मूल स्रोत मन है। भावना अन्तःप्रेरणा तथा नैसर्गिक प्रवृत्ति हृदय से उद्भूत होते हैं। इन भावनाओं को मोड़ने तथा दृढ़ करने का काम मन को करना पड़ता है। मनुष्य का काम ऐसे मन पर विजय प्राप्त करना है। विभिन्न भारतीय दार्शनिकों ने मन की विवेचना इस प्रकार की है। चार्वाक दर्शन मन को एक पदार्थ मानते हैं। न्याय मन को आंतरिक इन्द्रिय मानता है। मन नित्य है, आत्मा और इन्द्रियाँ मन से संबंध बनाकर ज्ञान उत्पन्न करते हैं। शरीर से मन के निकल जाने पर शरीर की मृत्यु हो जाती है और दूसरे शरीर में प्रवेश कर जाता है। भट्ट मीमांसा मन को आत्मा के

* परफोर्मिंग आर्टस कॉलेज, एम.एस.युनिवर्सिटी, बड़ौदा

Scanned with OKEN Scanner

समान ही विभु मानता है। इनके मत से मन अन्तरिन्द्रिय और भौतिक दोनों है जो आत्मा और उसके गुणों को ग्रहण करती है। बाह्य इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त बाह्य वस्तुओं का ज्ञान मन और आत्मा दोनों के सहयोग से होता है। वेदांत में मन को अन्तःकरण कहा गया है। नानाविध उत्पन्न विषयों के साथ जब इन्द्रिय का संबंध होता है तो मन विषयों के गुण - दोषों का विचार करता है। मन के तीन गुण - सत्व, रजस् और तमस की वजह से मन में विकार होते हैं। इसका स्वभाव चंचल है तो भी बिना आत्मा में मन को स्थिर किये परमार्थ सिद्धि नहीं हो पाती। अतः मन को आत्मा के अधीन रखने की सलाह हमारे दार्शनिक देते हैं। आस्तिक दार्शनिकों ने मन पर आत्मा का नियंत्रण रखने के लिए दृढ़ अभ्यास की सलाह दी है क्योंकि अभ्यास से तृष्णा, मोह, लोभ, क्रोध जैसे क्लेश नष्ट होते हैं और मन शान्त हो जाता है। इस अवस्था में साधक को ब्रह्मानंद की प्राप्ति होती है क्योंकि मन की शांतावस्था में संस्कार सहित चित्त नष्ट हो जाता है और साधक ब्रह्मानंद में अवस्थित हो जाता है। जैसा कि गीता में भी कहा गया है कि विषयासक्त होने पर मन बंधन में पड़ जाता है और विषय रहित होने पर मन मुक्ति कारक हो जाता है। अद्वैत वेदांती योग-वशिष्ठ में सांसारिक कार्यों का कारण मानव मन के व्यापार बताते हैं। समस्त सांसारिक प्रपंच मन के द्वारा निर्मित है।

यथा -

चित्तं नाभिः किलात्थ मायाचक्रस्य सर्वत्र[3]

जिस तरह संकल्प, संकेत, इच्छा तथा निश्चय मन के व्यापार रूप मे निरंतर चलते रहते हैं उसी तरह संशय, विकल्प, विकल आदि भी चलते हैं। मन वह साधन है जो इष्ट को साध्य कराता है फिर भी इसका स्वरूप अनिर्वाच्य है। ऐसा इसलिए है क्योंकि मन के स्वरूप का निश्चय करनेवाला तत्व भी मन ही है। हमारे सूत्र "मनो वै ब्रह्म" बताते हैं कि मन ही सब कुछ है। अनुभूति पर समस्त सृष्टि टिकी है और इसके निर्माण के मूल में अनुभूति ही है।

अब प्रश्न है कि "मनो वै ब्रह्म" तथा नाद रूप ब्रह्म दोनों का क्या संबंध हो सकता है? संगीत रत्नाकर में गणितीय आधार पर नाद और मन को अभिन्न माना गया है। सर्वव्यापी रूप में नाद एक है लेकिन विश्वव्यापी रूप में नाद अनेक रूपों में उद्‌भूत होता है। यही संगीत का आधार भी है। यथा–

आत्मा विवक्षमाणोऽयं मनः प्रेरयते मनः।
देहस्थं वह्निमाहन्ति स प्रेरयति मारूतम्।।[4]

मन नाद के मूल में है। मन के अनुभूति की प्रतिक्रिया "नाद" है। सृष्टि रचना में पुरूष और प्रकृति का योग माना गया है। संगीत शास्त्रकार मन और नाद को उसी योग की तुलना से समझाते हैं। "मन" पुरूष-रूप है और "नाद" प्रकृति रूप। नाद किसको अभिव्यक्त करते हैं। मन की अनुभूतियों को आत्मसात कर नाद मनोहारी रूप धारण करके मधुर सांगीतिक अभिव्यक्ति करते हैं। मन के भावों की अभिव्यक्ति का मधुरतम माध्यम संगीत है। मन का संगीत में इस तरह महत्व बतलाया जा सकता है कि संगीत के मूल में नाद है। नाद के मूल में अनुभूति और अनुभूति के मूल में मन है।

संदर्भ

1. ऋग्वेद मं. 10/सू. 57/4-6
2. छांदोग्य उपनिषद् 6/5/1
3. योग वशिष्ठ - 5/40/40
4. संगीत रत्नाकर 1/3/3

Scanned with OKEN Scanner

संगीत के अंतर्गत लय एवं लयकारियों का सौन्दर्य तथा महत्व

डॉ. अमृता*

लय एक व्यवस्था है, जीवन का आधार है। वास्तव में अगर गहराई से विचार करें तो हम देखेंगे कि यह प्रकृति जो ईश्वर की अपूर्व देन है एक अखण्ड लय पर आधारित है। सम्पूर्ण ब्रम्हाण्ड लयात्मक है। क्योंकि मानव जीवन की संरचना एवं सम्पूर्ण सृष्टि का स्वरूप लय पर टिका हुआ है। लय अर्थात् एक निर्धारित गति जो इस सृष्टि में व्याप्त है, इसी से जीवन गतिशील है सांसों का आना-जाना, दिन से रात और रात से पुनः दिन का क्रम, बीज से पौधा, पौधे से वृक्ष, वृक्ष से फूल और फूल से फल का निर्माण इत्यादि प्रकृति की अदभुत लय को दर्शाता है। मनुष्य का जन्म बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था और फिर मृत्यु से जन्म को प्राप्त होना एक गति है - लय ही तो है।

लय अर्थात् गति का सीधा एवं मूर्त रूप हम संगीत में देख सकते हैं। संगीत में एक गति है, लय है, और इससे संबंधित हमारी सभी क्रियाएं लयात्मक है। संगीत निर्माण का आधार भी लयात्मक है अर्थात् नाद से श्रुति, श्रुति से स्वर, स्वर से सप्तक, सप्तक से थाट और थाट से राग का निर्माण एक क्रमानुसार हुआ तो संगीत की पूरी एक रागात्मक संरचना हमारे सामने मूर्त रूप से स्पष्ट हो जाती है।

संगीत के अंतर्गत लय दो क्रियाओं के बीच का समय या काल लय कहलाता है। संगीत के अंतर्गत गीत, वाद्य एवं नृत्य का संबंध लय से है। लय मुख्यतः तीन प्रकार की मानी गई है। विलंबित लय, मध्य लय, एवं द्रुत लय। किन्तु संगीत के बड़े बड़े कलाकारों द्वारा आवश्यकतानुसार इन तीन लयों के अतिरिक्त अन्य लयों का अविष्कार हुआ - अति विलंबित लय, दुगुन लय, तीगुन लय, चौगुन लय, अठगुण लय, आड़लय कुआड़ लय, बिआड़ लय इत्यादि। इस तरह लय से लयकारी का जन्म हुआ। संगीत के अंतर्गत एक निर्धारित लय पर उस लय के विभिन्न रूप अर्थात दर्जो को दिखाना लयकारी कहलाती है। लय एक आधार है, धुरी है जिस पर लयकारियां होती है।

लय को मापने का माध्यम संगीत के शास्त्रकारों एवं विद्वानों ने ताल को बनाया है। उन्होंने इसे 6 मात्रा, 8 मात्रा, 10, 12, 14,16,28, 32 आदि मात्राओं में गिनकर बांट दिया। फिर इसको विभिन्न विभागों में बांटकर अनेक प्रकार के तालों की रचना की है। इसी ताल के अंतर्गत स्वरों एवं शब्दों को स्थापित कर इसे अलंकृत किया जाता है। शास्त्रीय संगीत में लय और ताल एक सिक्के के दो पहलू हैं। गायकी में ताल के साथ लय का ध्यान रखना अत्यंत आवश्यक होता है। लय बंदिश के अनुसार रखी जाए तो गायकी में सुघड़ता और जीवंतता आ जाएगी। राग तथा काव्य के भावानुसार लय और ताल का चयन बंदिश की सुंदरता बढ़ा देता है। साथ ही गायकी के अंतर्गत निर्धारित लय और उसमें लयकारियों का समुचित नियोजन - संगीत को जीवंतता प्रदान करता है। राग गायन के अंतर्गत बंदिशों में लयात्मक तथा तालात्मक विद्वता चमत्कार उत्पन्न करती है। इस प्रकार की रागदारी लय की दृष्टि से उत्कृष्ट मानी जाती है।

* व्याख्याता (संगीत विभाग), जे. डी. वीमेन्स कॉलेज, पटना

Scanned with OKEN Scanner

हमारे भारतीय संगीत के अंतर्गत अनेक प्रकार की गायन शैलियां हैं। जैसे ख्याल (बड़ा ख्याल छोटा ख्याल), ध्रुपद, धमार, ठुमरी, टप्पा, तराना इत्यादि। इन गायन शैलियों में लयकारियों का प्रयोग भिन्न भिन्न रूपों में विभिन्न प्रकार से शैलियों के नियमानुसार प्रचुरता से की जाती है। संगीत की संपूर्ण जानकारी रखनेवाले सफल गायक या वादक जब कोई राग गाता या बजाता है तो गायकी के अंतर्गत विभिन्न प्रकार की लयकारियों का अदभूत प्रस्तुति करता है। यह प्रस्तुतीकरण शैलियों एवं रागों के नियम से होकर जब सामने आती है तो चित्ताकर्षक बन जाती है और श्राताओं को मुग्ध कर देती है।

इस तरह यद्यपि लय तो हर जगह व्याप्त है परंतु इसका साक्षात एवं साकार रूप हम जितना संगीत के माध्यम से देख सकते हैं अन्यत्र नहीं। संगीत के अंतर्गत लय को शास्त्रकारों ने एक व्यवस्थित रूप देकर इसे सजीव बना दिया है। क्योंकि किसी तरह की अव्यवस्था मानव मन को नहीं भाता और संगीत में इसी लय की व्यवस्था एवं तारतम्यता ने संगीत को इतना प्रभावशाली सशक्त, चिर स्थाई एवं आनंददायक बनाया है।

Scanned with OKEN Scanner

स्वर, लय और राग से उत्पन्न रस और भाव का सौंदर्य विश्लेषण

कुमारी कंचन*

रस मानव के अन्तःकरण की सम्पत्ति है तथा संगीत कला द्वारा हृदय को प्रसन्नता प्राप्त कराने का यंत्र स्रोत है। रस असुस्वाद रूप हैं, अखंड है तथा कला का प्राण तत्व है। यह चार अर्थों में प्रयुक्त हुआ है- पदार्थों का रस, आयुर्वेदीय रस, भक्ति रस और साहित्य रस। संचारी भाव तथा विभाव के माध्यम से स्थायी भाव के पक्वावस्था को रस कहते है। साहित्य में नौ रसों की प्रधानता है।

राग और रस का घनिष्ठ सम्बन्ध है। राग में रसोत्पत्ति करने वाले रस, भाव तथा लय से स्वर का अटूट सम्बन्ध है। राग यदि वृक्ष है, तो रस उसका बीज है और भाव तथा लय पत्ती और टहनियाँ हैं। रंजकता उसका फल है। इन तीनों से युक्त राग आनंद की वृद्धि कराता है। जिस प्रकार दाल के लिये नमक, हल्दी और पानी का महत्व है, उसी प्रकार संगीत में राग के लिये रस, भाव तथा लय स्वर का महत्व हैं। राग में रस निहित होता हैं। राग रस को उद्दीप्त करता हैं।

लय सम्पूर्ण जगत की क्रिया का आधार है तथा आनंद को अनुभव कराने का माध्यम है। मानव जीवन और सृष्टि का संचालन लय के द्वारा होता है। लय से स्वर में गति पैदा होती रहती है। स्वरों में अह्लादित करने, दुख के भाव प्रगट करने की सामर्थ्य होती हैं। राग का रूप ही स्वर व लय के माध्यम से प्रकट होता हैं। किसी भी राग को ताल में बद्ध करके गाने से सौंदर्य बढ़ता है। अतः लय का भी राग के रस से घनिष्ठ सम्बन्ध है। लय हमारे समस्त जीवन में व्याप्त है। लय भिन्न-भिन्न भावों को दर्शाने में भी सहायक होती है। जैसे- शांत भाव-मध्य लय वीर, क्रोध-द्रुत लय, विरह- विलंबित आदि। शांत, करूण, भक्ति और वात्सल्य मंद गति में भावों का संचार, श्रृंगार, हास्य और अद्भुत मध्य गति से भावों का संचार, वीर, रोद्र, वीभत्स और भयानक वीर गति से भावों का संचार कर सकते हैं। प्रत्येक भाव के संचारित रहने के लिये उसे सीमाबद्ध करना ही पड़ता है। इन भावनाओं को सीमित एवं समयबद्ध करने और इनमें विचित्रता उत्पन्न करने में विभिन्न प्रकार की तालों की रचना की गई, जिससे भाव अत्यन्त रंजक एवं आकर्षक रूप धारण कर लेते है और लय में उसे अपार आनंद की अनुभूति होती है।

भाव कला की सुंदरता बढाने वाला तत्व है। भाव आकृति की भाव-भंगिमा है, भाव की व्यंजना या गूढ़ भाव को मात्र अनुभव किया जा सकता हैं। भाव चाहे श्रृंगार के हो या करूणा के अथवा आनंद आश्चर्य के इनकी अभिव्यक्ति संगीत कला द्वारा संभव है। इस भावाभिव्यक्ति से संगीत में सौंदर्य वृद्धि होती है। संगीत में षडज-पंचम भाव है। यह सीमेट्री का प्राण है। इससे गायन में सौंदर्य निर्मित होता हैं। सौंदर्य बोध से रस की प्राप्ति होती हैं। रसों के प्रमुख आधार भाव ही है। इन भावों को स्थायी भावों की संज्ञा दी गई है। भरत ने 8 स्थायी भाव तथा उसके अनुरूप 8 रस बताये है। आज भी मुख्य रूप से रस 8 अथवा 9 ही माने जाते हैं। भावों का मूर्त रूप ही कलात्मक सौंदर्य है। मनोवैज्ञानिकों ने

* शोध छात्र, ति. मा. भा. वि. वि., भागलपुर

Scanned with OKEN Scanner

सुख-दुख की चेतना अनुभूति को भावों की संज्ञा दी है। मानव जीवन में सुख-दुख के भावों की निरंतर अनुभूति होती रहती हैं। मानव कभी सुख में अह्लादित तो कभी दुख से व्याकुल होता है। उसमें हमेशा कोई न कोई भाव उत्पन्न होते रहता है। मानव जब अधिक देर तक स्थिर रहते है तो स्थायी भाव का रूप धारण कर लेते हैं और यहीं भाव सक्रिय होने पर संवेग बन जाते है। जो अपने भावों को स्पष्ट रूप से व्यक्त करना चाहता हैं। संवेग भावना का उत्तेजित रूप है। जब हृदय में यह प्रेरणा आती है, तब रचनात्मक प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है। मनोविज्ञान के 14 संवेगों में से सात संवेग स्थायी भाव है, जो संगीत के रस से सम्बन्धित है। मनोविज्ञान की भाषा में जिन प्रबल भावों को संवेग कहा जाता है, वहाँ उन्हीं भावों को संगीत एवं साहित्य की भाषा में रस कहा जाता हैं। रस भी एक प्रकार का प्रबल भाव है, जो कलाकार द्वारा श्रोताओं में प्रकट किया जाता है। विशन स्वरूप के शब्दों में-

"Of all the fine arts music is the most efficacious in generating the desired emotions."

संगीत द्वारा कलाकार अपने 14 संवेगों को 9 रसों में वर्णित करके श्रोता के सामने प्रस्तुत करता है, जो रस की अवस्था में आने पर श्रोता आनंदानुभूति या रस की प्राप्ति करती है। रस का मूल श्रोत भाव है और यह भाव संगीत का प्राण तत्व है। अतः संगीत में रस सृष्टि होना स्वतः सिद्ध है।

निष्कर्षतः संगीत रस का वह निर्झर है, जिसके रसमय जल कणों में भींग कर प्राणी आत्मविभोर हो उठता है। अतः कह सकते है कि रस या भाव संगीत का प्राण है।

Scanned with OKEN Scanner

''संगीत वाद्य एवं रस'' : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

डॉ. (श्रीमती) रेनू वर्मा*

मनुष्य एक भावनाशील प्राणी है जो भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से अन्य प्राणियों की अपेक्षा सम्पन्न है। युग-युगान्तर से अन्य प्राणियों के साथ उनके रागात्मक सम्बन्ध रहे हैं। अनेक प्रकार की उपयोगिताओं, अनुपयोगिताओं, निर्लिप्तताओं के आधार पर निरन्तर परिवर्तनशील भावनाएँ उसके हृदय में जन्म लेती रही। वह मानव प्रेम, घृणा, क्रोध, करूणा,(द्वेष,ईर्ष्या आदि भावनाएँ महसूस करता रहा और अपनी शक्ति सामर्थ्य के अनुसार अभिव्यक्ति भी करता गया। उसके अवचेतन-चेतन मन में अपने चतुर्दिक वातावरण जन्य जाने-अनजाने अनेक चित्र उभरते रहे होंगे और उन्हें मूर्ति रूप देने का प्रयास भी तभी से करता रहा होगा। मन में अंकित इन भावनाओं की विविध रूपा अभिव्यक्ति का नाम ही 'कला' है।

भारतीय शास्त्र ग्रन्थों में संगीत के सन्दर्भ में रस के विषय में संकेत मिलते हैं। संगीत की व्यवहारिक साधना में 'रस' सबसे अधिक महत्वपूर्ण है और कला का प्राण भी। इस कारण 'रस' पक्ष आदि काल से ही संगीतज्ञों तथा संगीत शास्त्रियों को समानरूपेण उद्वेलित करता रहा है। भरत का नाट्य शास्त्र रस-सिद्वान्त का प्रवर्तत ग्रन्थ है। भरत के अनुसार प्रत्येक ललित कला का उद्देश्य रसानुभूति है तो फिर रस क्या है? इसका उत्तर भरत इस प्रकार देते हैं:

''यथाहि नाना व्यज्जनौषधिद्रव्य संयोगाद्रसनिष्यविः अर्थात जिस प्रकार नाना व्यंजनों एवं औषधि आदि के संयोग से रसादि की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार नाना भावों के संयोग से रसनिष्पति होती है। वस्तुतः रस मनुष्य जाति के अन्तः करण में वास करने वाली विशिष्ट भावनाओं का परमोत्कर्ष है। उस भावनाओं की पराकाष्ठा को ही शास्त्रों ने रस कहा है। जब मन की तटस्थता निराकृत होकर जहाँ नाट्य, गान, वाद्य तथा नृत्य आदि से सम्पूर्ण तादात्मय स्थापित करती है, वही रसावस्था है। तात्पर्य यह है कि किसी भी भावना का आस्वाद लेना। क्योकि हर व्यक्ति की अपनी-अपनी भावनाएँ होती है अतः भावनाओं की विविधता होती है। यह अन्तर स्वाभाविक है। मन में उत्पन्न होने वाली भावना रूपी जागृति का अनुभव होना ही रसास्वादन है।

रस निष्पत्ति का प्रथम सोपान स्थायी भाव है। रसिक हृदय में सुप्त स्थायी भाव, अनुभव और संचारी भावों के संयोग से तद्नुकूल रस में परिणित हो जाते हैं, स्थायी भावों का तात्पर्य संस्कारों से है जिनका संचय दैंनदिन जीवन के घात-प्रतिघात अनुभवों से निरन्तर होता रहता है। ये स्थायी भाव नौ प्रकार के होते हैं- 1. रति (प्रेम) 2. हर्ष 3. शोक 4. क्रोध 5. उत्साह 6. भय 7. जुगुप्सा 8. विस्मय 9. निवेग (शान्त)। अनुकूल वातावरण पाकर यही संस्कार उद्बुद्व हो जाते हैं तथा भावों की क्रिया-प्रतिक्रिया के कारण एक विशिष्ट रस रूप में परिणित हो जाते हैं।

जिस प्रकार वाणी के विभिन्न उच्चारणों से विशिष्ट भाव प्रकट होते हैं अर्थात अधिक जोर से

*वरिष्ठ प्रवक्ता, संगीत-सितार वादन, श्रीमती बी.डी. जैन कन्या, महाविद्यालय, आगरा

बोलने, अट्टहास से चचंलता, मन्द वाणी में दैन्य, माधुर्य, शान्ति आदि गुण प्रकट होते हैं उसी प्रकार संगीत में भी विभिन्न स्वरों से विभिन्न भाव प्रकट होते है। भरत ने नाट्य के सन्दर्भ में संगीत तथा रस की चर्चा करते हुये स्वरों का अलग-अलग रसों में विभाजन किया। इनके बाद शारंगदेव ने भी रागों को रसों के अनुसार विभाजित करने का प्रयास किया लेकिन शारंगदेव के समय तक राग को प्रस्तुत करने का काफी कठोर नियम था। ठाकुर जयदेव सिंह ने कहा है- " So in art emotion is the food and the Artistic consiciousness is the toungue the resulting experience is rasa".

भातखण्डे जी ने राग, रस और समय के बारे में अपने विचार इस प्रकार प्रस्तुत किये हैं- " संन्धि प्रकाश रागों का प्रयोग करूण और शान्त रस तथा इनके अन्तर्गत रसों का परिपोषण होता है। तीव्र रे ध और ग वाले राग श्रृंगार, हास्य और इनके अन्तर्गत रसों के पोषक होते हैं और कोमल ग नि वाले राग वीर, रौद्र तथा भयानक रसों के पोषक होते हैं।

भरत की ललित कलाओं में संगीत, नृत्य, नाटक तथा कविता इन सबका आधार नव रस है। साहित्य और कला की भाषा में नव रस एक निचोण है और मनोविज्ञान में इसका तात्पर्य संवेग (Emotion) तथा भाव (Sentiments) से होता है, यह भाव ही नौ रस में परिणित होते हैं जैसे- श्रृंगार, हास्य, करूण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अदभुत, शान्त तथा कुछ लोग भक्ति रस भी मानते हैं। उसी प्रकार भिन्न-भिन्न वाद्यों की ध्वनियाँ श्रोताओं के मन में अलग-अलग प्रभाव डालती है। विभिन्न वाद्यों का प्रयोग अलग-अलग अवसरों पर होता रहा है। वाद्यों के प्रयोग की यह पद्धति न केवल आधुनिक काल की ही देन है बल्कि प्राचीन काल में भी ये पद्धतियाँ प्रयुक्त होती थी। शहनाई की ध्वनि मांगलिक कार्यो की सूचक हैं तो घंटा, घड़ियाल, शंख आदि की ध्वानियां पूजन, हवन आदि में ईश्वरोपासना से सम्बन्धित कार्यो का प्रतीक। नगाड़ा, तबला,दुन्दुमि, पटह, तूर्य, भेरी आदि युद्व की सूचक है। महाभारत काल में तो युद्व के वर्णनों से भरा पड़ा है युद्व वाद्यों के विस्तृत प्रयोग का सर्वोत्तम उदाहरण प्रस्तुत करता है। इसमें अनेक स्थानों पर तूर्य, भेरी, मृदंग, शंख आदि की तुमुल ध्वनियों के साथ सैनिक को युद्व के लिये प्रस्थान करते हुये वर्णन किया गया है। वाद्यों के प्रयोग द्वारा युद्व क्षेत्र में कायर के हृदय में भी वीरता का भाव जाग उठता है। वाद्यों के विविध प्रयोगों द्वारा जो दृष्टि भेद उत्पन्न हुआ वही वाद्यों द्वारा रसानुभूति अथवा भावाभिव्यक्तिकरण की पृष्ठभूमि बना। संगीत में रसाभिव्यक्ति के तत्वों में विभिन्न वाद्यों की विलम्बित लय, मध्य, द्रुत लय आदि, वाद्यों के विशिष्ट वर्ग, आदि का महत्वपूर्ण स्थान है, जिनमें संगीत में गम्भीरता अथवा चंचलता का आविर्भाव रस के रूप में किया जा सकता है। विभिन्न वाद्यों की ध्वनियों से उत्पन्न रसों का उल्लेख निम्न प्रकार हैं:-

श्रृंगार रस-

श्रृंगार रस में विचित्र तथा प्रेम सम्बन्धी भावनाओं का वर्णन होता है। प्रेमी- प्रेमिका के मिलन अवसर पर सितार पर झाला प्रस्तुत किया जाता है, इस रस में सितार, शहनाई, नाग स्वरमू, स्वर मंडल, सन्तूर, बांसुरी, तबला, ढोलक, जल तरंग, काष्ठतरंग का प्रयोग किया जा सकता है।

करूण रस-

करूण रस में दुःख भरी, अश्रुपूर्ण एवं अत्यन्त एकांकीपन का वर्णन, ईश्वर अथवा प्रेमी से मिलने की कामनाओं का वर्णन किया जाता है। इस रस में सारंगी,वायलिन, इस राज आदि शामिल हो सकते हैं। करूण रस की सृष्टि सारंगी पर मारवा राग बजाकर की जा सकती है।

हास्य रस-

हास्य रस में हंसी लाने वाली या उत्पन्न करने वाली स्थितियों के लिये मुख्य गायक तथा वादक के बीच एक स्वर समूह (एक टुकड़ा) एक साथ बजाना अथवा जुगलबन्दी का प्रदर्शन किया जाता है। इस रस में कुछ लोकवाद्यों को वर्गीकृत किया जा सकता है। जैसे- रावण हत्था, तारेपा, अपग, गोपी, एकतारा, घौंसा, मशक, नागफनी आदि।

Scanned with OKEN Scanner

रौद्र रस-

रौद्र रस में गुस्सा तथा उत्तेजना के क्षणों का प्रदर्शन होता है। इस रस की अभिव्यक्ति भारतीय ताल वाद्यों में द्रुत लय के द्वारा की जा सकती है। इस रस में बड़ा नगाड़ा, नौबत, नक्कारा आदि वाद्यों को शामिल किया जा सकता है।

वीर रस-

इस रस में पराक्रम, जीत तथा उत्तेजना को एक से एक शानदार तरीके से प्रस्तुत किया जाता है। रूद्र वीणा, विचित्र वीणा,सुरहार, पखावज तथा मृदंग इस रस की अभिव्यक्ति कर सकते हैं।

भयानक रस-

यह भय उत्पन्न करने वाला रस है। पं. रविशंकर के अनुसार "संगीत में इसका प्रदर्शन सम्भव नहीं है। सिम्फनी आर्केस्ट्रा थोड़ा बहुत भयानक रस उत्पन्न कर सकता है।" भारतीय वाद्य झांझ,बड़ा नक्कारा तथा पाश्चात्य वाद्य सिम्बल आदि इस रस की अभिव्यक्ति कर सकते हैं।

शान्त रस-

यह रस शान्ति, निश्चिंता तथा आराम का प्रतीक है तानपूरा, सरोद, रबाब की ध्वनि शान्त रस के माध्यम है।

वीभत्स रस-

इस रस में घृणायुक्त स्थितियों का प्रदर्शन किया जाता है। यद्यपि संगीत के माध्यम से इसका प्रदर्शन थोड़ा-कठिन है, तथापि इमों की विभिन्न तारता तथा तीव्रता वाले सभी स्वर एक के बाद एक बजायें तो वीभत्स रस की सृष्टि की जा सकती है।

अद्‌भुत रस-

अद्‌भुत रस में आश्चर्यजनक आनन्ददायक तथा थोड़ा बहुत भय का प्रदर्शन किया जा सकता है। इस रस को पाश्चात्य वाद्य-सैलो, डबल बास, हार्प, जैलीफोन हार्पसिकॉर्ड प्रस्तुत कर सकते हैं।

भक्ति रस-

भक्ति रस मूलतः भावनाओं के शुद्ध रूप से धार्मिक होता है, इस रस को उत्पन्न करने में तानपूरा, सरोद, रबाब, मंजीरा, करताल, ढोलक, मृदंग, करताल, आदि सहायक होते हैं।

पश्चिम में संगीत वाद्य प्रधान है। कंठ संगीत तथा वाद्य संगीत या तो एक दूसरे के सहायक है या फिर दोनों परस्पर प्रतिद्वन्द्वी। इसीलिये वाद्यों और वाद्य वृन्द का विकास वहाँ अधिक हो पाया। दूसरी तरफ भारतीय संगीत में वाद्य संगीत कंठ संगीत के अधीन रहे हैं। वाद्य गायन का अनुसरण करते हैं क्योकि भारतीय संगीत की मूल बनावट कंठ संगीत ही है। वाद्य केवल मात्र गायन की संगत करते रहे हैं जबकि पाश्चात्य संगीत में रचनाकार अपनी रचनाओं को वाद्यों के माध्यम से प्रस्तुत करते है। इसलिये रसाभिव्यक्ति एवं रसानुभूति आसानी से होती है।

भारत देश में प्राचीन समय से वैदिक, भरत तथा शारंगदेव के काल तक वाद्यों का प्रयोग स्वतन्त्र वादन के रूप में नहीं था। वाद्य केवल गायक के सहायक के रूप में अथवा स्वर भरने के लिये प्रयोग में लाये जाते थे। परन्तु आधुनिक समय में वीणा, सितार, सारंगी, वायालिन, गिटार, बाँसुरी, शहनाई आदि सभी की स्वतन्त्र व विकसित वादन-शैली है तथा सम्पूर्ण शास्त्रीय संगीत की अदायगी इन पर की जाती है। इन वाद्यों का प्रयोग रागानुकूल रस निष्पादन में किया जाना चाहिए।

नाटक आदि में इन वाद्यों का अपना स्वतन्त्र रस होता है। किसी खुशी के वातावरण, शुभ समाचार अथवा मिलन आदि की खुशी के समय सितार की चपल झनकार उस प्रकार के अवसर के आगमन की सूचना देती है। हमें सितार अथवा बांसुरी की धुन से ही लगता है कि कुछ अच्छा घटित होगा। इसी प्रकार वीणा अथवा सारंगी पर धीमे-2 लय में बजने से लगता है कोई दुखद बात होगी। नगाड़े व तूर्यवादन से युद्ध दृष्य सामने आता है इसलिए इन दृष्यों को अधिक सजीव बनाने के लिये इन वाद्यों का प्रयोग किया जाता है। संगीत बोध की संगीत रचना के उपकरणों में पद, छन्द, भाव, लय तथा ताल का महत्व है। इन रचनाओं के आलाप,तान, गमक मीड़,

Scanned with OKEN Scanner

आन्दोलन घसीट, कण आदि अंलकरणों द्वारा सजाया जाता है यही रस निष्पत्ति है, और यही संगीत का सौन्दर्य तत्व है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि वाद्य विशेष भाव व्यक्त करने तथा रस प्लावित करने में समर्थ है यदि उसकी अवतारणा उसके भाव,रूप व प्रकृति के अनुरूप की जाएं। प्रत्येक वाद्य का अपना एक विशेष प्रभाव होता है, यही उसका रस है, और रस द्वारा प्राप्त आनन्द ही रसानुभूति है।

संदर्भ

1. संगीत दर्शन- विजय लक्ष्मी जैन
2. स्वर ओर रागों के विकास, में वाद्यों का योगदान- इन्द्राणी चक्रवर्ती।
3. संगीत का सौन्दर्य बोध- डा. उमा गर्ग
4. भारतीय इतिहास में संगीत- भगवत शरण शर्मा
5. संगीत मंजूषा-इन्द्राणी चक्रवर्ती
6. पाश्चात्य् स्वर लिपि एवं भारतीय संगीत-डा. स्वतन्त्र शर्मा

Scanned with OKEN Scanner

सरोद की पृष्ठभूमि में रवाब

डॉ. रीता दास*

भारतीय संगीत में सरोद शब्द मुगल शासनकाल में कई जगहों पर मिलता है। लेकिन वादय के रूप में इसका आरंभ 19वी सदी के आरंभ से माना जाता है। रवाब और सरोद का संबंध गहरा है। रवाब मूलतः ईरानी वादय है। तुर्की से लेकर मध्य-पूर्व के विभिन्न देशो के संगीत में रवाब लोकप्रिय वादय के रूप में प्रचलित है। और अभी तक उन देशो के संगीत में प्रचलित है। भारत में रवाब ईरान से चलकर अफगानिस्तान होते हुए भारत आया। सूफी संगीतकारों के साथ ईरान से ईरानी संगीत ही नहीं कई ईरानी वादय भी आए। उनमें रवाब एक प्रमुख वादय था।

अलाउददीन खिलजी के शासनकाल (13वीं सदी का अन्त तथा 14वीं सदी का प्रारम्भ) में जब अमीर खुसरो और गोपाल नायक के सम्पर्क से और सूफियों के द्वारा भारतीय संगीत पर ईरानी संगीत का प्रभाव पड़ा, तदुपरान्त रवाब पर भारतीय संगीत बजने लगा। मुगल काल में सेनिया संगीतकार प्रमुख रवाब वादक के रूप में प्रतिष्ठित हुए। 18-19 वी सदी में प्रमुख सेनिया रवाब वादक थे -छज्जू खॉ और उनके तीन पुत्र - जाफर खॉ, प्यार खॉ एवं बासत खॉ । बासत खां के दूसरे पुत्र मोहम्मद अली उर्फ मझलू मियॉ एक बड़े ध्रुपद विद्वान तथा रवाब वादक थे। वे सुरसिंगार भी बजाना जानते थे। रवाब ही नहीं सरोद सितार की वादन कला भी इन रबाबियों से बहुत अधिक प्रभावित हुए।

शास्त्रीय गायन में ध्रुपद और वादन में वीणा वादन शास्त्रीय संगीत की प्रमुख विधाएं तथा शैलियां थीं। रवाब, सितार, सुरबहार और सरोद की वादन शैलियों पर ध्रुपद-वीणा का प्रभाव अवश्यम्भावी था। फलतः ईरानी अफगानी रवाब की बनावट में परिवर्तन किए गए। रवाब वादय की लम्बाई बढानी पड़ी, तारों की संख्या भी बढी, रवाब को आधार लेकर सरोद बना। सरोद की आकृति रवाब पर आधारित थी। फलत सरोद में भी स्टील प्लेट नहीं था। रवाब जैसा ही फिंगर बोर्ड था और तांत के तार लगे रहते थे। 19वी सदी के पूर्वार्द्ध में जब सरोद प्रचलित हुआ, तब सरोद के उस्तादों ने सरोद पर स्टील प्लेट लगाए और तांत की जगह लोहे और पीतल के तारों का प्रयोग करने लगे। सरोद में पहले बाज और जोड़ी के सिर्फ छह प्रमुख तार भी लगा करते थे जो अभी तक प्रचलित है। रवाब का सबसे प्राचीन चित्र गुरू नानक (1469-1538) के शिष्य मरदाना के हाथ में बजाते हुए पाया जाता है। गुरू नानक के शिष्य बाला गुरूबानी गाते थे और उनके दूसरे शिष्य मरदाना रवाब पर उनके गुरूबानी गायन में संगत करते थे।

20वीं सदी के आरंभ में सरोद के कई घराने बन गए। उनमें प्रमुख हैं—लखनऊ, ग्वालियर, रामपुर और शाहजहांपुर। इन घरानों के सरोद वादक मूलतः अफगानी थे। यानी इनके पूब्रज अफगानिस्तान से भारत आए थे। इन घरानों के कई उस्ताद रवाब बजाना जानते थे। फलतः सरोद वादन में रवाब की वादन शैली का आरंभ से ही गहरा प्रभाव रहा है।

जैसे पहले रवाब पर भारतीय संगीत बजने के कारण पूराने उस्तादों ने कुछ परिवर्तन किए थे। उसी प्रकार सरोद में भी कालक्रम से आकृति, बनावट और तारों में भी परिवर्तन होते रहे। पहले सरोद में

* संगीत विभागाध्यक्ष, जे.डी.वीमेन्स कॉलेज, पटना।

Scanned with OKEN Scanner

बाज और जोड़ के मात्र छह तार रहा करते थे। मैहर के अलाउददीन खॉ ने बाज के उन तारों की संख्या आठ कर दी यानी उपर में सरोद की आठ खूंटियॉ लगा दी । उनके सरोद में नौ खूंटियॉ थी। नौवी खूँटी अति मंद्र सप्तक के पंचम के तार में मिली होती थी। इसका मुख्य कारण यह था कि उनके गुरू रामपुर के मोहम्मद वजीर खॉ एक विद्वान सेनिया बीनकार थे। बीणा सुरबहार की तरह अति मंद्र लरज के आलाप, स्वर विस्तार करने हेतु उ॰ अलाउद्दीन खॉ ने नौवी खूंटी लगायी थी।

वादन शैली और सुविधा के अनुसार 20वी सदी के आरंभ में और मध्य तक कम से कम छह प्रकार के सरोद की बनावट स्थापित हो गयी। ये हैं–

1. करीमतुल्ला खाँ की शैली; 2. मो॰ अमीर खॉ की शैली; 3. उ॰ अलाउददीन खाँ; 4. उ॰ हाफिज अली; 5. उ॰ अली अकबर खाँ; तथा 6. उ॰ अमजद अली खाँ की शैली।

पहले रवाब से ही कुछ मिलता-जुलता सरोद का निचला ड्रम (तबली) की आकृति रहा करती थी। यह कुछ अण्डाकार हुआ करता था। उ॰ करामतुल्ला खॉ तथा कौकब खॉ शाहजहांपुर एवं मैहर के अलाउददीन खॉ ने सर्वप्रथम सरोद की निचले ड्रम की आकृति अर्द्धचन्द्रकार बनाया। शाहजहांपुर के उस्तादों के सरोद के तबली का व्यास बड़ा और वजनदार हुआ करता था।

शाहजहांपुर के उ॰ मोहम्मद अमीर खां ने भी सरोद के डिजाईन में थोड़ा परिवर्तन किया। प॰ राधिका मोहन मोईत्र उनके प्रमुख और प्रिय शिष्य थे। उनसे पहले पं॰ तिमिरबरन भटटाचार्या ने मोहम्मद अमीर खां से सरोद की तालीम पायी थी। श्री मोईत्र अपने सरोद का डिजाइन अपने गुरू मोहम्मद अमीर खां जैसा ही रखा करते थे। इनके सरोद में भी उपर में प्रमुख छह खुटियां तथा तरब ग्यारह रखते थे।

उ॰ अलाउददीन ने भी अपने वादन शैली के अनुसार सरोद में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए। सरोद की तबली को अर्द्धचन्द्राकार, मुख्य तारों की संख्या आठ और तरब की संख्या 15 रखा। ड्रम की ऊँचाई कम और डंडे की मोटाई कुछ अन्य शैली से कुछ कम कर दी। जिससे बाएं हाथ के प्रयोग में सुविधा हो गयी। मुख्य तारों और तरब की संख्या अधिक हो जाने से सरोद में गूंज बढ गयी। स्वरों में अधिक ठहराव आ गया। लम्बी मीढ़ लेने में सुविधा हो गयी। सरोद की आवाज में गोलाई और माधुर्य बढ गया। ध्वनि परिष्कार की दृष्टि से सरोद के स्वर में गुणात्मक तथा ध्वन्यात्मक विकास हुआ। आज सरोद के ध्वनि में 19वी सदी के वादयों की तुलना में बहुत अधिक परिवर्तन देखने को मिलता है।

वादयों की बनावट में इतनी अधिक स्पेशलाइजेशन यानि विशेषज्ञता बढ गयी कि आज के सभी कारीगर सुविख्यात हो गए हैं। जैसे दुर्गा मिस्त्री, गोपाल मिस्त्री, हेमेन चन्द्र सेन, दुलाल कांजी आदि उल्लेखनीय हैं।

जिस प्रकार सितार के विकास में वीणा का योगदान रहा, उसी प्रकार सरोद के विकास में रवाब को माना जाता है। सांगीतिक मान्यता और प्रचलन से वादय के निर्माण में परिवर्तन और विकास होते हैं।

Scanned with OKEN Scanner

कुतप वृन्द तथा आर्केष्ट्रा भारतीय संगीत के परिप्रेक्ष्य में

डॉ. मधु शुक्ला*

भारतीय संगीत के आधार तत्वों पर जब हम विंहगम दृष्टि डालते हैं तो व्यक्तिनिष्ठ रागाधारित या मेलोडी युक्त संगीत की प्रधानता दृष्टिगत होती है नाट्यशास्त्र के 'जाति गायन' से प्रारंभ विकास क्रम की श्रृंखला में राग गायन का जो रूप दिखता है। उसमें स्वरों की माधुर्य पूर्वक क्रमबद्ध गतिशीलता ही परिलक्षित होती है ऐसे में 'वृन्द' की परिकल्पना असंभव सी प्रतीत होती है। किन्तु अनादि अपौरूषेय अमूर्त कला के रूप में प्रतिष्ठित अध्यात्म तथा दर्शन से पोषित भारतीय संगीत का उद्गम स्थल 'सामवेद' के पाठ्य तथा गान प्रक्रिया में वृन्दगान या वादन के बीज का आरोपण दृष्टिगत होता है। स्तोत्रों के पाठ्य या गान के अवयव हिंकार प्रस्ताव उद्गीथ, प्रतिहार, निधन, उंकार आदि का गायन ऋषियों द्वारा व्यवस्थित क्रम में गाने की प्रथा थी। वैदिक साक्ष्यों से तत्कालीन वैदिक तथा लौकिक संगीत में सामाजिक कृत्यों के साथ ही ईश्वरोपासना की सामूहिक प्रक्रिया का वर्णन प्राप्त होता है। वेद हमारी संस्कृति के सशक्त हस्ताक्षर है अतः वैदिक परंपरा की गान प्रक्रिया में सामूहिक ईश्वरोपासना व्यक्त करती है कि हम प्रगतिशील विचारधारा को अपनाते हुए भी सब्रजन हिताय सब्रजन सुखाय के निमित्त सामूहिक प्रार्थना करते रहे। हमने जड़-चेतन, प्रकृति, सूर्य-चन्द्र पंचमहाभूत तत्वों की उपासना में सदा ही सामूहिकता पर बल दिया यद्यपि वहां हेतु संगीत की प्रक्रिया की प्रस्तुति का न होकर सुरमय मार्ग से ईश्वरोपासना का रहा क्योंकि 'मदभक्ता यत्र गायन्ती तत्र तिष्ठामि नारदः' ने भारतीय चिन्तन को स्वरमय स्वरूप प्रदान किया है। अतः ईश्वरोपासना की स्वरमयी प्रक्रिया में स्वर-सौजन्य, स्वरभेद, लय-वैशिष्ट्य, ध्वनिभेद (वॉसमाड्यूलेशन) से समन्वित गान ने व्यष्टि रूप के साथ ही समष्टि रूप ने वृन्दगान की आधारशिला रखी। वैदिक कालीन 'लोक' में भी सामूहिक गीत तथा नृत्य का वर्णन प्राप्त होता है। साथ ही स्त्री पुरूष के पृथक-पृथक 'वृन्द' की चर्चा प्राप्त होती है।

वृन्द के गुण :-

मिलित्वा बहुभिर्यस्तु गीतं गायति गायनः।
स वृन्दगायन स्तेषां पूर्वः पूर्वो भवेद् परः।।

(संगीत समय सार)

अर्थात् मिलकर गानेवाले गायकों के समूह को 'वृन्द' कहा गया।

मुख्यानु वृत्तिर्मिलनं तालतीनानुवर्तनम्।
मिथस्त्रुटितनिर्वाह स्त्रिथानव्याप्ति शक्तिताः।
शब्द सादृश्यभित्येते प्रोक्ता वृन्दस्य षडगुण।।

अर्थात् मुख्य गायक की अनुवृत्ति अर्थात स्वर, ताल, पद सभी का अनुसरण परस्पर त्रुटियों को निभा लेना तीनों स्थानों में कंठ की पहुंच समान कंठ गुण आदि वृन्द के गुण है।

मंदिरों की परंपरा शंख, घड़ियाल, झांझ, मृदंग, ढोल, ताल, मंजीरे, करताल, मुरज, नागस्वरम्, वीणा तथा विभिन्न ध्वनियों, वाली घंटियों का प्रयोग होता था। कालिदास के ग्रंथों में भी वीणा, मुरली तथा मृदंग वादन की सामूहिक प्रथा वृन्दवादन के आधार रूप का संकेत देती है।

* प्रवक्ता-प्रयाग संगीत समिति, इलाहाबाद

Scanned with OKEN Scanner

प्राचीन वृन्दवादन तत्कालीन रंगभूमि का एक अविभाज्य अंग था आज यह स्वतंत्र विधा के रूप में प्रतिष्ठित है। किन्तु प्राचीन काल से ही इसमें न्यूनाधिक परिवर्तन के साक्ष्य प्राप्त होते हैं।

नाट्यशास्त्र में महर्षि 'भरत' ने वृन्द विशेष को कुतप की संज्ञा प्रदान की है।

कुतप शब्द के दो रूप हैं।

1. कु + तप्र अर्थात रंगभूमि को दीप्त करनेवाला।
2. कुत + पान शब्द रक्षण करनेवाला वृन्द कुतप कहलाता है।

'कुतप' तत् अवनद्ध तथा नाट्य तीन विभागों मे वर्गीकृत था।

प्रयोगस्त्रविधो हृयेवां विज्ञेयो नाटयाश्रयः।
ततश्चैवावनदद्धश्च तथा नाट्यकुतोऽपतः।।

तत् प्रयोग का अर्थ है नाटक की कथा से असम्बद्ध तत्वाद्यों का मानव कंठ के साथ स्वतंत्र प्रयोग है। इसी प्रकार अवनद्ध प्रयोग है। तत और अवनद्ध वाद्यों का अभिनय पोषक और नाटक के पात्र के अनुकूल प्रयोग नाट्य कृत प्रधान कहा जाता है।

तत् कतुप :-

तते कुतप विन्यासो गायनः सपिरग्रह।
वेवस्थिको वैणिकश्चं वंशवाद स्तथैव च।।

'तत कुतप' विन्यास में गायक अपने सहयोगियों सहित वैपंचिक, वैणिक तथा वांशिक होते हैं। 18 प्रकार की वीणाओं के साथ शंख, पाणिक, पाव, काहल, मुहरी तथा श्रृंगी वाद्यों के साथ वादक अपनी पत्नी सहित सहायक गायकों से युक्त प्रधान गायक तथा उत्तम ताल धारियों से युक्त बताया है।

गायक वृन्द प्रधान गायक को सहायता देता है उसी प्रकार मत्तकोकिला वादक तथा वांशिक वैणिक को सहायता देता है।

अवनद्ध कुतुप :-

मार्दगिक पाणविक स्थला दार्दरिकोऽपरः।
अवनद्धविधावेष कुतपः समुदाहतः।।

मृदंगवादक, पणवादक तथा दर्दुरवादक के साथ अवनद्ध कुतप होता है।

पणव, हुडुक्क के आधार का तंत्रीयुक्त वाद्य होता है तथा महाघट के आकार का दर्दुर वाद्य होता है झांझ, मंजीरा इत्यादि वाद्यों को भी अवनद्ध कुतप के अंतर्गत समाहित किया गया है। प्रस्तुति में मृदंग वादक श्रेष्ठ तथा अन्य उसकी सहायता के लिए होते हैं। पणव, दर्दुर भण्डि, हक्का, पटह, डक्कुली, करटा, ढक्का, ढवस, घडस, हुडुक्का डमरू, रन्जजा, कुडुवा, निवाण, त्रिवली, भेरी, तम्बकी, बोम्बडी, पट्ट, पर कर्मा, भल्लरी, नाशा, सेल्लूक, जयघंटा, कांस्य, ताल, घण्टा, किरिकिट्टक आदि वाद्य होते थे।

नाट्य कुतपः - नाट्य कुतप विभिन्न देशीय अभिनय तथा नृत्य कला से सिद्ध हस्त पण्डितों से युक्त है।

उत्तमाधममध्याभिस्तथा प्रकृतिभियुतः।
कुतपो नाट्ययोगे तु नानादशसमुदभवः।।

उत्तम, मध्यम और अधम कोटि के पात्रों से युक्त विभिन्न देशों से उत्पन्न कुतप नाट्य में प्रयुक्त होता है।

विभिन्न देशों में प्रचलित सम्प्रदाय के स्तर भेद से नाट्य कुतप के उत्तम, मध्यम व अधम तीन भेद हुए जो कि अपनी-अपनी कोटि के सम्प्रदाय से दीक्षित हुए। नाट्य वस्तु के अभिनय में नाट्य कृत कुतप का ही प्रयोग होता है तत् अवनद्ध कुतप का नहीं।

वस्तुतः कुतप की चर्चा महर्षि भरत ने नाट्य के अंतर्गत की है। अतः अन्ततः भरत ने निर्देशित किया है कि गान वादन तथा नाट्य भिन्न-भिन्न व्यक्तियों पर आश्रित होने के बाद भी नाट्य आयोजक निर्देशक हृदय से स्नेह एकाएक कर प्रयुक्त करें तभी नाट्य अखण्ड आनन्ददायी होगा।

एव गान च वाद्य च नाट्य च विविधाश्रयम्।
अलात चक्र प्रतिम कर्तव्यं नाटययोत्कृभिः।।

वाणभट्ट ने हर्षचरित में शंख वीणा ढोल आदि के सम्मिलित वादन की चर्चा की है।

आइने अकवरी में अबुलफजल ने 'कुतप' को नौवत की संज्ञा प्रदान की है जिसमें दमामा, नक्कारा, ढोल, कर्ना, सूर्ना, नफीरी सींग तथा झांझ इन नौ

Scanned with OKEN Scanner

वाद्य यंत्रों का वादन करने की प्रथा थी। मुरसली और वरदास्त दो धुने वृन्द द्वारा प्रस्तुत होती थी। इसनाती सिराजी, कलन्दरी निगार कतर या नुखुद कतर इन धुनों के वादन लंबी अवधि के होते थे। ख्वारीजामित नामक धुने भी बजायी जाती थी। अकबर ने स्वयं दो सौ से अधिक रचनाएं की थी जिसमें जलालशाही, महमौर, करकत और नवरोजी विशेष रूप से सुन्दर और मनोरंजक थी। पाणिनी काल के वाद्यों के तूर्य समूह की संज्ञा थी तथा इसमें भाग लेने वालों को तूर्यांग कहा जाता है। प्रथम शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हेन राज्य के अंतर्गत तीन प्रकार के वृन्दों का उल्लेख प्राप्त होता है। प्रथम धार्मिक अवसर पर द्वितीय फौज में और तृतीय भोज समारोह तथा अंतःपर के लिए था। चीन में 518 ई॰ में सात वृन्द समूहों द्वारा प्रस्तुत संगीत का उल्लेख कद्साद ने अपनी पुस्तक दि राईज ऑफ म्यूजिक इन दे ऐन-शेन्ट वर्ल्ड ईस्ट एण्ड वेस्ट में किया है जिसमें एक आर्केष्ट्रा भारत का भी था। आर्केष्ट्रा शब्द का प्रयोग यद्यपि सत्रहवीं शताब्दी में प्रारंभ हो चुका था और अठारहवीं शताब्दी में यह संतुलित समूह वाद्य वृन्द के रूप में मान्य हो चुका था इसमें वाद्यकार का अर्धगोलाकार घेरे में वाद्य वादन तथा नृत्य करते थे। पाश्चात्य संगीत में आर्केष्ट्रा का इतिहास अधिक प्राचीन नहीं माना गया है।

प्रख्यात संगीतज्ञ वारव के युग में भी वाद्य वृन्द मान्य नहीं था। यद्यपि वाद्यों के ध्वनि संयोजन संतुलन पर यथेष्ट ध्यान दिया जाने लगा था।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में व्यवस्थित क्रम में आर्केष्ट्रा प्रस्तुत होने लगा। इसी काल में विथोवेन की प्रथम सिम्फनी प्रस्तुत हुई जो कि परवर्ती संगीतकारों के लिए काम आरंभ के मौलिक अधिकार की भांति है। आधुनिक से आधुनिक समुदाय भी उसी एक मानव समुदाय के विस्तार अथवा विभेद मात्र है। विथोवेन की सिम्फनी में वॉयलिन, चेलो, वायला, डबलहार्न, वंशी ओबोए, क्लारिओनेट, ट्रम्पेट तथा घनवाद्यों का प्रयोग था जो कि हेडिन और मोजार्ट के क्लासिकल संयोजन से बहुत भिन्न नहीं था।

कालान्तर में 72 वादकों के साथ लंदन में फिलहामोर्निया वाद्य वृन्द की प्रस्तुति ने एक नवीन संख्या निर्धारित कर दी। आज तो यह संख्या बढ़कर 100 तक पहुंच गयी है। यह एक संपूर्ण पद्धति की विकास यात्रा है।

भारतीय संगीत राग प्रधान है। रंगमंच तथा सिनेमा के प्रभाव से इसे गतिशीलता प्राप्त हुई यद्यपि यह संगीत वर्णशंकर था किन्तु उसने तत्कालिक उद्देश्य को अवश्य पूरा किया। भौतिक, औद्योगिक तथा सामाजिक क्रांतियों के फलस्वरूप पश्चिम देशों में हार्मोन पर निर्भर आर्केष्ट्रा ने भारतीय वृन्द संगीत पर भी अपना रंग डाला। भारतीय पुलिस तथा सेना के बैण्ड ने वृन्दीकरण के इस प्रयत्न को सफलता प्रदान की।

भारतीय संगीत में तकनीकी दृष्टि में आर्केष्ट्रा चार भागों मे बांटा जा सकता है।

(1) शास्त्रीय जो राग रूप के अनुसार निर्मित था।
(2) उपशास्त्रीय जो संकीर्ण रागों से मधुर रचनाएं निर्मित हुई।
(3) लोक धुनों के आधार पर।
(4) विशेष स्थितिपरक।

यद्यपि भारतीय संगीत की आत्मा को बनाये रखते हुए निर्माण दुष्कर कार्य है तथापि अनेक सुमधुर रचनाओं का निर्माण हुआ है जिनमें कुछ में भारतीय के साथ ही पाश्चात्य संगीत के तत्वों का भी समावेश देखा गया है।

आर्केष्ट्रा को विभिन्न वाद्यों द्वारा सांधिक वादन कहा जा सकता है ये दो प्रकार से हो सकता है प्रथम सर्धवादक तो अपने प्रमुख का साथ देते है या बीच-बीच की स्वर मलिकाएं पुनः दोहराते हैं। दूसरे के अनुसार विभिन्न वाद्यों की प्रकृति, गुणधर्म तथा विशेषताओं के अनुसार समन्वित रूप से वादन नहीं कर सकता अपितु लिपि इशारे से दिखाता है। पश्चिम में निर्देशक का स्वर रचयिता होना आवश्यक नहीं है किन्तु भारतीय प्रणाली में निर्देशक ही रचयिता होता है।

वाद्य वृन्द के प्रथम भाग को आड़-लिपि कहते हैं जिस पर समस्त सौन्दर्य विद्यमान रहता है वाद्य वृन्द में निहित संपूर्ण भावना की समृद्धि में 'प्रवेशक' आधार स्तम्भ होता है इन्हीं आधार तत्वों पर अनेक रचनाएं प्राप्त होती है।

Scanned with OKEN Scanner

आधुनिक भारत में विगत सौ वर्ष पूर्व आर्केष्ट्रा सर्वप्रथम बंगाल के यात्रा दल जिसमे तीस से साठ तक वादक होने से प्रारंभ हुआ। हाबुदत्त स्वामी और दक्षिण बाबू इसके प्रवर्तक थे कालान्तर में बड़ौदा के मौलाबख्श जी ने वृन्दवादन के प्रयोगों को स्थापित किया साथ ही मैसूर बम्बई में भी इसका व्यापक प्रचार प्रसार हुआ।

संगीतिका ओपेरा का निर्देश यहां पर आसामायिक न होगा। संगीतिका हमारी प्राचीन संस्कृति की अनुपम देन है उत्तर प्रदेश की 'नौटंकी' तथा जात्रा में अल्प मात्रा मे इसके बीज पाये गये जिनकी व्याप्ति तथा स्वरूप अनियमित है।

भारतीय संगीत में अन्य विधाओं की अपेक्षा वृन्द संरचना का 'वाल्टर काफ मैन' ने छः रागों तथा नौ रागों से युक्त भारतीय तथा पश्चिमी वाद्यों के सम्मिश्रण से आकर्षक रचनाओं का निर्माण किया। मात्यास सीवर नामक लंदन निवासी 'हिगरियन' संगीतकार ने अपने वृन्द का संयोजन किया। राग मोहनम् में 'विलियम ऐलविन' ने राग नलिन क्रांति में 'हृयूबर्ट विलफोर्ट' ने राग बिलहारी की एक स्वर जाति का प्रयोग किया। बेंजामिंन फेकने की राग में 11 मात्राओं के ताल पर एक उत्कृष्ट कल्पना सृष्टि है। भारतीय संगीत के गांभीर्य और वाद्य-वृन्दों के अनुपम सामंजस्य से उद्देश्यपरक तत्वों को ध्यान में रखते हुए जिन भारतीय संगीतज्ञों ने जीवन्त सृष्टि की उसमें सर्वाधिक श्रेय मैहर के बाबा अल्लाउद्दीन खां साहब को जाता है जिन्होंने वृन्द को समूह करने हेतु तरंग सारंगी आदि वाद्यों का निर्माण किया।

इसके साथ ही पं. रविशंकर तिमिर वरन, विष्णुदास शिराली, टी के जायराम, अयूयर आदि ने अपनी कृतियों में परंपरा के साथ नवीन सृजनात्मक क्षमता का परिचय देते हुए अमूल्य रचनाएं संगीत जगत को प्रदान की है जिन्हें वॉयलिन सारंगी, वायला, चोलो, मंदरबहार, डबल बॉस के साथ ही सुषिर तथा धन वाद्यों के सम्मिश्रण से तैयार किया गया। इन रचनाओं में माधुर्य, रस, भाव, लय, ताल, काकु क्रमबद्धता का विशेष ध्यान दिया गया है जो कि आनेवाली पीढ़ी के लिए निश्चित रूप से दिशा निर्देश प्रदान करती है। यद्यपि वृन्द या आर्केष्ट्रा की अनेक रचनाएं हो चुकी है किन्तु अपार संभावनाएं आज भी है।

संदर्भ

1. संगीत निबंधमाला - हाथरस
2. संगीत कला विहार-मई, जून 1965
3. संगीत निबंधमाला - जगदीश नारायण पाठक
4. आर्केष्ट्रा और भारतीय संगीत, संगीत पत्रिका - हाथरस

Scanned with OKEN Scanner

तबले की बंदिशों का उद्भव एवं विकास

डॉ. गौरांग भावसार*

विकसित चेतनाओं के फलस्वरूप मनुष्यों ने अपनी भिन्नता अन्य सांसारिक जीवों से स्पष्ट करने हेतु प्राकृतिक सौन्दर्य की प्रेरणा से एक नई सौन्दर्यता का जगत में निर्माण किया है, वह कला कहलाई। ज्ञान के बल पर अज्ञान को जानना और शोध करना यहां श्रेष्ठकला तत्व का लक्ष्य है। समय परिस्थितियों के साथ-साथ कला का विकास हुआ। 'कला' संस्कृति की उत्तम शाखा कहलाने लगी। भारतीय विद्वानों ने 64 प्रकार की कलाओं का संदर्भ दिया है, कला मनुष्यों में संस्कारों का सिंचन करती है जिससे मानव सुसंस्कृत होता है। यह सत्य है कि कला के द्वारा मानव-देश, समाज, परिवार और अपना कल्याण सोच सकता है। कलाओ में संगीत कला को श्रेष्ठ स्थान देकर मोक्ष प्राप्ति के लिए उत्तम साधना माना गया है। संगीत कला के मुख्य तीन अंग-गायन, वादन, नृत्य। यह तीनों कलाएं अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती है और यह कलाओं का मुख्य आधार स्तोत्र नाद (स्वर) और गति (लय) के साथ एक निबद्ध (छंदात्मक-काव्यात्मक-लयात्मक) रचनाओं से संबंधित है। जिसे संगीत में बंदिश कहते हैं। बंदिशों के आधार पर ही तीनों कलाओं का अस्तित्व निहित है। संगीत में बंदिश के साहित्य द्वारा ही हम रसाभिव्यक्ति कर सकते हैं।

बंदिश मूलतः फारसी भाषा का शब्द है, उर्दू भाषा में भी समय परिस्थितियों के साथ-साथ बंदिश शब्द का प्रचलन हुआ। बंदिश अर्थात बांधना या बंधन। इसी भावार्थ से भारतीय शास्त्रीय संगीत में बंदिश शब्द का प्रचार प्रसार हुआ। प्राचीन भारत में प्रबंध गायन का प्रचलन था प्रबंध गायन छंदात्मक था अर्थात् 'बंधा' हुआ था। हम आज जिसे 'बंदिश' कहते हैं उसे प्राचीन समय में 'प्रबंध' कहते थे। प्रबंध के पश्चात भारत में ध्रुपद-धमार तत्पश्चात् ख्याल गायन प्रचलन में आया यह क्रम समय परिस्थितियों के साथ बदलते हुए भारतीय संगीत में प्रवाहित हुआ। 'प्रबंध' से 'बंदिश' नामाभिधान लगभग मध्य काल में हुआ क्योंकि मुस्लिम और उर्दू, फारसी संस्कृतियों का मिलन भारतीय संस्कृति के साथ होने पर भारत में हरेक क्षेत्र में परिवर्तन आया और भारतीय क्षेत्रीय कार्यो में भी उर्दू फारसी का प्रभाव स्पष्ट रूप से पड़ा यही बात संगीत के क्षेत्र में बंदिश शब्द को ले आयी। तबसे सांगीतिक रचनाओं को हम 'बंदिश' के नाम से जानने लगे। एक निश्चित स्वरों या वर्णो को संकलित कर के उसे मौलिक बंधारण पद्धति द्वारा निर्मित रचनाओं को हम संगीत में 'बंदिश' कहते हैं।

सामान्यतः साहित्य विद्या शाखा में कल्पनाओं को 'पद्य' एवं 'गद्य' के रूप में अभिव्यक्त करते हैं। 'गद्य' प्रकार की अभिव्यक्ति असीम है, उन्हें अभिव्यक्त करने हेतु कोई निश्चित नियम नहीं है। किन्तु गद्य रचनाओं को हम पद्य में सुनिश्चित करते हैं तब पद्य रचनाओं के साथ अलंकार, छंद, ताल मात्रा मेल अपने आप निश्चित हो जाता है। और एक निश्चित आकार और स्वरूप 'गद्य' रचनाओं को प्राप्त हो जाता है। यही छंदात्मक बंधारण को संगीत में 'बंदिश' कहते हैं।

बंदिश अर्थात् 'बंधनात्मक परिस्थिति अथवा क्रिया का निर्माण करना कह सकते हैं' प्राचीन समय में यही धारणा से संगीत में एक स्थायी कृति अथवा

* रीडर (तबला), फैकल्टी ऑफ परफार्मिंग आर्टस, एम.एस. युनिवर्सिटी, बड़ौदा

Scanned with OKEN Scanner

रचनाओं का अवतरण हुआ होगा। इसी कारण को सोचते हुए संगीत में बंधनात्मक अभिगम आया होगा। नियमबद्धता के इसी कारण से कृति या रचनाओं का सृजन होगा। छंदात्मक, काव्यात्मक(शब्दों) वर्णों, लय-स्वर के साथ निबद्ध गीत प्रकारों जिसमें विस्तार का अवकाश हो ऐसी शास्त्रोक्त रचनाओं का निर्माण हुआ।

'बंदिश' के लक्षणों का ज्ञान हमें वैदिक संस्कृति से प्राप्त होता है। वैदिक काल में संगीत की तीनों विद्या-गायन, वादन एवं नृत्य प्रचलन में था। उस समय भी संगीत एक विकासशील प्रक्रिया के साथ जुड़ा हुआ था किन्तु शास्त्र के अल्पत्व और बौद्धिक विकास की मर्यादाओं के कारण संगीत प्राथमिक अवस्था में ही विद्यमान था। धार्मिक एवं लोकाभिमुख उत्सवों में संगीत केवल ईश्वरीय उपासना का माध्यम था, वेदों की ऋचाओं का गान भी उदात्, अनुदात् और स्वरित यह तीन स्वरों के साथ अनिबद्ध रीति से ताल निर्वाह के बिना गाया जाता था। वाद्यों का प्रयोग नृत्य के साथ यज्ञों के प्रारंभ से पहले और राजनैतिक एवं लोक उत्सवों पर ही होता था। समय परिवर्तन के साथ-साथ संगीत विकसित हुआ, जब प्रबंध गायन की शुरूआत हुई तब ताल निर्वाह के लिए ताल वाद्यों का प्रयोजन शुरू हुआ उसके साथ गति, साहित्य, छंद, ताल, लय, गति भेद (लयकारी) आदि तालांगों का विकास एवं आर्विभाव हुआ यही तत्वों के आधार पर संगीतानुलक्षी शास्त्रों तथा नीति नियमों की रचना हुई जिनके फलतः ध्रुपद प्रबंध गायन की उत्पति हुई। प्रारंभ से ही लय तत्व तो था किंतु उसे देह स्वरूप प्राप्त न था। यही लय तत्व में खंड-विभाजन, निश्चित समयावधि के लिए मात्रा-प्रमाण का विचार किया गया और लय तत्व को देह स्वरूप प्राप्त हुआ उसे ताल कहा गया यही ताल अवनद्ध वाद्यों के इतिहास में सर्वप्रथम बंदिश थी। जब तालों का स्वरूप स्पष्ट हुआ तब कई छंद अपने आप प्रकट हुए और अनेक विधि ताल बने उसके साथ-साथ ताल-लय के माध्यम से कई लयात्मक और छंदात्मक रचनाएं बनी यहीं से संगीत विकास पथ पर अग्रसर होने लगा। विद्वानों ने कहा है कि 'आवश्यकता ही सभी तत्व, तथ्य और शोध की जननी है' यही व्यवहार संगीत में आया और नया सैद्धांतिक शास्त्र बना। यह सब प्रक्रिया के फलस्वरूप 'बंदिश' या 'रचनाओं' का प्रादुर्भाव हुआ।

यह सर्वविदित बात है कि तबला वाद्य मूलतः एक सुर का वाद्य है। मध्यकाल में अभिजात संगीत में लय निर्वाह के लिए सुषुप्त अवस्था में विद्यमान तबला वाद्य का प्रचार-प्रसार हुआ। यह वाद्य लय निर्वाह हेतु कार्यरत रहे इस कारण से प्राचीन समय के चर्म वाद्य के अनुसार बनाए गए 16 वर्णों से प्रेरणा लेकर तबला के मूलाक्षरों को बनाया गया। मुख्य रूप से तबला वाद्य के दांया और बांया को मिलाकर 10 वर्णों का शोध-कार्य हुआ यह 10 वर्ण अर्थात् ध, ग, द, त, र, क, ह, न, घ और ड है यह 10 वर्णो में से ध, ग, त, र, क और ट यह सात वर्णो का सविशेष महत्व है। अन्य तीन वर्ण अनुयायी वर्ण है। जैसे 'त' का अनुयायी 'न' है, 'ट' का 'ड' है और 'ग' का 'ध' है जैसे संगीत में सात स्वर है, योग साधन में राज योग, कर्मयोग, छंद योग, प्राण योग, शक्ति योग, ज्ञान योग और भक्ति योग है। सप्तऋषि, सप्तलोक, सप्तसागर, सप्त मेरूं, सप्ततीर्थ आदि का महत्व है इसी तरह से तबला वाद्य में सात वर्णो का महत्व है। यहां एक और भी योग बनता है कि तबला वादन का समग्र रचना साहित्य भी शास्त्रोक्त दृष्टि से सात भागों में बंटा हुआ है, जैसे काल (ताल), वर्ण (बोल), लय, छंद, जाति, यति, प्रस्तार (विस्तार)।

आगे चलकर आधुनिक अभिजात संगीत में तबला वाद्य का महत्तम उपयोग हुआ और विकास क्रम आगे चलने लगा। फिर भी यह सत्य है कि ख्याल गायन के प्रचलन के साथ-साथ ही तबला वाद्य का विशेष प्रचार हुआ। जैसे - ख्याल गायन में प्राचीन गायन पद्धतियों के साहित्य एवं व्याकरण की प्रेरणा से नवीन ख्याल रचनाएं बनायी गयी उसी प्रकार से तबला वाद्य के वादन साहित्य का सृजन पुरोगामी ताल वाद्यों - मृदंग, (पखावज), ताशा, नक्कारा जैसे वाद्यों की वादन पद्धति और बोल समूहों की प्रेरणा से हुआ। आगे चलकर यही नवीन सृजन तबला वाद्य की बंदिश के रूप में प्रस्थापित हुई।

'बंदिश' अर्थात् वाद्य के मूलभूत वर्णों (बोल) को लयात्मक रूप से संकलित कर के आवश्यक छंद

Scanned with OKEN Scanner

में साहित्यिक रीति से निबद्ध करने की घटना, जिनका उपयोग लय रंजन हेतु और उसके पूर्णावर्तन से नीरसता या उदासीनता का सृजन न हो ऐसी विलक्षण कृति अर्थात् 'बंदिश'। जैसे साहित्यिक शब्दों और छंदों के व्याकरण के आधार पर स्वर की निबद्धता के द्वारा गायन का साहित्य समृद्ध एवं विकसित हुआ ठीक उसी तरह तबला वाद्य के मूलभूत वर्णो (बोल) एवं अन्य ततकालिक ताल वाद्य के वर्णो के अनुकरण और मौलिक निर्माण कल्पना के आधार पर तबला वाद्य का रचना साहित्य समृद्ध हुआ।

यह सर्वविदित है कि प्राचीन ध्रुपद धमार गायन के साथ ताल निर्वाह हेतु परवावज या मृदंग वाद्य का प्रयोग होता था उस समय गायन के साथ तालवाद्य सिर्फ ताल के ठेके का ही वादन करता था और यही काम वादक का था जब गायक-ध्रुपद की ठाह से दुगुन या तिगुन लयकारी करता था तब ठाह से दुगुन का गायन करने से पहले एक या दो आवर्तन मध्य में छोड़ देता था यही एक या दो आवर्तन ताल वाद्य के लिए बंदिश उत्पति का मूल कारण बना यह दो आर्वतनों मे ताल वादकों ने अपनी बुद्धि क्षमता, रियाज एवं उपज अंग के आधार पर प्राचीन सोलह वर्णो के संयोग-वियोग के द्वारा वर्णों को गूंथ कर प्रथम एक या दो आवर्तन की स्वतंत्र रचना के वादन का आरंभ किया, यह प्रयोग सफल रहा ततपश्चात् वादक ने अपनी कार्यक्षमता, बुद्धिक्षमता, रियाज, उपज-अंग, छंद, लय, लयकारी, तालों का बंधारण आदि तथ्यों को सोचते हुए छोटी-छोटी बंदिशों की रचना की। सर्वप्रथम मोहरे एवं मुखड़े जैसे बंदिशों का निर्माण हुआ ततपश्चात् वर्णो की प्रकृति के आधार पर परन, गत, रेला, टुकड़ा, उठान आदि बंदिशों का विकास क्रम शुरू हुआ।

निबद्ध रचनाओं के कारण ध्रुपद धमार गायन के साथ परवावज वादक गायक के स्वर आधात (बोल बांट) के साथ-साथ ततकालित पखावज के वर्णाक्षरों से समानधात से वादन करने लगा जिससे गायन और वादन का सौन्दर्य और भी निखरा।

जब ध्रुपद के साथ-साथ ख्याल गायन एवं तंतु वाद्यों का विकास हुआ। यह ख्याल गायन और तंतु वाद्यों का संगीत प्रकार चंचल प्रकृति का होने के कारण पखवाज जैसा धीर गंभीर और जोरदार वादन शैलियुक्त वाद्य उपयुक्त न था, एक कोमल वाद्य की आवश्यकता के फलतः सुसुप्त अवस्था में विद्यमान तबला वाद्य का प्रयोग ख्याल एवं तंतु वाद्यों के साथ हुआ तबलावादकों ने पखावज के ही वर्णों को बंधकर के तबला वाद्य योग्य बनाया और पखावज की ही प्रारंभिक बंदिशों का प्रयोग तबला वाद्य में हुआ। समय परिस्थिति के साथ-साथ तबला वाद्य के प्रति लोक रूचि बढ़ी और तबला सीखने वालों की वृद्धि हुई। तब बंदिशों की आवश्यकता हुई फलतः तबला वादन के भी स्वतंत्र कार्यक्रम होने लगे आगे चलकर तबला के घरानों की स्थापना हुई और कई बंदिश और शास्त्र तबला वाद्य का बना जो सर्वविदित है।

Scanned with OKEN Scanner

भारतीय (तत्-वितत) वाद्य की उत्पत्ति एवं विकास

डॉ. राकेश जे. महीसुरी*

विश्व के संगीतमय वातावरण में आज का वायोलिन वाद्य उसकी लोकप्रियता एवं निजी विशेषताओं के कारण प्रचलित हो गया है। प्रत्येक विकसित देशों की संस्कृति ने इसे भली-भांति अपनाया है। भारतीय सांस्कृतिक विरासत की यह देन है, ऐसा हम निम्नलिखित तथ्यों के आधार पर कह सकते हैं।

विश्व में संगीत विषय का इतिहास भारतीय संगीत के इतिहास की परंपराओं के बाद स्थापित हुआ है।

'भारतीय संगीत का इतिहास'

भारतीय संगीत के इतिहास का प्रारंभ अति प्राचीन काल से हुआ है और अति प्राचीन काल से हमें वैदिक काल का बोध होता है। वैदिक युग के ऐतिहासिक वर्णन में संगीत की उत्पत्ति देवी-देवताओं द्वारा मानी गई है। इसका मुख्य कारण यह है कि भारतीय संगीत की धरोहर आध्यात्मिक आस्थाओं तथा सांस्कृतिक परंपराओं से संलग्न है। भारतीय सांस्कृतिक इतिहास में प्रत्येक कला के अधिष्ठाता के रूप में किसी-न-किसी देवी-देवताओं को माना गया है। संगीत के विषय में मां सरस्वती देवी के हाथों में 'वीणा' वाद्य है, भगवान शंकर जी के हाथों में 'डमरू' बताया है तथा नारद जी के हाथों में एक या दो तंत्री वाद्य बताया है।

भारतीय संगीत की उत्पति के इतिहास में एक ऐसा मत है कि संगीत की उत्पति वेदों के निर्माता ब्रह्माजी द्वारा हुई। ब्रह्माजी ने यह कला शिव जी को दी, शिव जी के द्वारा यह कला मां सरस्वती को प्राप्त हुई। सरस्वती देवी के द्वारा नारद जी को और नारद जी के द्वारा स्वर्ग के गंधर्व, किन्नर एवं अप्सराओं को यह कला प्राप्त हुई। और वहां से भरत, नारद और हनुमान जी यह कला के प्रचारार्थ भू-लोक (पृथ्वी) पर अवतीर्ण हुए। इस प्रकार पृथ्वी पर संगीत कला का प्रादुर्भाव हुआ।

एक अन्य भारतीय ऐतिहासिक मतानुसार नारद जी की अनेक वर्षों की तपश्चर्या के फलस्वरूप, भगवान शिव जी ने नारद जी को संगीत कला का अधिकार दिया और नारद जी द्वारा संगीत का प्रसार पृथ्वी पर हुआ। यह भारतीय संगीत की उत्पति का इतिहास है। अब भारतीय वाद्य परंपरा के इतिहास का अवलोकन करेंगे।

भारतीय वाद्य परंपरा का इतिहास

भारतीय संस्कृति का प्राचीनतम वाद्य 'वीणा' है। ऐतिहासिक तथ्यानुसार भगवान शंकर जी ने मां पार्वती जी की शयन मुद्रा से अभिभावित होकर उनके अंग-प्रत्यंगों के आकार पर रूद्र वीणा का आविष्कार किया।

शिवप्रदोष स्त्रोत्रानुसार त्रि-जगत की जननी गौरी को भगवान शंकर जी ने स्वर्ण सिंहासन पर बैठाकर नृत्य करने की इच्छा प्रकट की। इस प्रसंग के वर्णनानुसार इन्द्र भगवान तथा ब्रह्माजी ने करताल (वाद्य) बजाई, मां सरस्वती जी ने 'वीणा' वाद्य बजाया तथा भगवान विष्णुजी ने मृदंग बजाया, ऐसा वर्णन मिलता है।

अन्य एक मतानुसार शंकर भगवान तांडव और लास्य नृत्य के संबंध में शिवजी के नृत्य में सम्मिलित विभिन्न देवताओं को भिन्न-भिन्न वाद्य वादन करने का उल्लेख मिलता है। जिसमें सूर्य और चन्द्र देवता

* ऐसोसियेट प्रोफेसर इन वायोलिन, महाराजा सयाजीराव युनिवर्सिटी ऑफ बड़ौदा, गुजरात

Scanned with OKEN Scanner

वंशीवादन तथा नंदी और भृंगी को डमरू तथा मादल वाद्य बजाने का उल्लेख मिलता है।

इस ऐतिहासिक तथ्य के आधार पर प्राचीन समय में वीणा, मृदंग, करताल, इत्यादि वाद्य होने का प्रमाण मिलता है।

तत्-वितत् वाद्य की परंपरा

भारतीय वाद्य परंपरा में जिन वाद्यों में तार लगे हुए हैं, और तार को छेड़कर या आघात करके जब स्वरों की उत्पति की जाती है तब उसे हम 'तत्' वाद्य की श्रेणी में रखते हैं। इसी प्रकार जब तार लगे हुए वाद्यों में तार पर छड़ी, कमान या अन्य किसी तार के घर्षण से स्वरों की उत्पति की जाती है, तब हम उसे 'वितत्' वाद्य की श्रेणी में रखते हैं। विभिन्न प्रकार की वीणाएं, एकतारा-दुतारा, तंबूरा या तानपूरा, सरोद, सितार इत्यादि वाद्य तत् वाद्य की श्रेणी के हैं, तथा सारंगी, इस राज रावण हथ्था, रबाब, दिलरूबा, आज का प्रचलित वाद्य वायोलिन वितत् वाद्य की श्रेणी में आते हैं।

विश्व के समस्त तत्-वितत् वाद्यों की परंपरा के मूल में भारतीय इतिहास की धार्मिक एवं सांस्कृतिक परंपरा है।

अर्वाचीन युग में समस्त भू-मंडल पर विद्यमान विभिन्न खंडों में अनेक अलग-अलग धर्मों का प्रचार-प्रसार हुआ है। इन सभी धार्मिक पंथों में कहीं न कहीं हमारी प्राचीन धारा या प्राचीन देव-देवी या राम-भगवान का उल्लेख मिलता है। इसी से हम ये मान सकते हैं कि भारतीय सांस्कृतिक परंपरा ही प्राचीनतम् है।

भारतीय शास्त्रों के अनुसार वितत् वाद्यों के इतिहास में रावण-हथ्था नामक वाद्य प्राचीनतम है। उस प्राचीनतम् समय में यह नाम का कोई वैज्ञानिक प्रमाण प्राप्त नहीं है। किन्तु शिव भक्त रावण के ऐतिहासिक रहस्य को देखते हुए यह मालूम होता है कि सर्वप्रथम वितत् वाद्य का प्रयोग रावण द्वारा शिवजी के समक्ष हुआ।

ऐतिहासिक दंतकथा एवं शास्त्रों के तथ्यानुसार रावण एक सर्वोच्च ब्राह्मण था एवं सर्व प्रकार की शास्त्रोक्त वैदिक, तांत्रिक, तथा दैविक विधियों में सिद्ध था। रावण ने अनेक कठिन तपश्चर्याओं से भगवान शिवजी को प्रसन्न करके अनेक वरदान प्राप्त किये थे। रावण ने कई सारे संस्कृत स्तोत्रों की रचना करके उसे शिवजी के समक्ष संगीतमय गान करके शिवजी को प्रसन्न किया। रावण ने यज्ञ करके यज्ञ में अपने शीश की बलि देकर कई बार नए मस्तक प्राप्त किये। इसीलिए कहलाता है कि रावण के एक मस्तक में दश मस्तक (दशानन) की शक्तियां विद्यमान थी। उसकी दो भुजाओं में बीस भुजाओं का बल प्राप्त था। इसी रावण ने यज्ञ में बलि देते समय अपने नसतंतुओं से एक वाद्य की रचना करके शिवजी के समक्ष-वादन प्रस्तुत किया। यही सर्वप्रथम वितत् वाद्य था, जिसे रावण ने सर्वप्रथम शिवजी के समक्ष बजाया। जिसे अर्वाचीन युग में रावण-हथ्था नाम संबोधन प्राप्त है।

भारतीय इतिहास के अनुसार वैदिक युग तथा रामायण-महाभारत काल के अतिरिक्त प्राचीन तथा मध्यकाल मे भारत खंड में विभिन्न संस्कृतियों का आवगमन रहा है। उस समय भारतखंड अपनी सांस्कृतिक एवं वैभवी परंपराओं में विश्व में सिरमोर था। पृथ्वी के अलग-अलग खंड की विभिन्न सभ्यताएं, भिन्न-भिन्न हेतु से भारतखंड में आती-जाती रही है। कुछ संस्कृतियां शिक्षा ग्रहण करने हेतु तथा कुछ सभ्यताएं व्यापार करने हेतु तथा भारतीय वैभवी रहन-सहन के चलते अनेक जीवन जरूरी सामग्रियां एवं खाद्यान्न के व्यापार हेतु विदेशी सभ्यताएं आती जाती रही हैं।

इसी प्रकार के आवागमन के कारण भारतीय सांस्कृतिक सभ्यताओं का भी विदेशियों ने रसास्वादन किया होगा और भारतीय कलाओं का आदान-प्रदान से हमारी वाद्य परंपरा का अनुकरण करके उन्होंने उसे भी अपनाया और आवश्यकतानुसार उसमें विकास हुआ। जिसके फलस्वरूप भारतीय वाद्य परंपरा के वाद्य को नयी विचार धारा और विकसित स्वरूप प्राप्त हुआ।

इस प्रकार मूल में भारतीय विचारधारा कायम रखते हुए उसके विकसित रूप प्रचार में आये और नए तत्-वितत् वाद्यों की अवधारणा हुई।

इससे हम ये निष्कर्ष मान सकते हैं कि मूलतः वितत् वाद्य की धारा भारतीय संस्कृति की होने के कारण आज के तत्-वितत् वाद्यों भारतीय वाद्यों के विकसित स्वरूप हैं और इसी कारण आज का प्रचलित विदेशी वाद्य 'वायोलिन' मूलतः हिन्दुस्तानी कला संस्कृति का विकसित रूप है।

Scanned with OKEN Scanner

तबले के विभिन्न बाजों का तुलनात्मक अध्ययन

अभिषेक तुषार*

बाज :

विभिन्न विद्वान तबला वादकों ने अपने ढंग से वादन में चमत्कार उत्पन्न करके अपने अपने घराने बना लिए। फलस्वरूप उनके वादन तकनीक तथा बंदिशों में इतना अंतर आ गया कि प्रत्येक घराने की अपनी एक स्पष्ट वादन शैली विकसित हो गई। संक्षेप में इसी वादन प्रणाली या वादन शैली को हम "बाज" कहते है।

दिल्ली बाज :

इस बाज को 'किनार का बाज' भी कहा जाता है क्योंकि इसमें चांटी की प्रधानता हैं इसमें मध्यमा एवं तर्जनी, इन दो उंगलियों का प्रयोग अधिक होता है। इसी कारण इस बाज में कोमलता का प्राचुर्य है। इस बाज की अधिकांश रचनायें चतुश्र जाति में हैं तथा बजाते समय वाद्य पर से हाथ उठाया नहीं जाता हैं चूंकि इस बाज में पूरे पंजे का प्रयोग नहीं होता इसलिए 'धेरे धेरे' का निकास पूड़ी के अंदर ही होता है। स्वतंत्र वादन की दृष्टि से यह श्रेष्ठ बाज है परंतु संगत में ये बाज पूरा खरा नहीं उतरता। इस बाज में पेशकार, कायदा, रेला, मुखड़ा, मोहरा एवं छोटे टुकड़े विशेष रूप से बजते हैं। सर्वश्री लतीफ अहमद खां, श्री शफात अहमद, फैयाज खां, इस बाज के कुशल उत्तराधिकारी है।

अजराड़ा बाज :

चूंकि इस बाज के मूल प्रवर्तकों ने दिल्ली घराने के उस्तादों से शिक्षा ली इसलिए दिल्ली बाज की सारी विशेषताएं जैसे किनार का काम, पेशकार, कायदे और रेलों का बाहुल्य तथा लंबी परन और छंद आदि का अभाव आदि सारी बातें ज्यों की त्यों पाई जाती है-परंतु इस बाज के बोलों में डग्गे का काम कुछ विशेष किया जाता है। इस बाज में आड़ी लय की रचनाओं का प्राचुर्य है। इस घराने में डग्गे का प्रयोग मीड़युक्त, सुंदर तथा दाहिने से लड़ता हुआ होता है। स्वतंत्रा वादन के लिए यह एक सफल बाज है। परंतु तबला मुख्यतः संगत का वाद्य है और यह बाज संगति में सफल नहीं उतरता। कायदों की खूबसूरती तथा विविधता इस बाज की खासियत है। उस्ताद हबीबुउद्दीन खां, रमजान खां एवं आशिक हुसैन इस बाज के प्रतिनिधि कलाकार है।

लखनऊ बाज :

इस बाज के प्रवर्तक दिल्ली घराने के शिष्य थे, इसलिए दिल्ली बाज की सारी विशेषताएं तो इस बाज में थी। परंतु यहां का बाज लखनऊ के संगीतिक आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तित हो गया। फलस्वरूप दिल्ली का बंद तबला लखनऊ में पखावज और नृत्य के प्रभाव से खुला और जोरदार हो गया। यहां पर चांटी की अपेक्षा स्याही का प्रयोग अधिक होता है। इस घराने में दो उंगलियों के स्थान पर पांचों उंगलियों का प्रयोग होता है। यहां के घरानेदार वंशज बायें पर अंगूठे द्वारा मींड उत्पन्न करते हैं। यहां के कायदे दिल्ली तथा अजराड़े की तुलना में अधिक लंबे होते हैं। ठुमरी गायन शैली का विकास का मुख्य केन्द्र लखनऊ रहा इसलिए इस बाज में लग्गी-लड़ियों का भी प्रयोग होता है। स्वतंत्र तथा

* तबला वादक, ति. मां. भागलपुर वि.वि., भागलपुर

Scanned with OKEN Scanner

संगति के लिए यह बाज खरा उतरता है। उ. आबिद हुसैन खां, उ. वाजिद हुसैन खां एवं आफाक हुसैन खां इस बाज के कुशल उत्तराधिकारी है।

फरूक्खाबाद बाज :

यह घराना लखनऊ का ही शाखा है लेकिन न तो ये लखनऊ जैसा नृत्य से प्रभावित है, न ही बनारस तथा पंजाब जैसा जोरदार और न ही दिल्ली के समान किनार का है। इस घराने में भी कायदे, पेशकार बजाए जाते हैं परंतु यहां पर रेलों को रौं कहते हैं। यहां पर रेलों को एक नवीन रूप दिया गया है। इस बाज में गत बजाने की भी प्रथा है। 'चाल' या 'चलन' भी इस घराने की विशेषता है। स्वतंत्र वादन के लिए यह एक अत्यंत सफल बाज है। उ. अमीर हुसैन खां तथा उ. अहमद जान थिरकवा इसके प्रतिनिधि कलाकार है।

बनारस बाज :

बनारस बाज में अनामिका (तीसरी उंगली) को थोड़ी सी टेढ़ी करके दाहिने पर बजाया जाता है। इस बाज में लव का सर्वाधिक प्रयोग होता है और इसी कारण यह बाज अन्य बाजों से पृथक है। इस बाज में उठान, गत, परन, मोहरे, मुखड़े, रेला, लग्गी, बांट, लड़ी, लोक, आदि बोलों को महत्व दिया जाता है। इस घराने का संबंध नृत्य से भी होने के कारण तोड़े, टुकड़े, चक्रदार आदि भी विशेष रूप से बजते हैं। ठेके का प्रकार जिसे "बनारसी ठेका" कहते है, तथा 'फर्द' नाम की एक विशेष रचना इस घराने की विशेषता है। इस बाज में पूरे पंजे का प्रयोग तथा इसके निकास में गंभीरता देखी जाती है। 'तैयारी' तथा बोलों की स्पष्टता के लिए यहां के कलाकार कठोर परिश्रम करते हैं। बायें में मींड का काम यहां पर अधिक मिलता है। इस बाज की लोकप्रियता का कारण है कि यह बाज स्वतंत्र वादन, गायन, वादन एवं नृत्य की संगतित्र में खरा उतरता है। पं. शारदा सहाय, पं. सामता प्रसाद एवं पं. किशन महाराज इसके कुशल प्रतिनिधि कलाकार हैं।

पंजाब बाज :

पखावज के बोलों को बंद करके यहां के विद्वानों ने एक अलग शैली का निर्माण किया। बड़ी-बड़ी गतें, परनें, चक्रदार, अनेक लयकारियों से युक्त तिहाइयां आदि इस बाज में खूब बजाई जाती है। यहां की रचनाओं में पंजाब की भाषा का स्पष्ट छाप देखने को मिलता है। पंजाब विशेषतः अपने रेलों तथा गतों के लिए प्रसिद्ध है। इस बाज में बांट का काम तथा लयकारी में गणित का काम बडी ही सुंदरता से किया जाता है। इस घराने में कायदा का प्रचलन कम है और जो भी कायदे हैं बड़े ही मुश्किल तथा लयकारी युक्त है। उ. शौकत हुसैन, उ. अल्लारक्खा खां एवं उ. जाकिर हुसैन इस बाज के कुशल प्रतिनिधि कलाकार हैं।

Scanned with OKEN Scanner

तबले में कलात्मक सृजनशीलता

डॉ. सुदेश कुमारी

विकसित चेतना के फलस्वरूप मनुष्य ने अन्य सांसारिक जीवों से अपनी भिन्नता स्पष्ट कर के प्राकृतिक सौन्दर्य से भिन्न एक नए सौन्दर्य से परिपूर्ण जगत का निर्माण किया, जो वस्तुतः कला का क्षेत्र था। जीवन और जगत् के विविध क्षेत्रों में कला शब्द प्रचलित है। प्रारंभिक काल में मनुष्य प्राकृतिक सौन्दर्य से प्रभावित होकर नवीन सौन्दर्यात्मक सृष्टि की ओर उन्मुख हुआ। कला, दर्शन, ज्ञान एवं विज्ञान के क्षेत्र में अज्ञात की सत्ता जिज्ञासा को सदैव जीवन्त रखती है। ज्ञान के बल पर अज्ञात को जानना श्रेष्ठ कला का लक्ष्य है।

जब हम लोक व्यवहार में किसी के कौशल या नेपुण्य की चर्चा करते हैं, तब "कला" शब्द सहसा हमारी जिह्वा पर आ बैठता है। जैसे यदि हम किसी वक्ता के वाणी कौशल की, किसी साहित्यकार के साहित्य की, किसी कवि की कविता की, किसी अभिनेता के अभिनय की ओर किसी कुशल संगीतज्ञ की संगीत कला की प्रशंसा करते हैं, तो ये सब उसकी विशिष्ट व्यक्तिगत कला का द्योतन कराती है।

किसी भी कला के दो पक्ष होते हैं - प्रयोगात्मक तथा सैद्धान्तिक प्रायोगिक कला के प्रस्तुतीकरण का विशिष्ट ढंग उसकी शैली कहलाता है। कला के प्रायोगिक पक्ष का जब एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में परंपरागत रूप में प्रवाह चलता रहता है तो उसका निरंतर परिष्कार और संस्कार होता रहता है। आगे चलकर यह प्रायोगिक पक्ष परिष्कृत और सुसंस्कृत होकर जन समाज में प्रतिष्ठित हो जाता है और एक विशिष्ट शैली में स्थापित हो जाता है, जो घराना कहलाता है। तबले में कलात्मक सृजनशीलता हृदय एवं मस्तिष्क की उपज है, तथा इसकी शास्त्रीय विद्वता, चिंतन, मनन एवं बुद्धिमता की देन है। रसपूर्ण तबला वादन श्रोताओं को अधिक प्रभावित करता है। तबले की कलात्मक सृजनशीलता गायक की गायकी में निखार प्रस्तुत कर देती है, नर्तक के नृत्य को आकर्षक बना देती है, तंत्र एवं सुषिर वाद्यों की कला को शालीनता प्रदान कर देती है तथा स्वयं तबला वादक को अजस्त्र रसात्मकता का अनुभव कराने में सक्षम हो जाती है।

अपनी कला साधना को भ्रम एवं किवंदन्तियों से मुक्त रखकर जो कलाकार कला की सच्चाई एवं गहराई से खोज करता है, वह सच्चा कलाकार कहलाता है। सच्चा कलाकार वही होता है, जो अज्ञान एवं विकारों से मुक्त होकर कला की सच्चाई एवं उसके यथार्थ का मूल्यांकन करता रहे, तथा अपने अभ्यास, अनुभव, अनुसंधान एवं स्वकल्पना तथा सिद्धियों से कला के प्रशंसकों को परिचित कराये और एक-एक अंग की सिद्धि में मूल सत्य की खोज करे। किसी भी वाद्य का मूल्यांकन हम दो प्रकार से करते हैं - एक उसकी प्रसिद्धि या वो वाद्य समाज में कितना प्रचलित है। दूसरा उसकी कला के माध्यम से। किसी भी वाद्य की ख्याति या प्रसिद्धि का स्थायित्व उस वाद्य में सृजनशीलता की उत्पति, कलात्मकता एवं मौलिकता पर निर्भर करती है। तबले में बोलों की संस्कृति, उसकी स्वाभाविकता, मौलिकता, सरसता, बारीकी आदि तबला वादन कला की स्वतंत्र पहचान के प्रमुख तथ्य हैं। तबले की कलात्मकता मुख्यतः तीन बातों पर निर्भर करती

* वरिष्ठ प्रवक्ता एवं प्रभारी, गोकुल दास महिला स्नातकोत्तर, महाविद्यालय, मुरादाबाद, उ.प्र.

Scanned with OKEN Scanner

है—नाद, सौन्दर्य, लय, सौन्दर्य एवं बोलों की उत्कृष्टता। ये सभी तत्व मिलकर तबले की कला को विश्वसनीयता प्रदान करते हैं।

तबले की कलात्मकता प्रदान करने मे तबला वादक की कसौटी है, उसकी सुन्दर लय प्रवीणता, सृजनशीलता कल्पना एवं रचना शक्ति तथा बोलों को कलात्मक ढंग से सजाने की क्षमता आदि महत्वपूर्ण तथ्य है।

तबला वादन में जब ध्वनि, नाद, श्रुति, स्वर एवं लय का बोलों द्वारा सामंजस्य स्थापित हो जाता है, तो वह कलात्मक वादन त्वरित गति से श्रोताओं को प्रभावित करता है। तबले में बोलों की बंदिशों की मौलिकता एवं विश्वसनीयता ने ही विभिन्न शैली के बाजों एवं घरानों की सृष्टि की है। संगीत में आकर्षण स्थल "सम" की सृष्टि की जाती है। "सम" का संगम स्थल इस प्रकार रखा जाता है कि "सम" पर वादक के "आते" ही रसास्वादन करनेवाले वाह-वाह करने लगते हैं और कभी-कभी मौन भाव से भी अपनी प्रसन्नता की अभिव्यक्ति कर देते हैं। तबले में कलात्मक सृजनशीलता के लिए, मुखड़ा, मोहरा, तिहाई, टुकड़ा, लग्गी, लड़ी, गत, फर्द, कायदा, रेला एवं डगमगाती लय का पेशकार का सुन्दर प्रयोग किया जाता है। तिरकिट, घिरघिर, धिडनग आदि मुलायम बोलों के अभ्यास में विशिष्टता लाने का प्रयास किया जाता है। तबला वादकों ने अपनी रचना शक्ति के आधार पर अनेक प्रकार के बोलों तथा ठाह, दुगुन, चौगुन की लय में गत, त्रिपल्ली, चौपल्ली, दर्जेदार गत "ता" "धा" वर्जित गत, पंजाबी गत, लाहोरी गत, चारबाग चार पल्ले की गत, लोम विलोम की परन, उठान इत्यादि की रचना कर तबले के शब्द भंडार में अपार वृद्धि की है।

कायदों के कलात्मक प्रस्तार ने तबले को अत्यंत लोकप्रियता प्रदान की है। शब्द, ध्वनि, भाषा, भाव, बोल एवं शैली के आधार पर तबले के लिए जिन बोलों की रचना की गई है, वे संगीत के ऐतिहासिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक तथ्य है। तबले के लिए तर्क सम्मत एवं शास्त्र सम्मत, सर्वमान्य सांगीतिक ताल एवं लय की स्थापना तबले के निजी बोल को सार्थकता प्रदान करने में हथेलियों के कलात्मक प्रयोग, हस्ताघात, समपाणि, अर्द्धसमपाणि, पार्श्वपाणि एवं प्रदर्शिनी आदि के योगदान अति महत्वपूर्ण हैं। जिस प्रकार सितार में मीड़ एवं मिजराब लगाने का ढंग है, उसी प्रकार तबले में दांये, बांये के बोल एवं नाद सृजन का अपना विशिष्ट ढंग है। बांए तबले अर्थात डग्गे के नाद को गंभीरता प्रदान करने में डग्गे का विशिष्ट योगदान है। तबले में उच्चस्तरीय ध्वनि का सामंजस्य ताल, लय, छंद, मात्रा, ठेका, बोल, ध्वनि एवं नाद का समवेत समन्वित रूप है। तबले के बोलों में रसों की प्रासंगिकता है। तबला श्रृंगाररस, वीररस, भक्तिरस एवं शांतरस से परिपूर्ण वाद्य है।

जिस प्रकार व्याकरण के अभाव में साहित्य अर्थहीन हो जाता है, उसी प्रकार नाद, लय के अभाव में संगीत अर्थहीन हो जाता है। वस्तुतः तबला संगीत के लिए एक अनिवार्य व्याकरण तो है ही, वह लय वाद्य के साथ साथ एक स्वर वाद्य भी है। तबले में चमत्कारपूर्ण और निपुण लयकारी के बल पर तबले के लिए अनेकानेक तालों एवं बोलों की रचना संभव हो पाई है। शास्त्रीय कंठ संगीत में सैकड़ों तालों का अनुसंधान सृजनशीलता का प्रमाण है। उसी प्रकार तबले में विविध बोलों और गतों का अनुसंधान सृजनशीलता का पुष्ट प्रमाण है।

अतः कहा जा सकता है कि सृजनशीलता की रक्षा के लिए तबले का सतत् अभ्यास तथा इस अभ्यास से प्राप्त कला एवं विधा का व्यवहार अनिवार्य है।

Scanned with OKEN Scanner

लखनऊ घराने के तबले पर एक दृष्टि

डॉ. प्रवीण उद्धव*

घराने के निर्माण के कुछ कारण होते हैं तभी किसी विशेष प्रकार के वादन की आवश्यकता महसूस होती है। वे कारण इस प्रकार के हो सकते हैं -

राजनैतिक एवं सांस्कृतिक स्थिति, देश की सांगीतिक स्थिति, सामयिक गीतों का प्रचलन, स्थानीय सांगीतिक, राजाश्रय, लोकरूचि इत्यादि। भारतीय संगीत के घराने भी इन्हीं कारणों से नये-नये आयामों के साथ स्थापित हुए हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से दिल्ली नगर में तबला वादन की कला दीर्घकाल तक विकसित एवं फलती फूलती रही। धीरे-धीरे तबले का प्रचार उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों मे होने लगा। इन जिलों मे लखनऊ सर्वप्रथम नगर है जहां तबले का प्रवेश हुआ। लखनऊ उस समय नवाबी सल्तनत अवध की राजधानी था। यहां के नवाब संगीत प्रेमी थे। सन् 1739 ई॰ के आसपास हिन्दू स्थान पर नादिरशाह का हमला हुआ। इस समय मोहम्मद शाह रंगीले का दिल्ली पर शासन था। नादिरशाह के कत्लेआम और आतंक का बादशाह रंगीले पर इतना गहरा प्रभाव हुआ कि उसे संगीत से विरक्ति हो गई और उसने अपने दरबार से संगीत को पूर्णतः समाप्त कर दिया। इस प्रकार दिल्ली का दरबार वीरान हो गया और अधिकतर कलाकार लखनऊ चले गए। दिल्ली के पतन के बाद लखनऊ संगीत का प्रमुख केन्द्र बन गया। उपलब्ध इतिहास के अनुसार दिल्ली के उस्ताद खां के पौत्र उस्ताद मोदू खां और उनके अनुज उस्ताद बख्शू खां भी दिल्ली आकर बस गये।

इन दोनों ने लखनऊ आकर तत्कालीन सांगीतिक परिस्थितियों का निरीक्षण कर उसमें परिवर्तन करना आवश्यक समझा। उन्होंने पखावज की वादन शैली एवं रचनाओं का आधार लेकर उसमें परिवर्तन करना प्रारंभ किया। उन्होंने अपनी नवीन वादन शैली में चांटी से अधिक स्याही को प्रधानता दी उंगलियों के स्थान पर चारों उंगलियों का प्रयोग शुरू किया। बोलो के निकास में स्याही और लव दोनों को प्रधानता देकर गत्त, परन, टुकड़े तथा चक्करदारों का वादन तबले पर बजाना आरंभ किया। यह बाज न तो दिल्ली के समान बंद बाज था और न ही पखावज की तरह थाप वाला खुला बाज। इस प्रकार यह बाज लखनऊ घराने के रूप में पहचाना जाने लगा। उसी समय से देश के पूर्वी भाग में सर्वप्रथम लखनऊ घराना अस्तित्व में आया।

जिस समय लखनऊ की गद्दी पर वाजिद अली शाह आसीन थे वह समय लखनऊ में तबले का उत्कृष्ट काल कहा जा सकता है। वाजिद अली शाह जैसा रंगीन मिजाज और संगीत प्रेमी नवाब और दूसरा कोई नहीं हुआ। इनके समय के लखनऊ दरबार मे गायन, वादन तथा नृत्य संगीत के अद्भुत कलाकार विद्यमान थे। वाजिद अली शाह स्वयं नृत्य एवं वादनकला में दक्ष थे। इसी समय से ही नृत्य संगीत के लिए तबले को प्रधानता दी जाने लगी और आगे चलकर यहां का तबला अपने स्वतंत्र नाम पूरब बाज के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

लखनऊ घराने के संस्थापक उस्ताद बख्शू खां तबला-वादन की कला से अपनी श्रेष्ठता सिद्ध कर चुके थे। दिल्ली के उस्ताद इनाम अली खां के अनुसार बख्शू खां अपने चाचा उस्ताद बुगरा खां के शागिर्द थे। मुहम्मद करम इमाम ने 'मआदनुल-मूसीको'

* व्याख्याता, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

Scanned with OKEN Scanner

में लिखा है - बख्शू खां को तबला वादन की कला में महारत हासिल थी। उनके दोनों बेटों में मम्मन खां के दो पुत्र हुए - मुहम्मद खां तथा नज्जू खां। मुहम्मद खां ने पिता से मिली तालीम में अपनी रचनाओं के योग से लखनऊ घराने को और समृद्ध किया। उस्ताद मुहम्मद खां के तीन पुत्र हुए - जिनमें मुन्ने खां श्रेष्ठ थे। इसका मुख्य कारण यह था कि मुन्ने खां की दोनों भाइयों की तुलना में पिता से अधिक तालीम मिली। इनकी उम्र में काफी अंतर था। पिता उस्ताद मुहम्मद खां का असामयिक निधन हो जाने के कारण आबिद हुसैन की शिक्षा अपने अग्रज उस्ताद मुन्ने खां से ही हुई। जो ख्याति उस्ताद आबिद हुसैन को प्राप्त हुई थी, वो उनके बड़े भाई उस्ताद मुन्ने खां को नहीं मिली थी। उस्ताद मुन्ने खां के पश्चात् उस्ताद हुसैन ने लखनवी परंपरा का दायित्व बखूबी निभाया। उस्ताद आबिद हुसैन एक अद्वितीय तबला वादक थे। सतत् अभ्यास ने उसकी योग्यता एवं कला प्रतिभा को इस सीमा तक उभार दिया था कि देशभर में उनका कोई सानी नहीं था। इन्हें 'नचकरण बाज का खलीफा' कहा जाता था। खलीफा आबिद हुसैन का कोई पुत्र नहीं था केवल एक बेटी थी - काजमी बेगम। उन्होंने अपनी बेटी की शादी अपने भतीजे और प्रमुख शागिर्द वाजिद हुसैन से की। फलस्वरूप उस्ताद आबिद हुसैन के बाद उनके दामाद वाजिद हुसैन लखनऊ घराने के खलीफा हुए। उस्ताद वाजिद हुसैन अपनी कला के प्रति पूर्ण समर्पित थे और जीवनपर्यन्त रियाज करते रहे। खलीफा वाजिद हुसैन मूलतः एकल तबला वादक थे और ऐसे समय में उभरे जब भारतीय संगीत एक महत्वपूर्ण परिवर्तन के संक्रमण काल से होकर गुजर रहा था। खलीफा वाजिद हुसैन के पश्चात उनके पुत्र अफाक हुसैन लखनऊ के खलीफा हुए। उनकी प्रारंभिक शिक्षा अपने नाना उस्ताद आबिद हुसैन से हुई। नाना के देहान्त के पश्चात इनकी शिक्षा अपने पिता खलीफा वाहिद हुसैन के साथ-साथ माता काजमी बेगम से भी हुई। आफाक हुसैन को तमाम बंदिशें अपनी मां से प्राप्त हुई थीं। अपनी युवावस्था में लखनऊ की बदलती परिस्थितियों के कारण वे लखनऊ छोड़कर कलकत्ता चले गए। उस समय कलकत्ता भारतीय संगीत का एक महत्वपूर्ण केन्द्र था। लगभग 12 वर्ष तक वे कलकत्ता मे रहे, जहां उन्होंने संगत एवं स्वतंत्र वादन का प्रदर्शन कर लखनऊ घराने के खलीफा होने का परिचय दिया। बाद में लखनऊ वापस आ गए और उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी के अंतर्गत 'कत्थक केन्द्र' में तबला वादक नियुक्त हुए। पांच वर्ष तक कार्य करने के बाद वे 'कत्थक केन्द्र' छोड़कर लखनऊ दूरदर्शन केन्द्र में विभागीय कलाकार के रूप में नियुक्त हो गए। जीवन के अंतिम दिन तक वे वहीं रहे। खलीफा आफाक हुसैन के दो पुत्र हुए - इल्माम हुसैन तथा इलियास हुसैन। उस्ताद इल्माम हुसैन को तालीम अपने बाबा खलीफा वाजिद हुसैन से आरंभ हुई थी। कठोर प्रशिक्षण और जबरदस्त रियाज के फलस्वरूप इल्माम हुसैन ने अपने बाबा के जीवनकाल में ही अपनी कला का प्रदर्शन करना शुरू कर दिया था, जो आज भी बदस्तूर जारी है।

लखनऊ घराने के अन्य कलाकारों में उस्ताद मुहम्मद खां के भतीजे खलीफा उस्ताद छुट्टन खां एक अच्छे तबला वादक होने के साथ-साथ गुणी कलावन्त तथा सफल शिक्षक थे। अपनी इन्हीं खूबियों के कारण इन्होंने काफी ख्याति पाई थी। इनके शागिर्दों में यशस्वी तबला वादक अकबर हुसैन खान हुए, जो अपने उपनाम बल्लू खां के नाम से अधिक प्रसिद्ध हुए। खलीफा आबिद हुसैन खां के शिष्य उस्ताद जहांगीर खां एक अद्वितीय कलाकार हुए। उस्ताद जहांगीर खां साहब को इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ द्वारा डी॰ म्यूज॰ की मानद उपाधि से सम्मानित किया गया था। खलीफा आदि हुसैन के शिष्य कलकत्ता के पं॰ हीरेन्द्र गांगुली थे, जो हीरू बाबू के नाम से बहुत प्रसिद्ध हुए। हीरू बाबू के शिष्य पं॰ संतोष कृष्ण विश्वास हुए। इनके शिष्य पं॰ सपन चौधरी वर्तमान युग के ख्यातिप्राप्त तबला वादक हैं। खलीफा वाजिद हुसैन के शिष्यों में पं॰ सुदर्शन अधिकारी तथा पं॰ अनिल भट्टाचार्य प्रमुख हैं।

Scanned with OKEN Scanner

लखनऊ घराने की विशेषताएं इस प्रकार है—इस घराने में स्याही तथा लव का प्रयोग अधिक होता है। वादन मे चारों अंगुलियों का प्रयोग किया जाता है। बाएं अंगूठे द्वारा मीड घसीट या घिस्सा उत्पन्न करने की प्रथा घरानेदार वंशजों में देखी जाती है। लखनऊ घराने के कायदे अपेक्षाकृत लंबे होते हैं। दिल्ली का बंद तबला लखनऊ में पखावज और नृत्य के प्रभाव से खुला और जोरदार हो गया। इस घराने पर नृत्य का प्रभाव अधिक होने के कारण कत्थक नृत्य में प्रायः तबला वादक कुछ बंदिशों को पहले मुंह से पढ़ता है फिर उसे तबले पर निकालता है। ठुमरी गायन शैली का प्रचलन होने के कारण इस घराने के कलाकार संगति में लग्गी-लड़ियों का भी प्रयोग करते हैं। इस घराने में तगन्न, दुंग नग-नग किटतक, धेत्ता, धिड़ान, धिनतड़ा-न धेत् धेत् धेड़ेनग, धेतान कड़ा आदि बोल समूह की प्रधानता होती है। धिर-धिर, धागेतिट्, क्डधातिट, धागेतिट धिटधिट्, तिटकत गदीगन धिड़नग, दीगनग त्रकध्धे तकिटधा आदि का प्रयोग लखनऊ घराने की खास पहचान बन गए हैं। इस घराने में कायदे की अपेक्षा विविध लयकारी युक्त टुकड़े, नौहक्का, परन, गत, परन, चक्रदार, स्तुति परने आदि का प्रचलन अधिक है।

इस घराने मे चुने हुए पखावज के बोलों का उपयोग किया जाता है। किनार का उपयोग कम और लव तथा स्याही पर आघात करके स्वरमय अक्षर निकालने की शैली पैदा हुई। तबले पर के अक्षर जोरदार एवं खुले बाजों के अंग से बजाए जाते हैं। लखनऊ के कायदे दिल्ली, अजराड़े के कायदों की अपेक्षा लंबे आकारों के और अलग शब्द संपत्ति से रचित होते हैं। दिल्ली एवं अजराड़ा की पद्धतियों की तरह लखनऊ के तबला वादक कायदों का विस्तार दीर्घकाल तक नहीं करते। कायदों का संक्षेप में विस्तार करके रेला रौ, गत-टुकड़ा, परन, चक्रदार, फर्द आदि वादन प्रकारों पर विशेष बल दिया जाता है।

लखनऊ घराने का कायदा (तीनताल में)

दिगिनधा ग	ऽदिगिन	धाऽऽऽ	धागेतिट
दिगिनधा 2	त्रकधिट	धागेत्रक	धिनागीना
धागेतिट 0	धागेत्रक	धिनागीन	धागेतिट
दिनिगधा 3	त्रकधिट	धागेत्रक	तिनागीना
तिगिनता ग	ऽतिगिन	ताऽऽऽ	तागेतिट
तिगिनता 2	त्रकतिट	तागेत्रक	तिनागीना
धागेतिट 0	धागेत्रक	धिनागीना	धागेतिट
दिगिनधा 3	त्रकधिट	धागेत्रट	धिनगिन

लखनऊ घराना

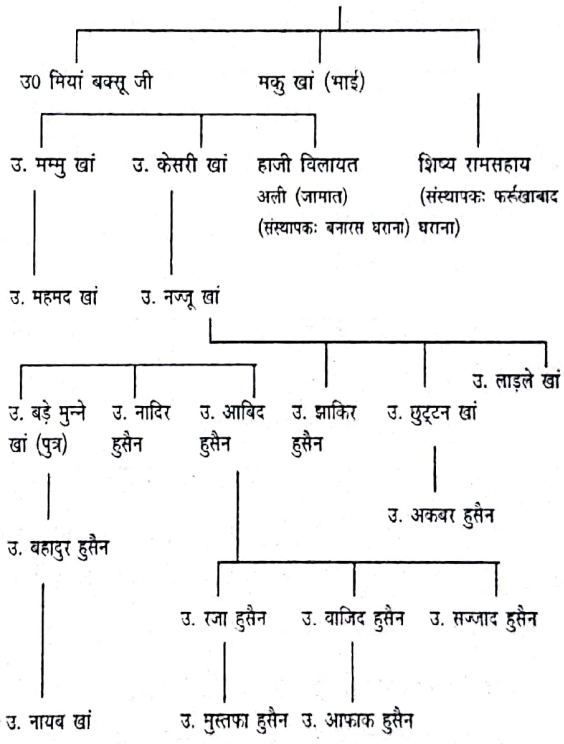

Scanned with OKEN Scanner

चारी

डॉ. लयलीना भट्ट*

'चारी' पारिभाषिक शब्द है, जो गमनार्थक चर् धातु से बना है। चारी अर्थात् चलना, डग भरना। यह नृत्त, नृत्य एवं नाट्य-कला का अविभाज्य अंग है, इसके अभाव में गति ;उवअमउमदजद्ध संभव नहीं है। आचार्य भरत ने 'नाट्य-शास्त्र' में चारी की परिभाषा देते हुए लिखा है -

एवं पादस्य जङ्घाया उरोः कट्यास्तथैव च।
समानकरणे चेष्टा चारीति परिकीर्तिता।। [1]

अर्थात् पैर, जङ्घा, उरु तथा कटि अंगो की एक साथ चलनात्मक चेष्टा 'चारी' कहलाती है। कुछ भिन्न शब्दों में किंतु समान आशय की परिभाषा पं. शार्ङ्गदेव-कृत 'संगीत-रत्नाकर' एवं श्री अशोक मल्ल - विरचित 'नृत्याध्याय' में मिलती है। संगीत रत्नाकर में चारी की परिभाषा निम्नलिखित है -

विचित्रमङ्घ्रिजङ्घोरुकटीकर्म समं कश्तम्।
चारी स्यात्करणे डीषि चरेरिप्रत्ययान्ततः।। [2]

श्री अशोक मल्ल के अनुसार चारी की परिभाषा–

या नर्तनेऽङ्घ्रिजङ्घोरुकटिना युगपत्कश्तः।
चेष्टाकृतिविशेषः सा चारी सद्भिरुदीरिता।। [3]

चारी के बारे में विशेष बात यह है कि मात्रा एक पैर से भरा जाने वाल डग चारी कहलाता है।

. . . . . .

'एकपादप्रचारो यः सा चारीत्यभिसंज्ञिता।। [4]

स्पष्ट है कि केवल एक पैर के डग से नाट्य अथवा नृत्य में गत्यात्मकता का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता अतः क्रमशः दूसरे, तीसरे तथा चौथे डग की आवश्यकता होती है। इस क्रम में संज्ञा बदल जाती है -

द्वङ्घ्रिप्रचारः करणं खण्डस्तु करणैस्त्रिभिः।
खण्डैस्त्रिभिश्चतुर्भिर्वा मण्डलं स्यात् क्रमेण तु।। [5]

अर्थात् दोनों पैरों से होने वाली गति करण, उसी प्रकार 3 करण यानि 6 डग को खण्ड तथा 3 या 4 खण्ड यानि 18 से 24 डग या जमचे से एक मण्डल बनता है। यद्यपि आज के परिदृश्य में ये सारी संज्ञाएं प्रयुक्त नहीं होतीं। यहाँ जिस करण का उल्लेख हुआ है वह नाट्य-शास्त्र में वर्णित 108 नृत्त करणों (तलपुष्पपुट गंगावतरण) से भिन्न है। श्शार्ङ्गदेव ने स्पष्ट किया है -

. . . . . .

'पादद्वयेन करणं तन्नृत्तकरणात्पृथक्' ।।[6]

कल्लिनाथ ने अपनी टीका में इसे और स्पष्ट किया है

"करपादादिक्रियात्मकं नृत्तकरणं, केवलं पादादिक्रियात्मिका चारीति भेदोऽवगन्तव्य इत्यभिप्रायः।[7]

आचार्य कल्लिनाथ की टीका से स्पष्ट है कि नृत्तकरण (तलपुष्पपुट आदि) हस्त एवं पैरों की सम्मिलित क्रिया है तथा चारी के अंतर्गत 'करण' (दो पैरों की गति) में केवल पैरों की गत्यात्मकता अभीष्ट है। अतः दोनों करणों (नृत्तकरण तथा द्वयङ्घ्रिप्रचारः करणं) के बीच भेदक तत्त्व में हस्तयुक्त पादक्रिया तथा हस्तरहित पादक्रिया की अवधारणा समझ में आती है।

* काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

Scanned with OKEN Scanner

इस बिंदु पर थोड़ा विचार करना आवश्यक है। 'नाट्य-शास्त्र', 'संगीत-रत्नाकर', 'नृत्याध्याय' तथा 'अभिनय-दर्पण' में चारियों के लक्षणों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि ऊपर उल्लिखित नियम के अनुपालन में थोड़ा लचीलापन है। अपवाद स्वरूप कुछेक चारियों के लक्षण में हस्तमुद्राओं का उल्लेख है। अतः हस्तमुद्रा सहित पादक्रिया तथा हस्तमुद्रारहित पादक्रिया एक सामान्य नियम ही प्रतीत होता है, अनिवार्य शर्त नहीं।

उदाहरणार्थ नाट्य-शास्त्र, संगीतरत्नाकर एवं नृत्याध्याय इन तीनों ग्रंथों में भौमी चारी के अंतर्गत **'जनिता'** में हस्तमुद्रा का उल्लेख है -

मुष्टिहस्तश्च वक्षस्थः करोऽन्यश्च प्रवर्तितः।
तलसंचरपादश्च जनिता चार्युदाहृता।। [8]

आचार्य भरत ने भौमी चारी के अंतर्गत एक अन्य चारी **मत्तल्ली** में भी हस्त का उल्लेख किया है–

उभाभ्यामपि पादाभ्यां घूर्णमानोपसर्पणैः।
उद्वेष्टितापविद्धैश्च हस्तैर्मत्तल्युदाहृता।। [9]

जबकि 'संगीत-रत्नाकर' तथा नृत्याध्याय' दोनों में ही मत्तल्ली चारी के लक्षण में हस्त का उल्लेख नहीं है।

भूमिश्लिष्टाखिलतलौ जङ्घास्वस्तिकसंयुतौ।
अर्धयश्रौ यदा पादौ घूर्णन्तौ वोपसर्पतः।।
यद्वापसर्पतः सा स्यान्मत्तल्ली तरुणे मदे।
. . . .।। [10]

इसके विपरीत भौमी चारी के अंतर्गत ही श्री अशोक मल्ल के नृत्याध्याय में तथा पं. शार्ङ्गदेव के 'संगीत-रत्नाकर' में उत्संदिता/उत्स्पंदिता चारी में अन्य विद्वानों के मत से रेचित नामक नृत्त हस्त के प्रयोग का उल्लेख है जबकि आचार्य भरत के नाट्य-शास्त्र में उत्स्पंदिता चारी में हस्त का उल्लेख नहीं है। अस्तु।

नाट्य-शास्त्र में उल्लिखित चारियों के सभी भेदों में (कुछेक को छोड़कर) अधिकांश पाद-योजना ही बताई गई है किंतु आगे आचार्य भरत पाद-योजना के अनुकूल हस्तव्यापार करने की सलाह देते हैं। अतः कल्लिनाथ की टीका में जो बिंदु उभरकर आया है उसकी पुष्टि आचार्य के निम्न श्लोकों में नहीं होती। आकाशचारियों के लक्षण बताने के उपरांत वे सामान्य नियम बताते हुए कहते हैं कि -

आकाशिक्यः स्मृता ह्येता ललिताङ्गक्रियात्मिकाः।
धनुर्व्रजासिशस्त्राणां प्रयोक्तव्या विमोक्षणे।।
अग्रगौ पृष्ठगौ वापि ह्यनुगौ वापि योगतः।
पादयोस्तु द्विजा हस्तौ कर्तव्यौ नाट्ययोक्तृभिः।।
यतः पादस्ततो हस्तो यतो हस्तस्ततो त्रिकम्।
पादस्य निर्गमं कृत्वा तथोपाङ्गानि योजयेत्।।
पादचार्यां यथा पादो धरणीमेव गच्छति।
एवं हस्तं चरित्वा तु कटीदेशं समाश्रयेत्।। [11]

संक्षेप में इसका आशय यह है कि पैरों की गति के अनुसार हस्तों की योजना हो पाद का एक डग भरने के उपरांत उपांगों की योजना हो तथा 'चारी' के प्रदर्शन के पश्चात् जैसे पैर भूमि पर पड़े वैसे ही हस्त को अपने इष्ट प्रदर्शन के बाद गोल घुमाव लेकर कटि पर रखना चाहिए।

चारी के प्रयोग में प्रमुख महत्त्व पादयोजना का होने के उपरांत भी पादक्रियानुसारी हस्तयोजना बताने का कारण यह है कि चारी की योजना नृत्य एवं नाट्य के अतिरिक्त शस्त्रामोक्षण एवं युद्ध के लिए भी अपरिहार्य है, अनिवार्य है। स्पष्ट है कि शस्त्रामोक्षण में हस्तक्रिया भी अपेक्षित होती है।

'संगीत-रत्नाकर' तथा 'नृत्याध्याय' में भी चारी में विषय अथवा प्रयोग पर आधारित, प्राधान्य के अनुसार पादानुसारी अथवा हस्तानुसारी अन्य अंगों की क्रिया करने का निर्देश है। यह स्पष्ट कहा गया है कि चारी के समापन पर जिस प्रकार पैर वापस भूमि पर आते हैं उसी प्रकार हस्त क्रियाएं करने के उपरांत उन्हे कटितट पर अवस्थित करना चाहिए जबकि प्रत्येक नृत्तकरण में पादक्रियाओं के साथ विशिष्ट हस्त मुद्राओं की विशिष्ट क्रियाएं अपेक्षित हैं। नृत्त करण की समाप्ति हस्त-पाद युक्त एक विशिष्ट मुद्रा पर होती है। यहां हस्त को कटि देश पर अवस्थित करने का सूचन नहीं है।

Scanned with OKEN Scanner

नृत्त करण के अंतर्गत **तलपुष्पपुट** का लक्षण -

. . . . . .

व्यावर्तनात्करयुगे दक्षिणं पार्श्वमागते।।
परिवर्तनतो वामपार्श्वं संनतमाश्रिते।
तत्कुचक्षेत्रसंविष्टो यस्य पुष्पपुटः करः।
तलपुष्पपुटं तत्स्यात्पादेऽग्रतलसंचरे।

. . . . . .।।[12]

अतः नृत्तकरणों के अंतर्गत विशिष्ट हस्तमुद्राएं करणों की संरचना के अनिवार्य अंग के रूप में योजित हैं जबकि चारी के अंतर्गत करण में मात्र विषयाधारित पादानुसारी क्रिया अपेक्षित है।

'चारी-विधान' विस्तृत एवं गहन अध्ययन की अपेक्षा रखता है। एक ही प्रपत्र में उसे समेट लेना अत्यंत दुष्कर है। यहाँ मात्र आचार्य भरत-कृत 'नाट्य-शास्त्र' पं. शार्ङ्गदेव-कृत 'संगीत-रत्नाकर' तथा श्री अशोक मल्ल-विरचित नृत्याध्याय में वर्णित चारियों के भेदों तथा संख्या का विवरण प्रस्तुत है।

नाट्य-शास्त्र	16 भौमी चारी 16 आकाश चारी
संगीत-रत्नाकर	16 भौमी चारी 16 आकाश चारी
संगीत-रत्नाकर	54 देशी चारी (35 भौमी 19 आकाश चारी)
संगीत-रत्नाकर	26 मधुपा चारी
नृत्याध्याय	16 भौमी चारी 16 आकाश चारी
नृत्याध्याय	54 देशी चारी (35 भौमी 19 आकाश चारी)
नृत्याध्याय	25 मुडुप चारी

जैसा कि नाम से स्पष्ट है, भौमी चारी अर्थात् भूमि पर चलना और आकाशिकी अर्थात् आकाश में यानि भूमि छोड़कर चलना। जो क्रिया हो वह आकाश में हो। ऊपर उल्लिखित तीनों ग्रंथों में भौमी व आकाशिकी चारियों के लक्षण, भेद एवं विनियोग सबका विवरण है।

नन्दिकेश्वर-कृत 'अभिनय-दर्पण' में चारी की परिभाषा नहीं दी है, न ही 'करण', 'खण्ड' एवं 'मण्डल' संज्ञाओं का प्रयोग है। भौमी चारी एवं आकाश चारी का विभाजन भी इस ग्रंथ में नहीं है। मात्र चारी के 8 भेदों को गिनाते हुए उसके लक्षण दिए हैं। जिसमें 'सरण' एवं वेगिनी चारी में हस्त मुद्राओं का उल्लेख है।

संदर्भ

1. नाट्य-शास्त्र - 11/1
2. संगीत-रत्नाकर - 7/897
3. नृत्याध्याय - 10/949
4. नाट्य-शास्त्र - 11/3
5. नृत्याध्याय - 10/953
6. संगीत-रत्नाकर - 7/900
7. वही
8. नाट्य-शास्त्र - 11/25
9. वही - श्लोक सं. - 28
10. संगीत-रत्नाकर - 7/930, 31
11. नाट्य-शास्त्र - 11/46-49
12. संगीत-रत्नाकर - 7/568 - 70

Endnotes

1. हिन्दी नाट्य शास्त्र, द्वितीय भाग, प्रथम संस्करण, बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1978।
2. Sangitratnakara of Sarangadeva. Vol. IV, Adhaya 7, Ed. by S. Subrahmanya Sastri, the Adyar Library 1953.
3. अशोक मल्ल विरचित नृत्याध्याय, अनुवाद, प्रथम संस्करण, अनु. वाचस्पति गैरोला, संवर्तिका प्रकाशन, 1969।

विशेष - भरत-नाट्यम् की ख्यातिप्राप्त नर्तकी डॉ. पद्मा सुब्रहमण्यम ने नाट्य-शास्त्र के पाठ्य के आधार पर आकाश-चारियों के प्रयोग में विशेष निपुणता अर्जित की है तथा अपने सोदाहरण व्याख्यानों में इनका सफलता पूर्वक प्रयोग करती हैं।

Scanned with OKEN Scanner

प्रबंध-परंपरा

अमी मोदी*

हिन्दुस्तानी संगीत में गीत के दो भेद गंधर्व व गान, और गान के दो भेद अनिबद्ध और निबद्ध गान माने गए हैं। निबद्ध गान के तीन भेद प्रबंध, वस्तु, रूपक पर्याय से लगते हैं परंतु निबद्ध गान के एक एक पहलू को इन तीन संज्ञाओं से ही स्पष्टता मिलती है।

प्र + बंध अर्थात् प्रकृष्टरूपेण बन्धः।

अर्थात् वह गेय रचना जिसमें धातु या अंगों को भली भांति सुंदर रूप से बांधा गया हो। साधारण अर्थ में प्रबंध को बंदिश कहा जा सकता है। संगीत में प्रबंध की परिभाषा वह गान या बंदिश, जो धातु या अंग द्वारा रची गई है, प्रबंध है।

अनुमानतः भरतकाल से पूर्व ही 7 गीतों का प्रचलन हो चुका था। मंद्रक, अपरांतक, उल्लोप्यक, प्रकरी, ओवेणक, शेविन्दक तथा उत्तर वर्धमानक। भरत से मतंगकाल, नाटक से पृथक संगीत की जो स्वतंत्र विधाएं व्यवहार में आईं, वे प्रबंध थीं जो मतंग के काल तक अच्छी तरह से स्थापित हो चुकी थी।

"संगीत रत्नाकर" तक छः प्रबंध अंगों का स्पष्ट उल्लेख देखने को मिलता है। उनके लक्षणों से प्राप्त स्वरूप में, प्रबंधों की पुरूष रूप में कल्पना, राग के ही समान स्थापित मिलती है। जिस प्रकार पुरूष का शरीर धातुओं को धारण करता है, उसी प्रकार प्रबंध भी चार धातु और छः अंगों से अपना आकार ग्रहण करता है। स्वरअंश धातु है और अंग मातु है।

"वातपित कफा देह धारणात धातवो यथा।
ऐवमेते प्रबंधस्य धातवो देह धारणात।।"

धातु चार मानी गई है।

1. उद्ग्राह - उद्ग्राहयते येन गीतं स उद्ग्राह इति। अर्थात् जिससे गीत का उद्ग्राहन हो।

2. ध्रुव - अनिवार्य धातु, जिसका त्याग नहीं किया जा सकता। आधुनिक काल के स्थायी के साथ उसकी तुलना की जा सकती है।

3. मेलापक - वह भाग जो उद्ग्राह और ध्रुव का मेल करनेवाला हो।

4. आभोग - जो समाप्ति तक चले अर्थात् जो अंतिम भाग है। आगे चलकर इसके पूर्वभाग को संचारी संज्ञा दी गई।

धातुओं को आप्तरिक्त घटक मानकर जिस प्रकार, पुरूष के शरीर में छः अंग-दो हाथ, दो आँखें और दो पैर हैं, वैसे ही प्रबंध के छः

अंग - तेनक (मंगलवाचक शब्द)
पद - (सार्थक शब्द समूह)
पाट - (वाद्याघात से उत्पन्न ध्वनि)
विरूद - (नायक गुण वर्णन)
ताल और स्वर।

कुछ प्रबंधों में ये छः अंग रहते थे, तो कुछ में इनकी संख्या कम भी होती थी। इसी आधार पर प्रबंधों की पांच जातियां मानी गई हैं।

अंग	प्रबंध की जाति
6	मेदिनी
5	आनंदिनी
4	दीपिनी
3	भाविनी
2	तारावली

* Lecturer, Vocal Department, Faculty of Performing Arts, M.S. University, Baroda.

Scanned with OKEN Scanner

वैसे पार्श्वदेव ने छः अंगों की रचना को ही प्रबंध कहकर शेष को वस्तु माना है।

डॉ. प्रेमलता शर्मा के अनुसार

"जब किसी रचनागत विभिन्न तत्वों का गुंफन लक्षार्थ में हो, तो वह प्रबंध है।" अंतरग रचनागत सूक्ष्मरूपेण नाटकीय तत्व विद्यमान, उनको प्रकट करने का लक्ष्य जिस रचना में हो वह रूपक है।

ये तीनों संज्ञाएं आगे चलकर पर्यायवाची मान ली गई।

मतंग ने "बृहद्देशी" में 49 प्रबंधों का वर्णन किया है। वैसे तो मतंग के समय तक असंख्य प्रबंधों का निर्माण हो चुका था। जैसे - द्विपदी, आर्या, गजलीला, आदि। ये प्रबंध संस्कृत के अतिरिक्त गौड़ लाट, द्रविड़ आदि भाषाओं में निबद्ध रहते थे।

शारंगदेव गेय प्रबंध के तीन भेद बताते हैं।

1. सूड प्रबंध
2. आलिक्रम प्रबंध
3. विप्रकीर्ण प्रबंध

राणाकुंभा के अनुसार, जो भी स्वतंत्र रूप से गेय है, विप्रकीर्ण प्रबंध है। इस आशय से आज की बंदिशें, इस वर्ग में आ जाती है। राणाकुंभा, "गीत गोविन्द" को मिश्रसूढ़ संज्ञा देते है। सूढ़ और आलिक्रम के संबंध में कोई स्पष्टता प्राप्त नहीं। सूढ़ देशज शब्द है, संस्कृत नहीं। "गीत गोविन्द" यदि मिश्र सूढ़ है, तो यह कहा जा सकता है कि प्रबंध समूह में एकतानत्व रहकर भी प्रत्येक प्रबंध स्वतंत्ररूप से गेय है। तालबद्धता भी सूढ़ संज्ञा का कारण हो सकती है।

सूढ़ के दो भेद - 1. शुद्ध सूढ़ 2. सालग सूढ़

सालग सूढ़ प्रबंध में अंतरा, धातु की स्थिति मानी गई है। इससे वर्तमान ध्रुपद निकला हुआ माना जाता है।

कुछ प्रबंधों का नामकरण ताल के आधार पर हुआ है। जैसे पंचतालेश्वर प्रबंध - पांच ताल युक्त। एक से अधिक, राग प्रयुक्त होते हों वह "राग कदम्ब प्रबंध" है। छंद आधार को लेकर "कलहंस प्रबंध" कहा गया है।

इस प्रकार, प्रबंध भेद के अनेक आधार - विषयवस्तु, राग, ताल, छंद, रचना वैचित्र्य आदि है। शारंगदेव और राणाकुंभा द्वारा लगभग 300 संख्या के विशाल प्रबंध भेद वर्णित है। परंतु सब प्रबंध रूप समाप्त हो गए। वैसे इसका कारण जटिलता, तालों की बड़ी संख्या, रूढ़िवद्धता व नीरसता माना जाता है। फिर भी उत्तरी संगीत और दक्षिणी संगीत के वर्तमान सभी गीत प्रकारों के विकास का संबंध इन्हीं प्रबंधों से माना जाता है। भले ही प्रत्यक्षतः संदर्भ स्पष्ट रूप से प्रभावित न हो पाए।

प्रबंध धातु के उदाहरणतः श्री जयदेवकृत "गीत गोविन्द" का यह भाग दृष्टव्य है।

वीहरित हरिरिह सरस बसन्ते (उद्ग्राह)
नृत्यति युवतिजनेन समसाखे
विरही जनस्य दुरन्ते (मेलापक)
ललित लवंगलता परिषीलन
कोमल मलय समीरे (ध्रुव)
मधुकर निकर करंबित कोकिल
कुंजति कुंज कुहीरे (आभोग)

इस प्रकार प्रकृष्टरूप से बंधा गीत "प्रबंध", उसका रूप खड़ा करना लक्षार्थ में हो, तो "रूपक", जो कि गीत में नाट्यतत्व, की विद्यमानता का संकेतन भी है और इससे जो चीज तैयार होगी, वह वस्तु नाम से जानी गई।

आज भी बंदिशे को चीज कहा जाता है, यह प्रबंध परंपरा लुप्त है, पर हमारे आज के संगीत का आधार बनी हुई है।

Scanned with OKEN Scanner

'स्वतंत्रता प्राप्ति पश्चात् भोपाल का सांगीतिक विकास - एक तथ्यात्मक अध्ययन'

डॉ. रवि कुमार पंडोले*

संगीत की ध्रुपद शैलियाँ व उनके कलाकार

संगीत शब्द के अन्तर्गत गायन, वादन तथा नृत्य इन तीनों ही कलाओं का समावेश होता है। ऐसी सभी भारतीय कलाकारों, विचारकों, साहित्यकारों एवं विद्वानों की मान्यता सदा से रही है। इसका प्रमाण हमारे प्राचीन से अर्वाचीन समय तक लिखे गये सभी ग्रन्थों में मिलता है। प्राचीन समय से ही गायन, वादन और नृत्य तीनों कलाओं में गायन को अधिक श्रेष्ठ माना गया है। अन्य कलाएँ उसकी अनुगामिनी कही गई हैं। वर्तमान समय में प्रत्येक कला (गायन, वादन, नृत्य) स्वतंत्र रूप से विकसित हुई हैं। कुछ प्रतिभावान, परिश्रमी वादक कलाकारों ने अपनी-अपनी शैली में पर्याप्त संशोधन कर प्रत्येक वर्ग के वाद्यों में अपनी-अपनी कल्पना से नवीन वादन शैली विकसित की है और प्रत्येक वाद्य को स्वतंत्र रूप से वादन योग्य निर्मित किया। इस प्रकार से स्वतंत्र वादन के लिए अपना अस्तित्व स्थापित करने वाले वाद्यों में वीणा, सितार, सरोद, सारंगी, वायलिन, बाँसुरी, शहनाई, पखावज, तबला, संतूर, हारमोनियम, गिटार आदि हैं।

ध्रुपद गायन

पदमश्री स्व. बेगम असगरी बाई -

ओरछा दरबार की परम्परा साहित्य और संगीत के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण स्मारक है। उसी स्मारक के एक पुराने जीर्ण-शीर्ण खण्डहर का नाम बेगम असगरी बाई है। आपकी मां नजीर बेगम यहां के राधामाधव मंदिर की गायिका थी। सन् 1918 के श्रावण मास में झूला उत्सव में आपको विजावर राज्यप्रसाद स्थित मंदिर में गाते-गाते प्रसूति हो गई और असगरी बाई का जन्म हुआ। बेगम असगरी बाई ने कुल परम्परा में बुलन्द आवाज पाई। उस पर गोहद निवासी उस्ताद जहूर खां ने संगीत की बहुमुखी तालीम देकर उनमें वह विशेषता पैदा की जो बहुत कम महिला कलाकारों में होती है। वैसे तो आप ठुमरी, दादरा, लेद, गजल, लोकगीत सभी गाती थी किन्तु ध्रुपद, धमार की क्लिष्ट लय प्रधान गायकी के साथ-साथ बुन्देलखण्ड की प्रमुख गायिकी आपकी अपनी विशेषता थी। प्राचीन, परम्परानिष्ठ और मूलतः पुरूष प्रधान संगीत माने जाने वाले ध्रुपद गायन के क्षेत्र में श्रीमती असगरी बाई सम्पूर्ण एशिया में ध्रुपद की वरिष्ठ और प्रतिष्ठित एकमात्र महिला गायिका थी। वे एक लम्बे समय तक ओरछा रियासत की राजगायिका रहीं।

ध्रुपद की जटिल शैली में राग व्याकरण की शुद्धता के साथ रसानुभूति का संयोग उनके गायन की पहचान बना। शास्त्रीय संगीत की विभिन्न विधाओं में अपने गले को आजमाने वाली असगरी बाई ने संगीत की सभाओं में दादरा, लेद, रसिया, पद, भजन और लोकगीतों को अपने अंदाज में पेश कर शास्त्रीयता की ऐसी अनूठी महक घोली कि जिसने सुना वह झूमने पर मजबूर हो गया। गायकी के इस अंदाज से असगरी बाई को शोहरत मिलने का सिलसिला शुरू हुआ तो फिर थमा नहीं। उनके गायन के स्मरणीय प्रदर्शन विभिन्न कला केन्द्रों में हुए और उन पर केन्द्रित 45 मिनट की एक लघु फिल्म भी बनाई गई है। उन्हें म.प्र. शासन के शिखर

* प्रवक्ता, राजकीय एम.एल.बी.जी.पी.जी. कॉलेज, भोपाल

Scanned with OKEN Scanner

सम्मान, तानसेन सम्मान, उस्ताद हाफिज अली स्मृति पुरस्कार, केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार, भारत सरकार का पद्म श्री सम्मान से सम्मानित किया गया।

20 मई 2005 को पद्म श्री असगरी बाई जिन्दगी और मौत के बीच झूलते हुए जयारोग्य चिकित्सालय में गंभीरावस्था में उपचार के लिए भर्ती कराई गई थी। पर संयोग से कुछ दिनों के उपचार के बाद वे जिन्दगी की जंग जीत गई थी। डेढ़ दशक पहले उनके गले ने थक-हार कर उनका साथ छोड़ा था तो बरसों की स्वर साधना उनके भीतर एक छटपटाहट बनकर रह गई थी। गले में स्वर न फूट पाने की लाचारी के चलते जन्मी छटपटाहट की संगत सांसो के साथ चल रही थी। जयारोग्य चिकित्सालय में जब कभी उनकी बेहोशी की तंन्द्रा भंग होती तो उनके हाथों की अंगुलियां अचानक उसी अंदाज में चलने लगती, जैसे वे किसी संगीत सभा में बैठी अपना गायन प्रस्तुत कर रही हो। नब्बे के दशक में असगरी बाई के गले ने उनका साथ देना छोड़ दिया था। चार दिन के बाद जब वे स्वस्थ हुई तो उनके गले से, कांपते होठों पर फूटा था - "सुमरन कर मन राम नाम की।" यह पद उन्हें बेहद पसन्द था।

पद्म श्री असगरी बाई की सांगीतिक विरासत को संभालने वाला कोई नहीं है। उनके चार बेटो और तीन बेटियों का परिवार है परन्तु ध्रुपद गायकी की विरासत को संभालने के लिए कोई शिष्य न तलाश पाने की इच्छा उनकी पूरी न हो सकी। वे अपनी सात संतानों में से किसी एक को अपनी संगीत की परम्परा में लाना चाहती थी। पर उनके पति चमन लाल गुप्ता ने उन्हें इसकी इजाजत नहीं दी और बाद में उन्हें कोई दूसरा शिष्य भी नहीं मिला।

कहा जाता है कि असगरी बाई समाज और म. प्र. शासन से अंतिम समय तक सदैव उपेक्षित रही। उन्हें वह स्थान नहीं मिला। उनका अधिकांश समय परेशानियों में व्यतीत हुआ। उनके पति की मृत्यु के पश्चात् अपनी सात संतानों के पालन पोषण के लिए उन्हें बीड़ी बनाने का कार्य भी करना पड़ा। वे प्रायः पूरी रात संगीत साधना (रियाज) में व्यतीत कर देती थी। उनका 9 अगस्त 06 को प्रातः 9.30 बजे टीकमगढ़ म.प्र. में देहावसान हो गया।

उस्ताद जिया फरीदुद्दीन डागर -

आपका जन्म 15 जून 1932 को उदयपुर राजस्थान में हुआ। आपके परिवार ने शास्त्रीय ध्रुपद गायन में अपना वर्चस्व लगभग चार सौ वर्षों से प्रसिद्धि के साथ आज पर्यन्त स्थापित करके रखा है। आपने ध्रुपद संगीत की शिक्षा 13 वर्ष की आयु से अपने पिता उस्ताद जियाउद्दीन डागर जो श्रेष्ठ वीणा वादक और संस्कृत के विद्धान थे, से प्राप्त किया बाद में इन्होंने अपने बड़े भाई उस्ताद जिया मोहिउद्दीन खां डागर से संगीत शिक्षा ग्रहण की। आप भारत के उन गायकों में से हैं जो लहक, डगर, धुरन, गुरन, हुतक व गमक जैसी कठिन तकनीकों को अपने गले से बड़ी सहजता से पैदाकर सकते हैं। आपके आलाप का वैभवपूर्ण अलंकरण विरले ही कहीं सुनने को मिलता है। गुरू शिष्य परम्परा के तहत आपके अनेक शिष्य ध्रुपद परम्परा को विकसित कर रहे हैं। सभी प्रतिष्ठित संगीत सम्मेलनों में शिरकत के अलावा आप अनेक देशों की संगीत यात्राएं कर चुके हैं। आपको संगीत नाटक अकादेमी सम्मान, महाराणा कुंभा सम्मान, तिरूनाल ध्रुपद सम्मान, रसेश्वरी सम्मान मुंबई, डागर घराना सम्मान, तानसेन सम्मान, राजस्थान संगीत नाटक अकादेमी सम्मान प्राप्त हो चुके हैं।

म.प्र. शासन ने ध्रुपद केन्द्र में आपको गुरू नियुक्त किया तथा ध्रुपद केन्द्र से निम्न कलाकारों, शिष्यों को आपने ध्रुपद में निष्णात किया। वर्तमान में आप मुम्बई में निवास कर रहे हैं।

आपने ध्रुपद केन्द्र भोपाल में निम्न शिष्यों को तैयार किया है।

भोपाल ध्रुपद केन्द्र से प्रशिक्षित शिष्यगण-

उमाकांत रमाकांत गुंदेचा, उदय भवालकर, अभय तिवारी, अफजल हुसैन, मनोज सराफ, भूपेन्द्र पाठक, सुलभा चौरसिया, सोम बाला सातले, सुरेखा काम्बले, कमलेश तिवारी, विशाल जैन आदि।

उमाकांत रमाकांत गुंदेचा -

उमाकांत गुंदेचा का जन्म 05 मई 1956 तथा रमाकांत गुंदेचा का जन्म 24 नवम्बर 1962 उज्जैन में हुआ। उमाकांत की शिक्षा एम.ए. अर्थशास्त्र एवं

Scanned with OKEN Scanner

एम.ए. संगीत में हुई रमाकांत की शिक्षा एम.काम. एवं एम.ए. संगीत में हुई। ध्रुपद की युवा पीढ़ी के अग्रणी गायक गुंदेचा बंधु को संगीत की प्रेरणा अपनी माता तथा पिता श्री चान्दमल गुंदेचा से मिली। आपकी संगीत की प्रारंभिक शिक्षा माधव संगीत महाविद्यालय में उज्जैन से हुई। बाद में आपको ध्रुपद का उच्च प्रशिक्षण मध्यप्रदेश शासन द्वारा स्थापित ध्रुपद केन्द्र भोपाल में उस्ताद जिया फरीदुद्दीन डागर से मिली। आपको स्व. उस्ताद जिया मोहिउद्दीन डागर का भी सान्निध्य प्राप्त हुआ।

आप देश के लगभग सभी प्रतिष्ठित संगीत समारोहों में शिरकत कर चुके हैं तथा यूरोप, अमेरिका की भी अनेक सांगीतिक यात्राएं कर चुके हैं। म्युजिक टुडे, एच.एम.व्ही. और रिद्म हाउस ने आपकी अनेक केसेट्स जारी की हैं। आपने कबीर, निराला, तुलसीदास, केशवदास आदि महाकवियों की कश्तियों को ध्रुपद शैली में भी गाया है। आपको 1987-89 में नेशनल फैलोशिप, 1993-94 में उस्ताद अलाउद्दीन खां फैलोशिप तथा 1994 में संस्कृति अवार्ड मिला है। 1999 में म.प्र. शासन का राष्ट्रीय कुमार गंधर्व सम्मान, डागर घराना सम्मान 2001, भोपाल में ध्रुपद संस्थान के तहत गुरूकुल की स्थापना। भारत एवं विदेशों में अनेक कार्यक्रम व विद्यार्थियों को गुरूकुल में संगीत प्रशिक्षण।

अफजल हुसैन -

अफजल हुसैन का जन्म मध्यप्रदेश के दतिया जिले में एक सांगीतिक परिवार में दिनांक 9 जून 1973 में हुआ। आपको बचपन से संगीत में विशेष रूचि थी। आपने अपने दादा मेहमूद खान से संगीत की प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त की। आपने ध्रुपद केन्द्र भोपाल से उस्ताद जिया फरीदुद्दीन खां डागर और रूद्र वीणा वादक उस्ताद जिया मोहिउद्दीन डागर से ध्रुपद की शिक्षा प्राप्त की। आपको म.प्र. शासन की उस्ताद अलाउद्दीन खां संगीत अकादमी से छात्रवृत्ति भी प्राप्त हुई।

आज आप युवा ध्रुपद गायक के रूप में स्थापित हो चुके हैं तथा ध्रुपद परम्परा को विकसित कर रहे हैं। आपको मानव संसाधन विकास मंत्रालय भारत सरकार की राष्ट्रीय छात्रवृत्ति भी 1994 से 1997 तक प्राप्त हुई है। आपके आकाशवाणी तथा दूरदर्शन से कई कार्यक्रम प्रसारित होते रहे हैं। आपने एम. जी.एम. संगीत अकादमी के अनेक निर्माताओं के लिए संगीत रचना की है। एम.जी.एम. में आप 4 वर्षों से गुरू के रूप में ध्रुपद प्रशिक्षण दे रहे हैं।

आप वर्तमान में नाद फाउण्डेशन के अध्यक्ष हैं तथा गुरू शिष्य परम्परा के तहत ध्रुपद शास्त्रीय संगीत की शिक्षा दे रहे हैं आपने अनेक प्रतिष्ठित समारोहों में अपना कार्यक्रम प्रस्तुत किया है। जैसे - ध्रुपद समारोह, 1991 भोपाल, तानसेन समारोह 1994 एवं 2004 ग्वालियर, ध्रुपद मेला 1994 एवं 2004 वाराणसी, बरसी, 1997 जयपुर, म.प्र. संगीत समारोह 1994 बालाघाट, कुमार गंधर्व समारोह 1994 विदिशा, स्वामी हरिदास संगीत समारोह 1975, बर्सी बेंगलौर 2000, स्वामी भगवानदास ध्रुपद समारोह, लखनऊ 1996, आरंभ, भारत भवन, 1997, खजुराहो समारोह अक्टूबर 2001 एलोरा समारोह 2003, संगीत नाटक अकादमी 'संगीत प्रतिभा' धारवाड़ 2005 आदि।

सुरेखा कामले -

सुरेखा काम्बले 400 वर्ष पुराने सुप्रसिद्ध डागर घराने के उस्ताद जिया फरीदुद्दीन डागर की शिष्या है। मध्यमवर्गीय मराठी परिवार में जन्मी सुरेखा इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़ संगीत में एम.ए. (कोविद) किया। आपको उस्ताद अलाउद्दीन खां संगीत अकादेमी द्वारा छात्रवृत्ति प्राप्त हुई। इसमें उन्होंने अपने परिवार से अलग रहकर ध्रुपद गायन की साधना की। सुरेखा के द्वारा ध्रुपद सभी विधाओं में अत्यन्त कठिन गायकी है। सुरेखा आज भी सुबह चार बजे खरज की साधना करती है। सुरेखा देश के कई प्रतिष्ठित संगीत समारोहों में जैसे हरिदास, तानसेन, भातखण्डे, उत्तरा समारोहों में शिरकत कर चुकी है।

उपलब्धियां -

तानसेन समारोह ग्वालियर, कबीर समारोह भोपाल, उत्तराधिकार सम्मान समारोह बालाघाट, हरिदास संगीत समारोह भोपाल, भातखण्डे संगीत समारोह भोपाल, अम्बादास संगीत समारोह इंदौर, त्रिवेणी संगम नागपुर, सुरसिंगार संसर समारोह मुंबई, परभनी समारोह परभनी, सदगुरू जंबाली महाराज पुण्यतिथि पुणे, के साथ देश के अनेक समारोह में आप शिरकत कर चुकी हैं।

Scanned with OKEN Scanner

विद्यालयी संगीत शिक्षा में पंडित विष्णु नारायण भातखण्डे का योगदान

संतोष दत्तात्र्य राव परचूरे*

संगीत संस्थाओं के निर्माण में प्रयत्नशील,जिनका प्रमुख उद्देश्य जन साधारण में संगीत जैसी उच्च कला का प्रचार करना था, पं॰ विष्णु नारायण भातखंडे ने अथक परिश्रम ही नही बल्कि इस कार्य में अपना संपूर्ण जीवन ही समर्पित कर दिया।ये प्रमुख रूप से विधि के विद्यार्थी थे। इन्होने संगीत शिक्षा पंडित एकनाथ, कस्वे अली खॉ, रावबुआ वेल्वाथकर के अतिरिक्त अनेक संगीतज्ञों से प्राप्त करने के पश्चात् विभिन्न प्राचीन ग्रंथों का अध्ययन किया और संगीत प्रचार एवं सुधार हेतु भारत में भ्रमण किया।

पं॰ भातखंडे जी ने सर्वप्रथम बंबई में गायन उत्तेजक मंडल के अंतर्गत शास्त्र एवं संगीत के क्रियात्मक रूप दोनों का अध्ययन अध्यापन प्रारंभ किया। शास्त्र का विवेचन इस उद्देश्य से आवश्यक था जिससे छात्रों को अपना प्राचीन सांगीतिक इतिहास, राग, नियम, स्वरूप आदि का पूर्ण एवं प्रमाणिक ज्ञान प्राप्त हो जाए। वास्तव में घरानेदार शिक्षण के अंतर्गत कुछ सीमा तक रागों के स्वरूप को भी विवादास्पद बना दिया। घरानेदार गायक अपने मनमाने ढ़ंग से राग का स्वरूप निर्धारण करने लगे। इस दोष के निवारण में भातखंडे जी ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

भातखंडे जी ने 1914 में शारदा संगीत मंडल नामक संस्था के अंतर्गत संगीत की शिक्षा प्रदान करना प्रारंभ किया। यह संस्था बहुत लोकप्रिय हुयी। संगीत के बहुत छात्र इससे लाभान्वित हुए। 1915-1916 में बड़ौदा में अखिल भारतीय संगीत समारोह में सचिव का पद संभाला। वहां इनके द्वारा दिया गया वक्तव्य 'A short historical survey of music of upper India' के नाम से प्रकाशित हुआ। सन् 1917 में ग्वालियर नरेश से भेंट कर सन् 1918 तक 'माधव संगीत विद्यालय' की स्थापना की। इस स्कूल में कृष्णा राव शंकर एवं राजा भैया पूंछ वाले को संगीत अध्यापन के लिए रखा गया। 1925-26 में इन्होने लखनऊ में 'मैरिस कालिज ऑफ म्यूजिक' की स्थापना की। इस कालेज को 'भातखंडे संगीत विश्वविद्यालय के नाम से जाना जाता है। इनके द्वारा अनेक संगीत सम्मेलन व सेमीनार आयोजित किए गये। यह 1916 ई॰ में बड़ौदा महाराज सयाजी राव गायकवाड़ के संरक्षण में हुआ। संगीत सम्मेलन सन् 1918 में दिल्ली में रामपुर नवाब के संरक्षण में संपादित हुआ। बनारस का संगीत सम्मेलन तथा पुनः 1925 तथा 1926 में लखनऊ में हुए संगीत सम्मेलन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनके संगीत शिक्षण एवं प्रचार-प्रसार की धारा में पंडित बाबू राम गोखले का संगीत विद्यालय, पंडित नारायण राव ब्यास का ब्यास संगीत विद्यालय, श्री चितानंद नगरकर का 'भारतीय संगीत शिक्षा पीठ', पंडित मनोहर बरवे का 'मनोहर संगीत विद्यालय' पंडित बाल कृष्ण बुआ का 'सरस्वती संगीत विद्यालय' व अनेक सौ से अधिक संगीत स्कूल विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन संस्थाओं के सुविख्यात शिष्यों में नारायण राव ब्यास, दिनकर राव, कैकणी, श्री गिंडे, प्रोफेसर सुमति मुटाटकर, पंडित बिनायक राव पटवर्धन, डी.वी. पलुस्कर आदि अनेक कलाकार संगीत जगत में प्रतिष्ठित हैं।

* शोध छात्र, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

Scanned with OKEN Scanner

पंडित भातखंडे की प्रेरणा से स्थापित संगीत संस्थाएं:- भातखंडे संगीत महाविद्यालय:

लखनऊ के जिस केसर बाग में कभी शाही दरबार लगा करते थे एवं अन्य समारोह हुआ करते थे वहां अखिल भारतीय संगीत महाविद्यालय' के नाम से इस विद्यालय का शुभारंभ हुआ, जिसमें प्रारंभ में कुल ग्यारह छात्र थे तथा प्रशासक के रूप में श्री एन॰ के॰ जोशी, तथा प्रधानाचार्य श्री कृष्ण रंतन जनकर थे। शिक्षक के रूप में श्री जी॰एन॰नाटू, उस्ताद छोटे मुन्ना खां और उस्ताद अहमद हुसैन खां का नाम उल्लेखनीय है। तत्कालिक गवर्नर विलियम मौरिस ने इस संस्था को प्रशासनिक स्तर से मदद दिलवायी और इस महाविद्यालय को एक भवन जो आज 'वीणा छात्रावास' है, प्रदान किया और तत्पश्चात इस महाविद्यालय का नाम 'मैरिस कॉलेज ऑफ हिन्दुस्तानी म्यूजिक हुआ।

पं॰ भातखंडे के निरंतर लगाव के कारण प्रतिवर्ष लखनऊ में संगीत विषयक व्याख्यानों ने संगीत सीखने वाले छात्रों की संख्या बढ़ती गयी और परिणाम स्वरूप श्री हामिद हुसैन खां (सितार), पं॰ सखाराम जी (मृदंग), श्री बी॰ एस॰ पाठक (गायन) जैसे शिक्षकों की नियुक्तियां हुई। संगीत छात्रों की बढ़ती मांग पर कथक नृत्य और वायलिन विषयों की शिक्षा भी प्रारंभ हुई।

सन् 1977 में अपने 50 वर्ष पूर्ण कर इस महाविद्यालय ने अपनी स्वर्ण जयन्ती मनाई। इस महाविद्यालय का वातावरण आज भी प्राचीन गुरूकुल के समान पवित्र और स्वच्छ है। यहां शास्त्रीय संगीत के गायन,वादन और नृत्य तीनों की शिक्षा दी जाती है। गायन के अन्तर्गत पिछले कुछ वर्षों में ठुमरी, दादरा व ग़ज़ल की शिक्षा की विशेष कक्षाएं प्रारंभ हुई है तथा वादन में सितार, तबला पखावज, वायलिन, बांसुरी तथा सारंगी की शिक्षा दी जाती है। नृत्य के अंतर्गत कथक, मणिपुरी, भरतनाट्यम की शिक्षा भी सम्मिलित है। गायन, वादन व नृत्य का सम्पूर्ण पाठ्यक्रम आठ वर्ष का है। पांच वर्ष के पश्चात 'संगीत विशारद' व आठ वर्ष का विशेष कार्यक्रम पूर्ण करने पर 'संगीत निपुण' की उपाधि प्रदान की जाती है, जिसके अंतर्गत विद्यार्थियों को एक शोध-प्रबंध भी प्रस्तुत करना पड़ता है।

संगीत शिक्षा व शास्त्रीय संगीत को लोकप्रिय बनाने के लिए इस महाविद्यालय का अपूर्व योगदान है। इस प्रकार पं॰ भातखंडे जी ने संगीत शैक्षणिक व्यवस्था की दिशा में दो-दो योजनाए बनाई जिन्हें लघु योजना तथा वृहत योजना कह सकते है।लघु योजना के अन्तर्गत ग्वालियर, बड़ौदा के कुछ गायकों को उपयुक्त समझ कर तीन-चार महीने के लिए बंबई भेज दिया गया। रागों के नियम तथा संगीत सिद्धातों का ज्ञान कराते हुए स्वर लिपि के माध्यम से कक्षा वार संगीत की शिक्षा के विषय में उन्हें अवगत करवाया। स्वर ज्ञान तथा ताल ज्ञान अपनी इस नवीन शिक्षा प्रणाली के नींव के आधार पर करवाया। इसे अल्प समय करा देने के नए-नए रोचक तरीके समझाए। वृहत योजना के अंतर्गत उनके आज तक के सभी अनुभवों का सार एवं नामाविद् शैक्षणिक प्रयोग समाप्टि होते है। निकट भविष्य में भी देश भर के सभी नगरों में शास्त्रीय संगीत के असंख्य विद्यालय खुले तथा ऐसे सभी विद्यालयों में नृत्य संगीत शिक्षा प्रणाली से सुसज्जित एवं पढ़े-लिखे अध्यापकों की आवश्यकता होगी, इस दृष्टि से पंडित भातखंडे जी ने एक वृहत योजना बनायीं।

इस प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में भातखंडे जी का संबंध तीन विद्यालयों से अधिक रहा-बड़ौदा शास्त्रीय संगीत विद्यालय,ग्वालियर का 'माधव संगीत विद्यालय' मथा लखनऊ का 'मैरिस कॉलेज ऑफ हिन्दुस्तानी म्यूजिक।' इन संस्थाओं में से सैकड़ों व्यक्ति संगीत शिक्षक बनकर निकले जिनमें डॉ॰ श्रीमती सुमति मुटाटकर, दिनकर राव, कैकणी, श्री गिट्ठे का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

इसके अतिरिक्त पंडित बाबूराम गोखले का संगीत विद्यालय, पंडित नारायण राव व्यास का 'व्यास संगीत विद्यालय' पंडित मनोहर वर्वे का 'भारतीय संगीत शिक्षा-पीठ, पंडित बाल कृष्ण बुआ का 'सरस्वती संगीत विद्यालय 'आदि नगर का प्रमुख संस्था है। इसके अतिरिक्त लगभग सौ-डेढ़ सौ संगीत

Scanned with OKEN Scanner

विद्यालय पंडित भातखंडे जी की प्रेरणा से अभी भी चल रहा है।

भातखंडे जी का संगीत पुस्तक लेखन

ग्वालियर का संगीत शाला के लिए पंडित भातखंडे ने पंचवर्षीय पाठ्यक्रम के राग एवं चीजों को निश्चित करके पं. जी ने पाठ्यक्रम के अनुसार विद्यालय के निर्धारित पाठ्यक्रम के अनुसार क्रमिक पुस्तक लिखना प्रारंभ किया।

शिक्षण की सुविधा की दृष्टि से पंडित जी ने अपनी प्रथम स्वरलिपि पद्धति का निर्धारण किया। वास्तव में इस पाठ्य पुस्तकों का निर्माण पं. भातखंडे जी ने दो उद्देश्यों को दृष्टिपथ में रखते हुए किया।

(1) संगीत शिक्षण की व्यवस्थित,क्रमवद्ध एवं सुविधा जनक प्रणाली प्रदान करने की दृष्टि से।

(2) इधर-उधर बिखरी हुयी संगीत की चीजें,बंदिशें,ऐतिहासिक विवेचन आदि के ज्ञान को सुरक्षित रखते हुए।

इन पुस्तकों को हम दो भागों में बॉट सकते है-वे पुस्तके जो विशेष तौर से संगीत के शास्त्रीय पक्ष को लिखी गयी'—श्री मल्लश्य संगीतमू, सर्वे ऑफ इंडिया और 'हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति' आदि। दूसरे पुस्तक वे है जो कि संगीत के क्रियात्मक शिक्षण में विशेष उपयोगी सिद्ध हुई। प्रारंभ में 'गीत मलिका' द्वारा ही शिक्षण देने का पं. भातखंडे जी का विचार था। किन्तु वाद में 'क्रमिक पुस्तक मालिका' प्रकाशित हुई जो आज तक संगीत के क्षेत्र में महत्वपूर्ण है। इनमें अंकित स्वरलिपि पद्धति सुगम होने के कारण अधिक प्रचलित हुई। इन्होंने दो और पुस्तकें 'अभिनव राग मंजरी' प्रकाशित की।रागों के स्वरूप का ज्ञान सुगमतापूर्वक एवं रोचक रीति से विद्यार्थियों को हो जाए, इस दृष्टि से अपने अपने लक्षण गीतों की रचना की। लक्षण गीत बहुत उपयोगी सिद्ध हुए। इनके द्वारा राग की यथार्थ आकृति स्पष्ट की जाती है।

भातखंडे जी ने अनेक बंदिशों, प्रान्तीय काव्य तथा अन्य सांगीतिक सामग्री का संकलन किया था उसे पुस्तकों, सम्मेलनों व विद्यार्थियों में दिए जाने वाले शिक्षण के द्वारा एवं अन्य अनेक प्रकार से संगीत के विद्यार्थियों तक पहुँचाया। इन्होंने एक स्पष्ट व सरल 'स्वरलिपि पद्धति की रचना की। जिसे हम 'भातखंडे स्वर लिपि पद्धति'के नाम से जानते हैं तथा प्रयोग में लाते हैं। इस स्वर लिपि के आधार पर पंडित जी ने लगभग दो सौ रागों की बंदिशें अपनी पुस्तक 'भातखंडे संगीत पद्धति' क्रमिक पुस्तक मालिका (जो छः भागों में विभक्त है,) में संग्रहीत है। व्यंकटमखी के 72 मेलों में से दस मेल चुनकर इन्होंने उन्हें 'थाट' की संज्ञा दी एवं समस्त उत्तर भारतीय संगीत में थाट माना। भातखंडे संगीत शास्त्र (चार भागों में) एवं अभिनव राग मंजरी भी विशेष रूप से चर्चा की गयी है। भातखंडे जी की महत्वपूर्ण प्रस्तुतियों में रागों के समय निर्धारण के विषय में भी है।

इस प्रकार पंडित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर तथा पंडित विष्णु नारायण भातखंडे के प्रयासों के परिणाम स्वरूप भारत में संगीत कला का पुनः सूर्योदय हुआ। संगीत शिक्षण विश्वविद्यालय स्तर तक पहुंचा। 'बनारस हिन्दु विश्वविद्यालय' एवं इलाहाबाद विश्वविद्यालय में संगीत को सम्मिलित किया तथा समय के साथ-साथ संगीत में पी. एच. डी. की उपाधि का प्रावधान भी होने लगा। कुछ विश्वविद्यालय तो मूलतःसंगीत शिक्षण हेतु ही स्थापित किए गये हैं जिनमें विश्वभारती (बंगाल) एवं 'इन्दिराकला संगीत विद्यालय'आदि प्रमुख है। यहां कुछ ख्यातिलब्ध संस्थाओं की चर्चा करना प्रासंगिक लगता है-

(1) विश्वभारती : सन्1903 में रवीन्द्र नाथ टैगोर द्वारा स्थापित शान्ति निकेतन के ही विकसित रूप में सन् 1951 से सन् 1963 के मध्य विश्वभारती की स्थापना हुई।

Visva Bharti grew out of Shanti Niketan Ashrama,a retreat founded in 1963 by Maharshi.Ravindra Nath Tagore.In an experiment schore was startedat Shanti Niketan by Ravindra Nath Tagore and since 1921 Shanti Niketan has been the seat of Vishwa Bharti.

Scanned with OKEN Scanner

वास्तव में शान्ति-निकेतन की स्थापना टैगोर ने प्राचीन गुरू-शिष्य परंपरा की शिक्षण-पद्धति के फिर से प्रारंभ करने के लिए की थी। प्राचीन काल में जिस प्रकार गुरूकुल में शिक्षा दी जाती थी उसी प्रकार से शिक्षण देने की व्यवस्था इसमें की गयी।संगीत की दृष्टि से महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि अन्य विषयों के साथ-साथ संगीत की एक अनिवार्य विषय के रूप में यहां स्थान दिया गया। राजा राम मोहन राय द्वारा ब्रह्म समाज की स्थापना की स्थापना की गयी थी, जिसमें सामूहिक रूप से कुलीन वर्ग की स्त्रियों कों भी शिक्षा प्रदान की जाती थी। यह संगीत अभिजात संगीत से संबंधित न होते हुए भी भक्ति संगीत के रूप में था। इसमें कुलीन एवं उच्च वर्ग की स्त्रियां विशेष रूप से संगीत का ज्ञान प्राप्त करती थी। सन् 1956 में रवीन्द्र नाथ टैगोर द्वारा प्रारंभ की गयी संगीत, नृत्य एवं नाट्य आदि शिक्षण संस्था को तत्कालिन राज्य सरकार ने रवीन्द्र भारती के रूप में इसे परिवर्तन कर दिया।

The government of west Bengal established in 1956 an academy of Dana and Music in a part of the poets an cestral home. The state Government decided to acquire the entire an astral an astral home of tagore and started a university there known as the Ravindra Bharti.

The university was established at tarasanko, Calcutta, on the occasion of the poets one hundred and first birth anniversary. The Academy of Dance, Drama and Music which had been functioning under the aegis of the state Govt. of India was merged in the university.

रवीन्द्र नाथ टैगोर द्वारा एक स्वर लिपि पद्धति का भी प्रतिपादन हुआ था।

(2) इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय : भारत के मध्य भाग में सतपुड़ा की पूर्वी श्रृंखलाओं के बीच नागवंशी शासकों के एक छोटे से राज्य खैरागढ़ के भूतपूर्व नरेश वीरेन्द्र सिंह और रानी पद्मावती देवी ने अपनी दिवंगत तीन वर्षीया पुत्री इन्दिरा की स्मृति में 'इन्दिरा कला विश्वविद्यालय की स्थापना अपने महल में 14 अक्टूबर 1956 ई. को करवाया। यह संपूर्ण एशिया का प्रथम विश्वविद्यालय है। यह मध्यप्रदेश के खैरागढ़ में स्थित है। यहां संगीत शिक्षण पं. भातखंडे पद्धति से किया जाता है तथा पठन-पाठन उन्ही के द्वारा बनाए गए पाठ्यक्रम के अनुसार होता है। संगीत, नृत्यकला, चित्रकला, ग्राफिकआर्ट मूर्तिकला इत्यादि से संबंधित कलाओं के प्रशिक्षण का यह देश में एकमात्र विश्वविद्यालय है।

संगीत में गायन, वादन तथा कथक नृत्य में प्रथमा, मध्यमा, बी.ए., बी. म्यूज, कोविद (आनर्स), एम. ए., एम. म्यूज, गीतांजली एक वर्षीय सुगम संगीत का डिप्लोमा, छतीसगढ़ी लोकसंगीत डिप्लोमा के अतिरिक्त पी.एच.डी., डी.म्यूज एवं विदेशी छात्रों के अध्ययन के लिए विशेष पाठ्यक्रम की शिक्षण व्यवस्था उपलब्ध है।

इस प्रकार अन्य केन्द्र जहां देश में स्वतंत्र संस्था के रूप में विकसित हो रहे हैं, वहां यह विश्वविद्यालय मध्य प्रदेश शासन से संचालित है।

एस.एन.रतनजंनकर ने विश्वविद्यालय को अंतरराष्ट्रीय पहचान दिलाने तथा केन्द्रीय विश्वविद्यालय के रूप में संगीत, साहित्य, नृत्य लोक संस्कृति नाट्य इत्यादि को अपूर्व संगम स्थल बनाने की कल्पना की थी।

(3) संगीत रिसर्च अकादेमी : इस समय प्राचीन गुरू-शिष्य परंपरा का जीवंत उदाहरण संगीत रिसर्च अकादेमी, कलकत्ता है। संस्थागत संगीत शिक्षण के क्षेत्र में आज इसकी विशिष्ट पहचान है। संगीत रिसर्च अकादेमी की स्थापना 26 अक्टूबर 1978 ई. को भारतीय तंबाकू कंपनी (आई. टी. सी.) द्वारा हुई। इस संस्था में प्राचीन गुरू-शिष्य परंपरा के अनुरूप छात्रों को संगीत शिक्षा प्रदान की जाती है। बिलकुल प्राचीन गुरूकुल वातावरण में मात्र हिन्दुस्तानी संगीत-शिक्षा यहां दी जाती है। यह अकादेमी इस प्रकार की प्रथम संस्था है जहां शिष्य गुरू के संपूर्ण संरक्षण में शिक्षा प्राप्त करते हैं। इस अकादेमी के निर्देशक वी. के. किचलु हैं तथा पंडित रविशंकर, श्री सत्यजीत राय एवं श्री अरविंद पारिख

Scanned with OKEN Scanner

जैसे प्रतिष्ठित कलाकार बोर्ड के सदस्य के रूप में इसे सुशोभित कर चुके हैं। अत्यंत कड़ी परीक्षा के पश्चात् इस संस्था में विद्यार्थियों को प्रवेश मिल पाता है तथा चयन के पश्चात प्रतिभाशाली छात्रों को निःशुल्क शिक्षा दी जाती है।

अकादेमी में संगीत शिक्षण का प्रारंभ 'हिन्दुस्तानी कंठ संगीत 'को लेकर हुआ है। शिक्षण हेतु चोटी के घरानेदार कलाकारों-निसार हुसैन खाँ (सहसवान घराना) श्रीमती गिरजा देवी (बनारस घराना) तथा लथापत हुसैन खाँ (आगरा घराना) की सेवाएँ अकादेमी को प्राप्त है। प्रत्येक कलाकार के संरक्षण में तीन या चार प्रतिभाशाली छात्र शिक्षा ग्रहण करते है, जिनका चयनित छात्रों को दस वर्षों तक के लिए छात्रवृति भी दी जाती है।

इस संस्था की गतिविधियों में शोध-कार्य भी शामिल है। यहां शोध के लिए मुख्यतः तीन क्षेत्र पूर्व से निर्धारण है—शैक्षणिक शोध तथा संगीत शास्त्रीय शोध। इस संस्था द्वारा 'पारदर्शी' नामक पाठ्यक्रम की भी व्यवस्था की गयी है। जिसके अन्तर्गत सात वर्षों में छात्रों को इक्कीस राग सिखाए जाते है।

संगीत के प्रचार हेतु इस अकादेमी द्वारा कलकत्ता में एक विशाल संगीत सम्मेलन तथा भारत के अन्य स्थानों पर प्रतिवर्ष दस उत्तम कलाकारों को दस-दस हजार की धनराशि उनकी सांगीतिक सेवाओं को देखते हुए दी जाती हैं।

(4) विश्वविद्यालयों में संगीत का पृथक विभाग : संगीत विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त अनेक विश्वविद्यालयों में संगीत के पृथक विभाग भी स्थापित हुए है। इनमें दिल्ली विश्वविद्यालय, काशी हिन्दु विश्वविद्यालय विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त महराजा सयाजी राव विश्वविद्यालय, बड़ौदा, कर्नाट विश्वविद्यालय, कर्नाटक, पंजाबी विश्वविद्यालय पटियाला, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़, पूना विश्वविद्यालय, पूना दयाल बाग एजुकेशन इन्टीच्यूट, दयाल बाग आगरा, मेरठ विश्वविद्यालय मेरठ, एस॰ एन॰ डी॰ टी॰ महिला महाविद्यालय बंबई, पूना पूना विश्वविद्यालय पूना, वनस्थली विद्यापीठ वनस्थली, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा आदि संपूर्ण भारत में अनेक विश्वविद्यालय है जो पृथक संगीत विभागों अथवा संलग्न महाविद्यालयों में बी॰ ए॰ (पास कोर्स) बी॰ ए॰(आनर्स), एम॰ ए॰, एम॰ फील तथा पी॰ एच॰ डी॰ की उपाधियों हेतु निर्धारित पाठ्यक्रमानुसार शिक्षण एवं अन्य अनेक सुविधाएं उपलब्ध करा रहे हैं।

गुरूकुल शिक्षा प्रणाली के अंतर्गत संगीत के क्रियात्मक पक्ष पर अधिक बल होने के कारण संगीत मात्र प्रदर्शनात्मक कला तक ही सीमित था यदि कलाकार का मंच प्रदर्शन अच्छा होता था तो बस यही काफी माना जाता था और कलाकार को उसके लिए पुरस्कृत कर दिया जाता था। लेकिन बर्तमान शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में विद्यालयी शिक्षा के अंतर्गत संगीत के व्यावहारिक पक्ष के साथ-साथ सैद्धान्तिक पक्ष पर भी बल दिया जाने लगा है और संगीत ने सैद्धान्तिक और क्रियात्मक अध्ययनों की दृष्टि से नयी दिशाएं दी है तथा नियम विस्तार किए है। 'कर्नाटक और हिन्दुस्तानी संगीत' के अनेक भारतीय तथा विदेशी विद्वानों ने इसे सैद्धान्तिक अध्ययन तथा ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में भारतीय संगीत पर महत्वपूर्ण कार्य किया है। परंतु संगीत के क्षेत्र में एक क्रमिक तथा नियमित अनुसंधान का विकास वास्तव में हमारे देश में स्वतंत्रता के बाद ही हो रहा है। आज सभी महत्वपूर्ण विश्वविद्यालयों में संगीत विभाग खुल चुके है और उनमें संगीत शास्त्र के नए अनुसंधान के अंतर्गत संगीत के सैद्धान्तिक और क्रियात्मक पक्ष, उसके ऐतिहासिक अध्ययन, संगीत विज्ञान एवं चिकित्सा, संगीत एवं मनोविज्ञान आदि की दृष्टि से अनुसंधान कार्य सम्पन्न हो रहा है।

इस प्रकार संगीत के ऐतिहासिक और प्रायोगिक दोंनो रूपों से संबंधित अनुसंधान कार्य और प्राचीन एवं मध्यकालीन कृतियों पर शोध कार्य तीव्र गति से चल रहे हैं। कतिपय विश्वविद्यालयों में छात्रें को सांगीतिक अनुसंधान की सुविधा उपलब्ध है। उत्तरप्रदेश में बनारस के अतिरिक्त मेरठ विश्वविद्यालय, भातखंडे संगीत विद्यापीठ, लखनऊ तथा उत्तर प्रदेश के बाहर दिल्ली विश्वविद्यालय, म॰ प्रदेश के इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, कुरूक्षेत्र

Scanned with OKEN Scanner

विश्वविद्यालय, हरियाणा, पंजाबी यूनिवर्सिटी, पटियाला, तथा ल.ना.मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा, तिलकामांझी विश्वविद्यालय, भागलपुर, इत्यादि विश्वविद्यालययों में पी.एच.डी. डिग्री के लिए शोध हेतु पंजीकरण किए जाते है।

विश्वविद्यालयीय संगीत शिक्षण प्रणाली सामुदायिक शिक्षण-प्रणाली पर आधारित है यद्यपि यह प्राचीन गुरू शिष्य परंपरा प्रणाली के अनुसार व्यक्ति शिक्षण का अनुसरण नही करतीं और न ही यह किसी घराने से संबंध है तथापि काल के अनुसार शिक्षण प्रणाली में परिवर्तन होते रहे हैं और होते रहेगे।

इस प्रकार संगीत जगत में संस्थागत शिक्षण द्वारा क्रांतिकारी परिवर्त आए। कतिपय संगीत प्रेमी भारत के कोने-कोने से स्थापित अनगिनत संस्थाओं के माध्यम से संगीत का ज्ञान प्राप्त कर रहे है। भारत के बाहर भी लंदन में 'सरस्वती इन्स्टीच्यूट ऑफ ओरियन्टल म्यूजिक की स्थापना मेनचेस्टर के कुछ कला केन्द्रों में भारत के शास्त्रीय नृत्यों का प्रशिक्षण तथा अमेरिका मिनी सोटा विश्वविद्यालयों में तथा अनेक विदेशी स्थलों पर भारतीय संगीत के प्रशिक्षण ने भारतीय संगीत को अंतर्राष्ट्रीय स्तरों पर सम्मान प्रदान कराया है। परंतु संस्थागत शिक्षण के विषय में कुछ घरानेदार संगीतज्ञों के कटाक्ष भी सुनने को मिलते है। डॉ अर्चना दीक्षित इस विषय में लिखती है–'अक्सर परंपरा वादी घरानेदार उस्तादों द्वारा विश्वविद्यालयी संगीत शिक्षा की खिल्ली उड़ायी जाती है। उनका प्रमुख आरोप है कि उच्चत्तम डिग्रीयां पाकर भी वहां से कोई अखिल भारतीय स्तर का कलाकार क्यों नही बन पाता।उनका यह विचार दोषपूर्ण है। संगीत शिक्षा उसके उच्च स्तर पर व्यक्ति निष्ठ है। जहां तक उच्च स्तरीय कलाकार (पं. भीमसेन जोशी, पं. रविशंकर आदि) की बात है, कोई व्यक्ति, कोई गुरू या कोई संस्था इन्हें नही बना सकती। कुछ वर्षों तक योग्य गुरू के मार्गदर्शन के पश्चात् वे अपनी साधना के बल पर अपनी कला में क्रमशः निखार लाते जाते है। रेखांकित करने की बात यह है कि जब विश्व विद्यालय के अन्य विभाग जैसे गणित विभाग से यह अपेक्षा नही रखी जाती कि वहां से आर्यभट्ट या आइन्सटाइन निकलेगा अथवा अंग्रेजी विभाग से कोई नही पूछेगा कि आप कितने शेक्सपीयर पैदा किये तो फिर एक मात्र संगीत विभाग से ही क्यों इतनी बड़ी अपेक्षाएं रखी जाती है।

आधुनिक विद्यालय या विश्वविद्यालयी संगीत शिक्षण प्रणाली पर जब हमारी दृष्टि जाती है जो इसके सार्थक परिणाम हमारे सामने आते है। इनमें समान रूप से अथवा निष्पक्ष भाव से किसी भी जिज्ञासु को निर्धारित शुल्क देने पर संगीत शिक्षा प्राप्त हो सकती है। यह व्यक्ति विशेष शिक्षा को ग्रहण करने में कितना सक्षम है यह उसकी व्यक्तिगत विशेषता है। परंतु संगीत साधने के इच्छुक व्यक्ति अपनी इस तृष्णा को संस्थागत शिक्षण के माध्यम से संतुष्ट अवश्य कर पाते है। संगीत के क्रियात्मक पक्ष के साथ इस प्रणाली में संगीत शास्त्र का भी प्रावधान है। पाठ्यक्रम में कक्षा स्तर के अनुसार क्रियात्मक पक्ष का एवं सैद्धान्तिक ग्रंथों का शिक्षण होता है। समय सारणी द्वारा कक्षाएं सुचारू रूप से चलती है। सामूहिक शिक्षा होने के कारण विद्यार्थियों में परस्पर प्रतिस्पर्धा की भावना जागृत होती है और वे अधिक से अधिक ज्ञान अर्जित करने की चेष्टा करते है।

सरकार द्वारा प्रखर एवं मेधावी छात्रों को छात्रवृतियां भी देने की व्यवस्था है। संस्थाओं द्वारा समय-समय पर छात्रों के व्यक्तित्व के विकास हेतु प्रतियोगिताओं का आयोजन भी किया जाता है जिनसे उनका आत्मबल भी बढ़ता है। विश्वविद्यालय स्तर पर छात्र परिपक्व होता है एवं गायकी की सूक्ष्मताओं, ग्रंथों का गहन अध्ययन, मंच प्रदर्शन में सक्षम हो पाता है, एवं वयस्क आयु में संगीत की सूक्ष्मताओं का अध्ययन कर अच्छा रचनाकार, आलोचक, शिक्षक एवं शोधकर्ता बन सकता है इसी के साथ-साथ विश्वविद्यालय स्तर की उपाधियां छात्रों को समाज में प्रतिष्ठा भी दिलाती है।

Scanned with OKEN Scanner

दूसरी ओर इस प्रणाली का कुछ नकारात्मक पक्ष भी है। इसे इस प्रणाली का दोष भी माना जाता है। छात्र केवल प्रमाण पत्र एवं डिग्री प्राप्त करने के लक्ष्य से शिक्षा ग्रहण करना चाहते हैं क्योंकि यह समाज में शिक्षा प्रदान करते है। इसके अतिरिक्त शिक्षा का लक्ष्य किसी उच्च राजकीय पद को ग्रहण कर आराम से मासिक वेतन पाना भी देखा गया है। कुछ विद्यार्थियों को तो उनके शिक्षा पाने का भी उद्देश्य भी नहीं ज्ञात होता। बस अकारण लक्ष्यहीन शिक्षा प्राप्त करते जाते है। इसके अतिरिक्त योग्य एवं मेधावी छात्र अर्थाभाव के कारण इस प्रकार की प्रणाली में संगीत-शिक्षा प्राप्त करने से वंचित भी रह जाते है। कुछ दोषपूर्ण व्यवस्था के कारण एवं कुछ स्थिति में दुविधाओं के कारण कुछ शोधप्रज्ञ छात्र विश्वविद्यालय अनुदान आयोग या इस प्रकार की अन्य संस्थाओं द्वारा प्रदत्त राशियां प्राप्त करके भी शोध के क्षेत्र में कुछ उल्लेखनीय कार्य नही कर पाते हैं। इससे धन का दुरूपयोग होता है। संगीत शिक्षण व्यवस्था को सुचारू रूप से संचालन के लिए इन दोंनो से बचना होगा। तभी ऐसी प्रणाली में उत्कृष्ट एवं विलक्षणता आ पाएगी।

संदर्भ

1. कपूर तृप्त, उत्तर भारत में संगीत शिक्षा,
2. दत्ता (डा.) पूनम, भारतीय संगीत शिक्षा और उद्देश्य, राज पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2005,
4. सक्सेना (डा.) मधुबाला, भारतीय संगीत शिक्षण प्रणाली एवं उसका वर्तमान स्तर,
5. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर, स्मृति ग्रंथ (जीवन परिचय),
6. रतनजनकर, श्रीकृष्ण (सं.), भातखण्डे स्मृति ग्रंथ,
7. वर्मा सुधीर कुमार, आलेख-भातखण्डे संगीत महाविद्यालय स्वर्ण जयंती, मार्च 1977,
8. खां विलायत हुसैन, संगीतज्ञों के संस्मरण,
9. University Hand Book of India,
10. संगीत पत्रिका, अप्रैल 1979,
11. नादार्चन पत्रिका, वार्षिक 1993,

Scanned with OKEN Scanner

संगीत शिक्षा में दूरस्थ प्रणाली का प्रयोग

अंजू कुमारी*

प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल की शिक्षा प्रणाली पर एक नजर डालने से पता चलता है कि मानवीय सामाजिक विकास के साथ--साथ शिक्षा प्रणाली का भी विकास हुआ।

वर्तमान समय में समाज में फैलती जा रही अशांति, असहयोग तथा विवाद की प्रवृत्ति पर यदि अंकुश लगाया जा सकता है तो वह संगीत का प्रचार व प्रसार ही है। समाज में सामंजस्य और सौहार्द बढ़ाने में संगीत का योगदान बहुत ही महत्वपूर्ण साबित हो सकता है। इसके लिए दूरस्थ शिक्षा ही एक ऐसा माध्यम है जो विश्व में सहजता तथा प्रभावी ढंग से लागू किया जा सकता है।

आज जब शिक्षा के अनेक क्षेत्र जैसे चिकित्सा, इंजीनियरिंग, कम्प्यूटर आदि में दूरस्थ शिक्षा पद्धति का प्रयोग सफलतापूर्वक कर रहे हैं तो संगीत शिक्षण में दूरस्थ शिक्षा पद्धति का उपयोग क्यों नहीं कर सकते हैं?

यदि हम संगीत शिक्षण के इतिहास पर नजर डाले तो पाते हैं कि प्रारम्भ में संगीत शिक्षण बहुत ही सीमित दायरे में तथा गुरु शिष्य परम्परा, जिसमें शिक्षण कितना कठिन होता था यदि हम भली भांति समझ सकते हैं। यद्यपि इस पद्धति द्वारा जो संगीत निकलता था व ज्ञान व अभ्यास की दृष्टि से उच्च कोटि का होता था। यह परम्परा बहुत समय तक चली और अब भी कुछ अंशों में विद्यमान है। पिछले चार दशकों से शिक्षण पद्धति में प्राथमिक तथा उच्च दोनों स्तरों पर विद्यालयों तथा विश्वविद्यालय शिक्षण पद्धति के प्रमुख केन्द्र बन गए हैं। जनसंख्या वृद्धि तथा समाज में बढ़ती शैक्षणिक जागरुकता के कारण दूरस्थ शिक्षण द्वारा ही व्यापक स्तर पर शिक्षण सम्भव है।

दूरस्थ शिक्षा की अपनी एक अलग व विशिष्ट प्रणाली है और अपने कुछ तत्व है। संगीत एक प्रयोगशील कला है जो अपने विशिष्ट दायरे के अंदर सतत नये प्रयोग की अपेक्षा व संभावनायें रखती है, इसलिये दूरस्थ संगीत शिक्षा की प्रणाली व तत्व अलग होना स्वाभाविक है। संगीत के किसी तत्व जैसे राग आदि के संबंध में गुरु के विचार प्रयोग व "नजर" दूरस्थ संपर्क एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण होना अभीष्ट होगा जिसमें किसी रुप में, कुछ समय के लिए ही क्यों न हो गुरु-शिष्यों का प्रत्यक्ष संपर्क संभव हो।

दूरस्थ संगीत शिक्षा में स्वरलिपि पुस्तकें रेडियो, ध्वनि मुद्रिकाओं के बाद कैसेट्स, टेलीविजन, वीडियो और अब कम्प्यूटर व इंटरनेट ने क्रांति लाई है। पुस्तक, रेडियो ध्वनि मुद्रिकाओं का माध्यम एक तरफा रहता था। इनमें संग्रहीत संगीत विद्यार्थी ग्रहण तो करता था, लेकिन विद्यार्थियों के शंका समाधन तथा अन्य जिज्ञासाओं की पूर्ति इन माध्यमों से संभव नहीं थी। प्रायोगिक अभ्यास सही है या नहीं जिसकी जांच की सुविधा भी इन माध्यमों से संभव नहीं थी। ऐसे में कैसेट्स के प्रचलन से यह कठिनाई काफी हद तक दूर होने लगी। अब विद्यार्थी अपना अभ्यास रेकार्ड कराकर जांच व मार्गदर्शन के लिए गुरु के पास भेज सकने लगा। एक तरफा संवाद अब दो तरफा होने लगा। दूरस्थ संगीत शिक्षा क्षेत्र में यह एक और क्रांति थी। कैसेट रिकॉर्डिंग बहुत सुलभ था, जिसका फायदा हजारों, लाखों शिक्षार्थी

* विभागाध्यक्ष, विश्वविद्यालय संगीत विभाग, तिलकामांझी भगलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

Scanned with OKEN Scanner

लेने लगे। संगीत के घरानों में एक "सोनी" घराने का जन्म हुआ। इसके बाद आये टेलीविजन व वीडियों ने श्रव्य माध्यमों को दृश्य आयाम दिया। टेलीविजन व वीडियो से अब गुरु को जब चाहे अपने घर लाकर विराजमान करते हुए शिक्षा पाना सुलभ हुआ। गायन में सुध मुद्रा, सुध बानी भावों की चेहरा व अन्य अंगों में हो जाने वाली तन्मयता, वाद्यवादन में हस्त संचालन व तकनीक की दृश्यमानता नृत्य में समस्त दृश्य प्रदर्शन यह सभी आवश्यक बातें विद्यार्थियों तक सीधी पहुँच जाने लगी, जिससे सही शिक्षा व अभ्यास में सुविधा होने लगी। दूरस्थ शिक्षा का यह एक बहुत बड़ा सशक्त व जबरदस्त आयाम तथा प्रभावी निर्माता है।

यहाँ तक तो बात हो गई अनौपचारिक दूरस्थ संगीत शिक्षा, जहाँ न कोई निर्धारित निश्चित पाठ्यक्रम है न क्रमबद्ध सिलसिलेवार मुद्दों को लेकर अध्यापन है, न निश्चित उद्देश्य प्रायोगिक प्रदर्शन है, तथा न कोई अध्ययन का मूल्यांकन है। आज जो दूरस्थ संगीत शिक्षा प्रणाली की बात हो रही है जिसमें यह सब समाहित है। अब सवाल उठते हैं :-

1. क्या परंपरागत भारतीय संगीत शिक्षा दूरस्थ शिक्षा प्रणाली द्वारा संभव है?
2. अगर है, तो यह संगीत शिक्षा किस प्रकार से संपन्न की जा सकती है।
3. संगीत जैसी प्रयोगशील और भारतीय संगीत जैसी उपजशील कला में गुरु द्वारा शिष्यों का सतत निकट पर्यवीक्षण आवश्यक माना गया है। दूरस्थ शिक्षा प्रणाली में चाहे जितना सशक्त माध्यम हो, क्या वह यह दूरी समाप्त कर अध्यापन-अध्ययन व्यवहार में गुरु-शिष्य की निकटता ला सकेगा?
4. दूरस्थ संगीत शिक्षा में उपयोग में लाये जाने वाले प्रसार माध्यमों के उपकरण और उनका उपयोग काफी खर्चीला है। क्या संगीत के बृहद प्रसार में यह बात बाधक नहीं हो सकती है?

संचार के इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों से हुई क्रांति में दूरस्थ शिक्षा की व्यापकता और शक्ति को बढ़ाया और पूरे विश्व में परंपरागत शिक्षण प्रणाली में एक समर्थ विकल्प के रुप में दूरस्थ शिक्षा में असली महत्व प्राप्त कर लिया है। एक स्वतंत्र और प्रजातांत्रिक समाज के लिए यह आवश्यक है कि उसके अधिसंख्य लोगों को उच्च शिक्षा उपलब्ध होनी चाहिए। परंपरागत रुप से शिक्षा, विशेष तौर पर उच्च शिक्षा को विशिष्ट वर्ग की धरोहर समझा जाता है, जहां तक संगीत में दूरस्थ शिक्षा को प्रयोग करने का प्रश्न है, आज की 21वीं सदी में संगीत की दूरस्थ शिक्षा में प्रयोग होने वाले घटकों जैसे - रेडिया, टेलीविजन, कैसेट आदि वैज्ञानिक तथ्यों ने कई तरह से प्रभावित किया है, टेक्नोलॉजी के विकास से शास्त्रीय संगीत की शिक्षा पद्धति पर काफी असर पड़ा है।

संगीत में दूरस्थ शिक्षा प्रणाली के मुख्य घटक इस प्रकार हो सकते हैं :-

1. पत्राचार सामग्री
2. रेडियो और टेलीविजन प्रसारण
3. प्रसारण माध्यम जिसमें स्लाईड कैसेट इश्तेहार
4. सामूहिक प्रशिक्षण कार्यशाला
5. संगोष्ठी सेमेस्टर के अंत में परीक्षाऐं

आचार्य-प्राध्यापकों से विश्वविद्यालय स्तरीय पाठ तैयार कराकर दूरदर्शन के माध्यम से उनकी समय-समय पर प्रस्तुति में योगदान देना होगा ताकि विद्यार्थी लाभान्वित हो सके।

1. पत्राचार कार्यक्रम में मुद्रित सामग्री में शिक्षाविद् तथा विशेषज्ञ गुरु शामिल हैं, जो प्रत्येक पाठ्यक्रम का डिजाईन तैयार और पाठ्य विवरण की रुपरेखा तैयार करें। यह समिति संगीत के गुरुओं और विशेषज्ञों का पता लगायें जो वाद्य विवरण की प्रत्येक यूनिट के लिए सामग्री का विकास करने में समर्थ हों ताकि तैयार की गई सामग्री उच्चकोटि की हों।
2. ऑडियो और विडियो कार्यक्रम का उपयोग पाठ्यक्रम के अन्तर्गत किया जा सकता है। दूरदर्शन नेटवर्क एक सप्ताह में तीन दिन विश्वविद्यालय एवं गुरुओं द्वारा तैयार किये गये आधे घंटे के विडियो का कार्यक्रम प्रसारित कर सकता है।

Scanned with OKEN Scanner

3. Internet, Software और Floppy के माध्यम से

संगीत के लक्ष्य और आधुनिक तकनीक के बीच समन्वय रखकर दूरस्थ संगीत शिक्षा से अनेकों लाभ होंगे। दूरस्थ शिक्षा से सीना व सीना तालीम की परम्परा खत्म नहीं होगी वरन आने वाले समय में यह शिक्षा गुरुओं के लिए ऐसा उपकरण बनेगी जिसके माध्यम से वे अपनी पहुँच को काफी आगे बढ़ाकर शिष्यों को लाभान्वित करेंगे। भारतीय संगीत के बहुत से गुरु दूरस्थ शिक्षा के अन्तर्गत अपने संगीत को बांटना चाहेंगे। भविष्य में संगीत की शिक्षा को दूरस्थ संगीत शिक्षा से अलग रखकर नहीं देखा जा सकता, यह आने वाले समय की प्रबल मांग है। अतः निष्कर्ष रुप में हम यही कह सकते हैं कि यदि विदेशी संस्कृति के प्रभाव में शास्त्रीय संगीत में आधुनिक उपकरणों का उपयोग होने लगा है, तो वह संगीत प्रचार-प्रसार संग्रह और शिक्षा में लाभप्रद ही है, हानिकारक नहीं।

इस तकनीक के जरिये कमजोर तवके के प्रतिभावन शिक्षार्थी अर्थाभाव में अच्छी प्रारंभिक शिक्षा नहीं प्राप्त कर पाते, निश्चित रुप से फलीभूत होंगे। जहां तक मेरा विचार है कि शिक्षा की पूर्ण जरुरत को केवल इसी प्रणाली द्वारा पूरा किया जा सकता है।

आधुनिक तकनीकी प्रणाली से एक साथ लाखो-लाख शिक्षार्थी लाभान्वित होते हैं यही इसकी खासियत है और समय अनुसार इसकी जरुरत भी है।

Scanned with OKEN Scanner

पारंपरिक संगीत शिक्षा प्रणाली एवं वैज्ञानिक उपकरण

डॉ. सोनिया बिन्द्रा*

भारतीय साहित्य व भारतीय कला के समान भारतीय संगीत भी शताब्दियों की अमूल्य देन है जब हम संगीत की प्राचीनता का अध्ययन करते हैं तो हमें संगीत अखण्ड असीमित तथा अनन्त दिखाई देता है। जिसमें प्राचीनता इतनी गहन की जितना गहराई में जाओ उतना ही लगता है कि अभी तो अंदर असीमित भंडार और नवीनता इतनी की लगता है कि प्रथम बार सुना जा रहा है।

संगीत प्रारंभ से मानव के लिए उतना ही स्वाभाविक है जितनी की उसकी वाणी तब यह बताना बहुत कठिन कि मानव ने पहले बोलना शुरू किया या पहले गाना शुरू किया परंतु बहुत काल बीत जाने के बाद उसके गाने ने व्यवस्थित रूप धारण कर लिया क्योंकि जब स्वर व लय व्यवस्थित रूप धारण करते हैं तब एक कला का प्रादुर्भाव होता है और इस अद्वितीय कला को ही संगीत कहते हैं।

संगीत एक पारंपरिक कला है जिसका संबंध प्राचीन समय से ही सर्वप्रथम देवी देवताओं से जोड़ा गया यह किवदंति है कि संगीत शिक्षा सर्वप्रथम ब्रह्मा ने शिव को दी और शिव ने इसे ज्ञान एवं कला की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती को दिया। सरस्वती ने यह विद्या नारद को प्रदान की, नारद ने भरतमुनि, हनुमान आदि ऋषियों को यह शिक्षा दी और तत्पश्चात् इसका प्रचार भूलोक पर हुआ। आदान प्रदान की इसी प्रवृति ने एक परंपरा का रूप धारण कर लिया। संगीत की इसी व्यापक और विकसित परंपरा के अंतर्गत ही गायक, वादक और नर्तक आते हैं यह तो सर्वविदित है कि संगीत का जन्म मंदिरों में हुआ और उसका पहला ऐतिहासिक और सैद्धांतिक संकेत हमें सामवेद में देखने को मिलता है। वैदिक काल में धर्म का अंग बनकर संगीत ने सामगान के द्वारा आर्यों को मोक्ष का मार्ग दिखाया। कहा जाता है कि साम गान पहले के समकालीन स्वरों का प्रयोग होता था जो उदात्त अनुदात तथा स्वरित कहे जाते थे यह भी मान्यता है कि इसी काल में क्रमशः एक-एक स्वर बढ़ते गए और सामवेद का गायन सात स्वरों में होने लगा। यह संगीत परंपरा मध्यकाल में चतुर और प्रवीणों की बुद्धि और कल्पना तत्व के योग से जो संगीत कला के रूप में प्रतिष्ठित हुआ वही संगीत मुगलकाल मे आकर विलास और मनोरंजन का साधन बन गया। इस प्रकार देश में संगीत की दो धाराएं सामानान्तर प्रवाहित हुई एक जो संगीत परिवारों में फला-फूला और दूसरा जो देव मंदिरों, जनमानस तथा संत समाज में अपनी प्राचीन परंपरा से प्रेषित पल्लवित हुआ। यह संगीत परंपरा गुरू शिष्य को विद्या दान के रूप में समाज में प्रतिष्ठत हुई। जिसका मुख्य उद्देश्य था एक शिष्य को विद्या का दान करना इसी परंपरा को कालान्तर में शिष्य ही गुरू बन कर निर्वाह करता था। इस प्रकार विद्या की परंपरा उत्तरोत्तर आगे बढ़ती रही। इसी परंपरा में स्वयं ज्ञान भी विकसित होता है। ज्ञान के नये क्षेत्र, क्षितिज, विषय सिद्धांत और रहस्य प्रकाशित होते हैं। शिष्य गुरूओं के ज्ञान का संर्धन करते हैं। जो एक विकासशील परंपरा बनकर ज्ञान समाज की सांस्कृतिक निधि बन जाते हैं विद्या का आदान-प्रदान गुरू शिष्यों के माध्यम से संचालित होना ही भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषताओं में से एक है।

* वरिष्ठ प्रवक्ता एवं प्रभारी, नवल किशोर भरतिया मन्यूसीपल, महिला डिग्री कॉलेज, चन्दौसी, मुरादाबाद, उ.प्र.।

Scanned with OKEN Scanner

संगीतान्तर्गत शिक्षण की यह प्रणाली प्राचीनकाल से आधुनिक काल तक चली आ रही है। गुरू, विनय और साधना ये तीनों शब्द पारंपरिक संगीत शिक्षण में महत्वपूर्ण स्थान रखते थे। ये पारंपरिक शिक्षण जन कोलाहल से दूर एकान्त में प्रकृति की गोद में होता था, जहां सौन्दर्य से दर्शक स्वयं ही प्रभावित हो प्रभु की महिमा गा उठता था। ये गुरू अपनी विद्याओं में पारंगत होते थे और कुछ शिष्यों को ही स्वीकार करते थे। लाभ हानि व द्रव्य अर्जन का कोई प्रश्न ही नहीं होता था इसीलिये गुरू और शिष्य के परस्पर संबंध बहुत अच्छे होते थे। इस प्रकार संगीत शिक्षण निष्काम भाव से होता था। इस पारंपरिक संगीत शिक्षण में संगीत की शिक्षा की व्यवस्था व्यक्तिगत होती थी संस्थागत नहीं होती थी शिष्य की सीखने की इच्छा तथा लगन तथ गुरू निष्ठा इत्यादि गुणो की कसौटी पर खरा उतरने के बाद ही शिष्य को स्वीकार किया जाता था। गुरू की आज्ञा के पूर्ण पालन के पश्चात ही यदि गुरू की कृपा हो तभी शिष्य को विद्या प्राप्त होना संभव था। इन परीक्षा के बाद गुरू भी शिष्य को खुले दिल से विद्यादान करते थे। संक्षेप मे प्राचीन काल में संगीत शिक्षा गुरू पर निर्भर करती थी। पाठ्यक्रम जैसी कोई वस्तु नहीं होती थी। संगीत को लिखने के लिए स्वरलिपि जैसी कोई सुविधाएं नहीं होती थी। इस परंपरा में संगीत के क्रियात्मक पक्ष पर अधिक बल दिया जाता था। क्रियात्मक पक्ष के लिए इन मूल सिद्धांत, इत्यादि का उल्लंघन नहीं किया जाता था। गुरू शिष्य परंपरा से शिष्य एक सिद्ध सच्चा कलाकार बन कर निकलते हैं यही पारंपरिक संगीत प्रणाली प्राचीनकाल से मध्यकाल में स्वामी हरिदास, तानसेन बैजू तथा रानी मृगनयनी तक निरंतर प्रवाहित होती रही। यही परंपरा कालान्तर में मुगलकाल के अंतिम चरण 18वीं शताब्दी में मुहम्मद शाह रंगीले के दरबार मे पोषित होती हुई सदारंग, अदारंग, इत्यादि पर समाप्त होती है। क्योंकि आधुनिक काल तक आते आते संगीत शिक्षण प्रणाली में निरंतर तीव्र परिवर्तन देखने को मिलते हैं। जो संगीत प्रणाली कंठ से कंठ हाथ से हाथ में सिखायी जाती थी वही शिक्षण अब खुले रूप में विज्ञान के अविष्कारों के साथ ही कुछ लोगों तक ही सीमित नहीं रही वह विशाल आकार ग्रहण करके समाज में स्थापित होने लगी हैं इस संगीत प्रणाली में 18-19 शताब्दी परिवर्तन की जो धारा प्रवाहित हुई व 20वीं शताब्दी में आश्चर्यजनक रूप से तीव्र गति से परिवर्तित हुई और तीव्रतम परिवर्तनों का मुख्य कारण नित नये-नये विज्ञान के अविष्कारों का प्रादुर्भाव होना रहा। जहां विज्ञान के अविष्कार से ग्रामोफोन, माइक्रोफोन, रेडियो, टीवी, सीडी प्लेयर, कंप्यूटर इत्यादि ने संगीत शिक्षण में तीव्र क्रांति ला दी वहीं दूसरी ओर आवागमन के सुलभ साधनों ने इस क्षेत्र को अत्यधिक प्रभावित किया। जिसके फलस्वरूप संगीत के प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन आया। प्राचीन संगीत 20 वीं शताब्दी मे आकर बदलने लगा। विज्ञान के उपकरणों के कारण संगीत की प्रस्तुति में भी परिवर्तन होने लगा माइक्रोफोन आने से आवाज की प्रकृति बदल गयी और पारंपरिक गायिकियों में भी तीव्रतम परिवर्तन हुये। रेडियो, टीवी, सीडी, कंप्यूटर ने आम जनता को घर बैठे ही संगीत का मनोरंजन के रूप में भी तथा विद्यार्थी शिक्षा के रूप में भी घर बैठे ही अपने समस्याओं का सामाधान करने लगे। माइक्रोफोन आने से गले की तथा वाद्यों की बारीकियां समझ में आने लगी जिससे संगीत में एक नवीन धारा का विकास हुआ जो वाद्य केवल साथ संगत में प्रयुक्त होते थे वहीं अब स्वतंत्र वादन के रूप में उन्हें महत्व मिलने लगा जिससे अनेक कलाकारों का प्रादुर्भाव हुआ जैसे उस्ताद जाकिर हुसैन, रविशंकर अमजद अली खान, हरिप्रसाद चौरसिया आदि वादक प्रकाश मे आये और संगीत जगत में सफलता की उंचाईयों को छू रहे हैं और संगीत के क्षेत्र को नित नये आयाम दे रहे हैं।

Scanned with OKEN Scanner

वर्त्तमान सामाजिक परिवेश में संगीत कला की स्थिति

डॉ॰ रेणु निगम*

महान दार्शनिक अरस्तू कहते हैं – "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज से बाहर रहने वाला मानव या तो देव है या दानव।" समाज का निर्माण मनुष्यों अर्थात् व्यक्तियों द्वारा होता है अतः व्यक्ति समाज की एक ईकाई है और कला एवं संस्कृति समाज का दर्पण। महात्मा गांधी ने कला एवं मनुष्य के संबंध को बड़े सहज भाव से व्यक्त करते हुए कहा है कि कला मनुष्य के भाव जगत की स्वतंत्र अभिव्यक्ति है। अंततः कला, कलाकार की सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यक्ति है जो मूर्तिकला, वास्तुकला, चित्रकला, संगीत व काव्य को जन्म देने में समर्थ हुई।

ये कलाएं, ललित कलाएं कहलाती है। संस्कृत वाड्यम में 5 प्रकार की ललित कलाओं का उल्लेख मिलता है – 1. वास्तुकला 2. चित्रकला 3. मूर्तिकला 4. काव्यकला 5. संगीत कला। इन ललित कलाओं का संबंध मनुष्य के सौन्दर्य बोध सांस्कृतिक विकास और आध्यात्मिक चेतना से है परंतु मेरा संबंध चूंकि संगीत कला से है अतः मैं वर्तमान सामाजिक परिवेश में संगीत कला की स्थिति का ही विश्लेषण करूंगी।

यह तो निर्विवाद सत्य है कि कला एक अखण्ड अभिव्यक्ति है। जहां तक संगीत कला का प्रश्न है, संगीत का आधार नाद है इसीलिए इसकी अभिव्यक्ति के लिए न तो ईंट-पत्थर, रंग-कूची, शब्द भंडार आदि की आवश्यकता होती है, उसे तो संगीतज्ञ स्वर के उतार-चढ़ाव से ही सजीव बना देता है। रवीन्द्र नाथ ठाकुर भी इस कला की श्रेष्ठता को मानते हुए इस प्रकार कहते हैं – "जहां अभिव्यंजना में काव्य असमर्थ है वहां से संगीत की प्रथम सीढ़ी प्रारंभ होती है।" अतः योग, ध्यान, आध्यात्म, मनोरंजन, चिकित्सा, आत्मदर्शन तथा उस परमसत्ता से साक्षात्कार एवं एकाकार होने का सशक्त साधन संगीत है। भारतीय ही नहीं पाश्चात्य विद्वान भी इसकी महत्ता को समझते हुए कहते हैं – "संगीत मनुष्य को दयालु, नीतिशील और बुद्धिमान बनाता है। संगीत खुदा की दी हुई कला है जो मनुष्य के कष्टों को दूर करती है।" – लूथर। इस प्रकार कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि संगीत का मनुष्य के जीवन से चोली दामन का साथ है। मनुष्य चूंकि एक सामाजिक प्राणी है अतः संगीत का समाज से घनिष्ठ संबंध है। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व संभव नहीं है।

यह तो सर्वविदित है कि वर्तमान में भारतीय समाज पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति से बहुत अधिक प्रभावित हो चुका है उसका यह कलेवर हमारी संगीत कला में भी स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो रहा है। अतः आज समाज में संगीत कला की स्थिति यह बन गयी है कि कहीं शास्त्रीयता का पुट है तो कहीं फास्ट म्यूजिक का, कहीं चित्रपट संगीत लोकप्रिय है तो कहीं प्राइवेट एलबम यानि संगीतकला में विविधता दिखाई दे रही है। अतः समाज में प्रचलित संगीत को हम निम्न वर्गों में विभक्त कर सकते हैं–

1. शास्त्रीय संगीत–यह समाज के उस अभिजात्य वर्ग में प्रचलित है जो आज भी अपने को भारतीय सांस्कृतिक परंपराओं से जोड़े रखने में प्रयासरत हैं क्योंकि वो भली प्रकार यह समझते हैं कि शास्त्रीय संगीत हमारी सांस्कृतिक विरासत है, भारतीयता इसकी आत्मा है और आत्मा कभी मरती

* रीडर एवं विभागाध्यक्ष, संगीत गायन विभाग, आ॰न॰नि॰म॰ महाविद्यालय, कानपुर।

Scanned with OKEN Scanner

नहीं है, इसलिए शास्त्रीय संगीत भी आत्मा की तरह अजर है, अमर है। अतः हम सभी आशान्वित हैं कि वह दिन दूर नहीं जब शास्त्रीय संगीत पुनः अपने वैभव को प्राप्त कर जन-जन में प्रचलित होगा।

2. लोक संगीत—समाज के बहुत बड़े वर्ग में, चाहे वो शहरी हो अथवा गांव, यह लोकप्रिय है। यहां तक कि समाज का अत्याधुनिक एवं पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित वर्ग भी इसके आकर्षण से अपने को बचा नहीं पाता। सीधी-सहज धुनों एवं सरल भाषा में गाये जानेवाले ये अत्यंत मधुर गीत होते हैं। ढोलक की थाप एवं मंजीरे की झंकार इन गीतों की मधुरता में चार चांद लगा देते हैं। समाज के बड़े से बड़े व्यक्ति के यहां आज भी यदि शादी विवाह संस्कार में ढोलक की थाप और इन गीतों की गुनगुनाहट न हो तो शादी फीकी ही कही जाती है।

अतः समाज में आज भी इन गीतों के महत्व को अनदेखा नहीं किया जा सकता। इन गीतों में भारतीयता की झांकी है और दैनिक जीवन से इनका अटूट संबंध है।

3. फास्ट म्यूजिक—इस प्रकार के संगीत में पाप, जैज, डीजे संगीत को रखा जा सकता है। यह वह संगीत है जो आत्मा पर अपना प्रभाव न डालकर मन मस्तिष्क पर ऐसा प्रभाव डालता है जो हाथ-पैर को थिरकने पर मजबूर करता है। यह कम वाल्यूम में सुनने वाला संगीत नहीं हैं इसको जितनी तेज वाल्यूम में सुना जाता है उतना ही यह प्रभावी होता है अर्थात् आप अपने घर में बजाइए और पूरे मोहल्ले को सुनाइए। इस संगीत की मुख्य बात यह है कि इसमें गायन दोयम दर्जे का होता है तथा परकशन वाद्यों का प्रयोग प्रथम दर्जे का। इलेक्ट्रॉनिक एवं भारतीय परकशन वाद्यों के प्रयोग से ये गीत लय प्रधान होते हैं।

4. दूरदर्शन पर प्रसारित संगीत—वर्तमान सामाजिक परिवेश में दूरदर्शन की लोकप्रियता को कोई नकार नहीं सकता है। शहर, गांव, घर-घर में टीवी देखने का प्रचलन आम हो गया है। दूरदर्शन द्वारा मनुष्य को दृश्य एवं श्रव्य दोनों सामग्री उपलब्ध होती है इसीलिए यह अधिक लोकप्रिय है। आज अर्थवादी युग है। पैसा कमाना मनुष्य का उद्देश्य हो गया है। येन, केन, प्रकारेण, किसी भी तरह से जल्दी से जल्दी, ज्यादा से ज्यादा पैसा कमाने की मानसिकता का विकास हो गया है। संगीत के क्षेत्र में भी इसका स्पष्ट प्रभाव दिखने लगा है। यूं तो दूरदर्शन द्वारा सभी प्रकार का संगीत प्रसारित होता है। बड़े-बड़े नामचीन कलाकारों (शास्त्रीय, गजल, भजन) के दर्शन एवं उनकी कला का आनंद घर बैठे ही मिल जाता है परंतु दूरदर्शन के वही कार्यक्रम सफल माने जाते हैं जिनमें अच्छे प्रायोजक मिल जाते हैं। ये प्रायोजक जनता को लुभाने के लिए नए-नए हथकण्डे अपनाते हैं। लोगों ने सस्ती लोकप्रियता एवं अधिक से अधिक अर्थलाभ को दृष्टिकोण में रखकर संगीत को भी अश्लीलता से जोड़ दिया है।

दूरदर्शन के प्रमुख चैनल डीडी-1, 2 को छोड़कर अनेक व्यक्तिगत चैनल आज प्रचार में है। संगीत से संबंधित म्यूजिक एशिया, ईटीसी, एमटीवी आदि युवाओं के मध्य प्रमुख रूप से लोकप्रिय है परंतु क्या इन पर प्रसारित होनेवाला गीत-संगीत, परिवार के सभी छोटे-बड़े सदस्यों के साथ बैठकर देखा जा सकता है? इसका विश्लेषण करने पर जो तथ्य सामने आते हैं वो इस प्रकार है कि चाहे फिल्म संगीत हो या प्राइवेट एलबम हो, इनका फिल्मांकन अत्यंत उत्तेजक एवं अश्लीलता से भरा हुआ किया जाता है और इसी प्रकार प्रसारित होता है। अतः दूरदर्शन के माध्यम से जो सामग्री समाज को परोसी जा रही है उसको ग्रहण कर समाज में ग्रहण लगा जा रहा है।

सामान्य रूप से समाज में आज संगीत कला की स्थिति अत्यंत महत्वपूर्ण हो गई है, चाहे वो नाटक हो, टीवी सीरियल हो या फिल्म हो, प्रायः सभी में शीर्षक गीत, पार्श्व संगीत (बैकग्राउंड म्यूजिक) तथा कहानी को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए बीच-बीच में गीत-संगीत का सहारा लिया जाता है। यही नहीं व्यवसायिक प्रचार-प्रसार में भी संगीत का सहारा लिया जाने लगा है। यह विज्ञापन का युग है। किसी भी वस्तु को बाजार में लोकप्रिय करने के

Scanned with OKEN Scanner

लिए आकर्षक विज्ञापन बनाये जाते हैं और उस प्रोडक्ट को सुन्दर संगीत संयोजन द्वारा प्रचारित किया जाता है। जैसे "वाशिंग पाउडर निरमा, वाशिंग पाउडर निरमा, दूध सी सफेदी, निरमा से आए रंगीन कपड़ा भी खिल-खिल जाए, सबकी पसंद निरमा, वाशिंग पाउडर निरमा, निरमा या निरमा (नहाने का साबुन) – "यूं खिली खिली, यूं संवर-संवर, ओ जाने वफा तुम चली कहां? सौन्दर्य साबुन निरमा, सौन्दर्य साबुन निरमा" आदि आदि –

5. आकाशवाणी द्वारा प्रसारित संगीत– आकाशवाणी ने दूरदर्शन की अपेक्षा संगीत कला के स्तर को आज भी बनाए रखा है। हर वर्ग के श्रोताओं को ध्यान में रखकर उसके कार्यक्रम बनाए गए हैं। जैसे–रेडियो संगीत सम्मेलन, रविवासरीय संगीत सभा, अखिल भारतीय संगीत कार्यक्रम, मंगलवारीय संगीत सभा, सुगम संगीत, लोक संगीत, चित्रपटीय संगीत, गीत गजल भजन के कार्यक्रम आदि। आज ग्लैमर के कलेवर से सजे समाज में निश्चित रूप से आकाशवाणी की लोकप्रियता में कमी आई है क्योंकि यहां सब श्रव्य है, दृश्य कुछ भी नहीं।

6. चित्रपट संगीत–समाज को एक दिशा देने में उसको प्रभावित करने में चित्रपट का विशेष योगदान है। वर्तमान में चित्रपट के माध्यम से जिस प्रकार के संगीत का प्रचार प्रसार हो रहा है वह पाश्चात्य संस्कृति से पूर्णतयाः प्रभावित दिखाई देता है, उसका फिल्मांकन भी उत्तेजना एवं उश्रृंखलता के साथ किया जाता है जो कि हमारे युवा वर्ग पर बुरा असर डालकर घातक सिद्ध हो रहा है। यदि आज के चित्रपट संगीत का हम बारीकी से निरीक्षण करें तो पाते हैं कि ये जितनी तेजी से लोकप्रिय हो कर प्रचार में आते हैं, उतनी ही तेजी से गायब भी हो जाते हैं जब कि आज भी पूराने फिल्मी गाने अंतर्मान को छू जाते हैं और कानों में गूंजते रहते हैं। इसका कारण है कि इन गीतों में भारतीयता बसती है। इनमें आज के गीतों जैसी उत्तेजना एवं तेजी नहीं है वरन् मधुरता इनका मूल मंत्र है।

7. रीमिक्स गीत–वर्तमान समय में कुछ नया कर दिखाने की चाह एवं संगीत में नवीन परिवर्तन लाने की ललक ने इन रीमिक्स गीतों को जन्म दिया है। पूराने फिल्मी गीतों को नया रूप देने के लिए उसके ल्जीउ को बदलकर परकशन वाद्यों की सहायता से इन पर विडियो फिल्मस बनाकर, ये रीमिक्स गीत प्रस्तुत किए जा रहे हैं। ये गीत लोगों को डीजे पर थिरकने में बहुत लोकप्रिय हो रहे हैं।

8. प्राइवेट एलबम्स–प्राइवेट एलबम्स का चलन आज के युग में बहुत हो गया है। आज हर वो व्यक्ति कलाकार बनने की क्षमता रखता है जिसके पास संसाधन है, पहुंच है। अपने को लोकप्रिय करने के लिए ये कलाकार अपने एलबम्स की वीडियो रिकार्डिंग करवा कर टीवी पर प्रसारित करवाते हैं। वर्तमान समय से फास्ट म्यूजिक युग में एक नए प्रकार के संगीत ने समाज में अपनी मजबूत पकड़ बना ली है।

9. भक्ति संगीत–आज का मानव भागदौड़ एवं मानसिक तनावों के बीच जी रहा है। अपने को तनाव मुक्त एवं मानसिक शांति प्राप्त करने के लिए वह भक्ति संगीत की ओर आकर्षित हो रहा है। व्यापक दृष्टि से देखा जाए तो समाज में भक्ति संगीत भी कई प्रकार से प्रचलित है जैसे :-

(अ) विशुद्ध भक्ति संगीत–शास्त्रीयता के आधार पर गाये जाने वाले पारंपरिक एवं सूर तुलसी, मीरा आदि संतों के पदों पर आधारित भजन।

(ब) फिल्मी धुनों पर आधारित भजन :- भजन की यह विधा आज के युग की देन है और बहुत लोकप्रिय भी हो रही है। बड़े-बड़े कलाकारों के भी, फिल्मी धुनों के कैसेट/सीडी आज बाजार में उपलब्ध है।

(स) संकीर्तन :- सामूहिक रूप से हाथ से ताली बजाकर यह भक्ति संगीत गाया जाता है। इसमें ज्यादा साहित्य की आवश्यकता नहीं होती। कम शब्दों का साथ सीताराम, राधे श्याम, ओम नमः शिवाय जैसे मंत्रों को सामूहिक रूप से गाया जाता है। यह पूर्णतयाः भावनात्मक संगीत है। मनुष्य ईश्वर की उपासना में

Scanned with OKEN Scanner

इतना लीन हो जाता है कि अपनी सुधबुध खोकर आनंद के उन छणों मे नाचने लगता है यह संगीत भारतीय सौन्दर्य की इति है। मेरे विचार से तो यह विशुद्ध भारतीय पाप संगीत है।

जैसा कि हम सब जानते हैं प्रकृति के कण कण में संगीत व्याप्त है। यह सौन्दर्य की भाषा है और प्रत्येक प्राणी के अन्तःकरण में व्याप्त है। यह मुख्य रूप से जनमानस के जीवन से जुड़ी हुयी कला है क्योंकि अपने भावों, विचारों एवं संवेगों को संगीत के माध्यम से सहज रूप से प्रकट किया जा सकता है। इसी से संगीत कला की सार्थकता, सार्वभौमता एवं श्रेष्ठता सिद्ध होती है।

सामान्य रूप से वर्तमान सामाजिक परिवेश में संगीत कला की अच्छी स्थिति स्वयं सिद्ध है। समाज में संगीत की ओर बढ़ती अभिरूचि इसका प्रमाण है, यह अवश्य है कि आज उसका स्वरूप बदल गया है। पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित हो जाने के कारण इसकी शुद्धता एवं पवित्रता, लोप होती नजर आ रही है। पहले संगीत से आंतरिक सुख की प्राप्ति होती थी आज उसका स्थान वाह्य सुख ने ले लिया है। इसका उद्देश्य और महत्व दोनों ही बदल गए हैं। वह शास्त्रीय संगीत जो कभी जन-जन में लोकप्रिय हुआ करता था आज फास्ट फूड वाली संस्कृति के साथ फास्ट म्यूजिक वाली संस्कृति में बदल गया है। साथ ही संगीत में पनपे व्यवसायीकरण के कारण तथा येन, केन प्रकारेण, अधिक से अधिक पैसा कमाने की प्रवृति के कारण संगीत कला के स्तर में गिरावट आई है जिससे समाज में मानसिक प्रदूषण फैल रहा है।

अतः संगीतकला की जो स्थितियां एवं परिस्थितियां वर्तमान सामाजिक परिवेश में परिलक्षित हो रही है वे उपरी तौर पर तो बहुत भव्य एवं आकर्षक दृष्टिगत हो रही है परंतु आंतरिक रूप से अत्यंत खोखली है। सामान्य रूप से आज का युवा इसी प्रकार के संगीत को पसंद कर रहा है परंतु इसमें उसका कोई दोष नहीं, क्योंकि जो कुछ उसको सुनाया या दिखाया जाएगा वहीं वह (यह न जानते हुए क्या सही है क्या गलत) ग्रहण करेगा और उसे ही अपना भारतीय संगीत समझेगा। इस प्रकार के संगीत से मानसिक प्रदूषण, तेज वाल्यूम में सुने जाने के कारण ध्वनि प्रदूषण तथा सुकुमार पीढ़ी के दिलो-दिमाग पर इस प्रकार के तेज संगीत के गहरे असर पड़ने के कारण समाज में अराजकता एवं हिंसा बढ़ रही है।

हम सबको मिलकर इसे रोकना होगा। हमें अपने समाज को बचाना है, युवाओं को चेताना है इसलिए इसके लिए केन्द्र सरकार, राज्य सरकार, व्यक्तिगत संस्थाएं समाज सेवी संस्थाएं, समाज के अग्रणी व्यक्ति, आप-हम सबको सम्मिलित प्रयास करना होगा। हमें समाज को भारतीय संगीत कला के मूल रूप, उसकी सच्चाई, सार्वभौमता, आध्यात्म, विज्ञान एवं परमानन्द के सुख से परिचित कराना है। यह बहुत कठिन कार्य नहीं है क्योंकि हमारा यूथ, जिस पर बहुत से अनर्गल आरोप लगाए जाते हैं, वो टीवी पर प्रसारित होनेवाले संगीत कार्यक्रम जैसे सारेगम, मेरी आवाज सुनो, इंडियन आइडल, अंताक्षरी मे अपनी रूचि दिखलाकर इन आरोपों को गलत सिद्ध कर रहा है। अतः हमें उनको बस सही दिशा दिखानी है। फिर वह दिन दूर नहीं जब भारतीय संगीत की आत्मा पुनः जीवित हो उठेगी और चारों ओर होगा संगीतकला का दिव्य प्रकाश।

Scanned with OKEN Scanner

भाव के स्वरों में रंगी ठुमरी

आभा कुमारी*

भारतीय शास्त्रीय संगीत की विविधता के पीछे इसकी विभिन्न गायन शैलियों का महत्व माना जा सकता है, जिसके कारण ही शास्त्रीय में सौन्दर्य, स्थापना की दृष्टि से विस्तृत फलक प्राप्त हुआ है। भारतीय संगीत की यह विविधता इसके गुणियों की लंबी साधना एवं सौन्दर्य बोध का ही प्रतिफल है।

मध्यकालिन भारतीय संगीत अपने श्रृंगार प्रधान अनुभूतियों के लिए विशेष रूप से जाना गया है इसी अवधि में ध्रुपद, धमार, ख्याल, ठुमरी, टप्पा, दादरा, सादरा, चतुरंग, त्रिवट, होली, होरि आदि विविध रंगों में रंगे गीत एवं गायन शैली विकसित हुए। इसी क्रम में ठुमरी गायकी श्रृंगार प्रधान स्वर अभिव्यक्ति के कारण गायक एवं संगीत रसिकों के प्रिय रहे हैं।

"श्री मदनलाल व्यास" ने ठुमरी के संबंध में कहा है–'ठु' 'म' एवं 'री' ठुमरी शब्द के अंश है। 'ठुम' ठुमकने अथवा 'ठुमक' कर या शान से चलने का द्योतक है, जबकि 'री' अंतरंग सखी से अपने अंतर की बात कहने का। आचार्य कैलाशचन्द्रदेव, वृहस्पति के अनुसार, ठुमरी का विषय नायिका के अंतर की असंख्य भाव-लहरियों का चित्रण है, इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए कैशिकी, वृति का आश्रय लेकर जब स्वर, ताल और मार्ग का प्रयोग किया जाता है, तब "ठुमरी" नामक गीत की सृष्टि होती है। जब वादन के द्वारा यह गीत उपरंजित होता है और अभिनय के द्वारा इसे पूर्ण किया जाता है तब ये भावनाएं मूर्त हो उठती है।

ठुमरी भाव-प्रधान संगीत है। भावों की सूक्ष्म और ललित अभिव्यक्ति ही इसकी विशेषता है। जिस प्रकार मुद्राओं और भावभंगिओं द्वारा नर्तक कथ की अभिव्यंजना करता है उसी प्रकार संगीत के राग, ताल और भावों के जरिए गायक गीत की कथावस्तु को अभिव्यक्त करता है। ठुमरी गायन में गायक राग के कठिन बंधनों को खोलकर सहज और सुलभ बना देता है, यह प्रक्रिया स्वाभाविक रूप से पदानुकूल भावाभिव्यक्ति के लिए होती जाती है। जो कलाकार की कल्पना के आधार पर निरंतर जारी रहती है। विलम्बित गति से पदों को भरने का पूरा अवसर मिलता है। गायक गीत के रूप को सजाने और संवारने में मुरकी, खटका, कण जमजमा और मीड़ का प्रयोग मुख्यतः करते हैं। सपाट ताने भी ली जाती है। लेकिन ठुमरी का आकर्षण इस बात में है कि गायक गीत के भाव की संगीतात्मक अभिव्यक्ति में कितना लगाव दिखाता है।

आचार्य बृहस्पति ने कहा है कि स्वरों का भावानुकूल वैचित्र्यमय प्रयोग ठुमरी का स्वर पक्ष है, जिसके लिए बड़ी तमीज चाहिए। इस तमीज को लेकर भैया गनपत राव पैदा हुए थे। ठुमरी में स्वर और शब्द एक दूसरे के पूरक हैं, एक ही शब्द को कई छबिया स्वर देते हैं। यह फूलों की गंध से बसा हुआ तेल है। ठुमरी की एक प्रकृति है वह विरहिन है और मदभरी सुहागिन भी। उसे संयोग में वियोग की आशंका है, वियोग में उसे संयोग की स्मृतियां बेचैन बनाती है, इसलिए हूक और टेर से वह शून्य कभी नहीं है। टीस न होने पर भी वह टीस का अनुभव करती है और जब उसमें सचमुच टीस होती है तब सुननेवालों की आंखों से गंगा-जमुना बहती है। सुशीला रानी ने लिखा है कि–भैया गणपत राव द्वारा प्रवर्तित ठुमरी को सफलता के शिखर तक

* व्याख्याता संगीत विभाग, मिथिला महिला महाविद्यालय, दरभंगा।

पहुंचाने का श्रेय उस्ताद मौजुद्दीन खां को जाता है। इन्होंने सर्वप्रथम जगदीप मिश्रजी का ठुमरी-गायन सुन-सुनकर ठुमरी गाना प्रारंभ किया तथा बाद मे गणपत राव से ठुमरी-गायन की विधिवत शिक्षा लेकर ठुमरी में विभिन्न प्रकार के बोल बनाने में महारत हासिल की। इस प्रकार बनारस की ठुमरी को स्थापित करने तथा उसका प्रचार-प्रसार करने की दृष्टि से उ॰ मौजुद्दीन खां का नाम भी अग्रणी कलाकारों में लिया जाता है।

बनारस के प्रसिद्ध गायक कलाकार पं॰ जगदीप मिश्र भी ठुमरी में तरह-तरह के बोल बनाने में निपुण थे। कुछ विद्वान पं॰ जगदीप मिश्र को ही बनारसी ठुमरी का प्रवर्तक मानते हैं। जो भी हो, पं॰ जगदीप मिश्र, भैया गणपत राव एवं उ॰ मौजुद्दीन खां के समय इन्हीं के विशेष प्रयत्नों से विलम्बित लय की बोल-बनाव ठुमरी गाने का प्रचलन बढ़ा तथा बनारस में इसका अत्यधिक प्रचार-प्रसार हुआ। बाद में यही ठुमरी पूरब बोलियों, लोकगीतों (चैती, कजरी, होरी, सावनी आदि) लोकधुनों आदि के प्रभाव से और अधिक भावप्रधान हो गई तथा 'बनारसी ठुमरी' के नाम से रूढ़ हो गई। गायकों में मिठाईलाल, रामसेवक दरगाही जी, बड़े रामदास जी, धीरेन बाबू, श्रीचन्द्र मिश्र, इलाहाबाद के पं॰ भोलानाथ भट्ट, स्व॰ रामा जी, महादेव मिश्र, गया के रामू जी तथा गायिकाओं में हुस्ना, विद्याधरी देवी, नैना, राजेश्वरी देवी, जानकी देवी इलाहाबादी उर्फ 'छप्पनछुरी', आगरे की मलिका जान, पटना की जोहराजान, कलकत्ता की गौहरजान, बड़ी मोतीबाई, रसूलनबाई, सिद्धेश्वरी देवी तथा अन्य अनेक गायिकाओं ने बनारसी ठुमरी की इसी परंपरा को आगे बढ़ाया। बाद वाले समय में बनारसी ठुमरी की परंपरा का निर्वाह करनेवाली गायिकाओं में माणिक वर्मा तथा गिरिजा देवी का नाम महत्वपूर्ण है।

कु॰ सुनीता द्विवेदी ने "ठुमरी कब, कहां और कैसे" वातावरण में उत्पन्न हुई तथा उसका किस प्रकार विकास हुआ, इस विषय में कई मत के बारे में कहा है। "प्राचीन काल में एक छालिक्य नृत्य नामक शैली थी, जिसमें अभिनय तथा गान की प्रधानता थी। कालिदास के मालविकाग्निमित्र नामक नाटक में मालविका द्वारा छालिक्य का बड़ा ही सुंदर वर्णन किया गया है। ठुमरी इसका ही परिवर्तित रूप मानी जाती है। अंतर इतना है कि पहले आंगिक व वाचिक, दोनों अभिनय होते थे, किन्तु अब आंगिक अभिनय बंद हो गया है, केवल वाचिक अभिनय रह गया है अर्थात् केवल स्वरों के द्वारा गीत के बोल के भावों को अभिव्यक्त किया जाता है।

दूसरे मत के अनुसार, राजा मानसिंह तोमर ने ठुमरी को जन्म दिया। कहा जाता है कि एक दिन वे भैरवी गा रहे थे। अनायास ही उनसे एक विवादी स्वर लग गया जो कि बड़ा अच्छा लगा तो उन्होंने और भी कई विवादी स्वरों का प्रयोग किया। इससे जो भैरवी का रूप बना, उसका नाम उन्होंने 'तोमरी' रखा जो बिगड़कर ठुमरी हो गया।

कुछ लोगों का कहना है कि ठुमरी का जन्म उन लोकगीतों से हुआ है जो कि नृत्य के साथ गाये जाते थे। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से ठुमरी 'ठुमक' शब्द से निकली है, जिसका अर्थ है 'सुंदर पादक्षेप'। इससे यह प्रतीत होता है कि ठुमरी और नृत्य का घनिष्ठ संबंध रहा होगा। ठुमरी के गीतों के भावों को नृत्य में अंग-संचालन के द्वारा व्यक्त किया जाता था, परंतु आजकल गीतों के भावों को स्वरों के द्वारा स्पष्ट किया जाता है। इस प्रकार यह धारणा कुछ अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होती है।

एक अन्य विचारधारा के अनुसार ठुमरी ख्याल से संबंधित है। 19वीं सदी के आरंभ में अवध के नबाब आसफुद्दौला के दरबार में गुलाम रसूल नामक गायक थे। गुलाम नबी शोरी इन्हीं के पुत्र थे और शोरी मियां ने अपने पिता से ख्याल की शिक्षा ग्रहण की थी। उस समय भी जटिल और उलझी हुई तानों के साथ द्रुत ख्याल गाया जाता था तथा गीत के शब्दों के भावों पर कम ध्यान दिया जाता था। शोरी मियां को यह अच्छा नहीं लगता था हो सकता है कि उनका गला इस गायकी के उपयुक्त न रहा हो, किसी हलकी शैली के योग्य रहा हो। इसलिए उन्होंने ख्याल की जटिलता को समाप्त कर शब्दों की प्रधानता देकर एक नई शैली को जन्म दिया, जिसका नाम

Scanned with OKEN Scanner

कालांतर में 'ठुमरी' पड़ा। अध्ययन एवं अवलोकन से यह भी स्पष्ट होता है कि 19वीं सदी के लखनऊ के कथक नृत्य के आचार्य द्वैय कालिकादीन एवं विन्दादीन महाराज के नृत्य गीतों से भी ठुमरी को विकसित होने का मौका मिला, इन लोगों ने नृत्य में श्रृंगारिक भावाभिव्यक्ति के लिए असंख्य ठुमरियों की रचना की जो आज भी लोकप्रिय है।

ठुमरी वर्तमान शास्त्रीय संगीत के अंतर्गत उपशास्त्रीय की श्रेणी में माना गया है। जिसमें राग गायन की शास्त्रीयता का अनुपालन नहीं होने के कारण ही इसे उपशास्त्रीय संगीत कहा जाता है।

वर्तमान समय में देश में ठुमरी गायन के रूप में विदुषी पुर्णिमां चौधरी, विदुषी गीता बनर्जी इलाहाबाद के अतिरिक्त पं. अजय चक्रवर्ती, जगदीश प्रसाद आदि भी अच्छे ठुमरी गायक में गिने जाते हैं।

शैली की दृष्टि से ठुमरी गायकी की पंजाब बनारस एवं गया की शैलियां प्रचलित है। पं. जगदीश प्रसाद पंजाब अंग की ठुमरी गाते हैं जिसमें बल पेंच के साथ स्वरों का चमत्कारिक प्रयोग होता है। विदुषी पूर्णिमा चौधरी बनारसी ठुमरी गाती है जिसमें बोलबनाव की प्रधानता रहती है। दरभंगा घराने के मल्लिक ध्रुपद गायक भी गया अंग की ठुमरी गाते हैं। गायकी में स्वरों की सहायता एवं स्थानीय लोकस्वरों का पुट इनकी गायकी की विशेषता है। स्व. रामचतुर मल्लिक, स्व. सियाराम तिवारी, स्व. विदुर मल्लिक आदि कुशलता पूर्वक ठुमरी गाते थे। जिनकी गायकी पर गया अंग का प्रभाव था। वर्तमान समय में इसी घराने के पं. राम कुमार मल्लिक, प्रो. प्रेम कुमार मल्लिक, प्रो. अभय नारायण मल्लिक ध्रुपद के साथ कुशल ठुमरी गायक भी है।

संदर्भ

1. खुसरो तानसेन तथा अन्य कलाकार, ले. सुलोचना बृहस्पति।
2. संगीत चिन्तामणि–ले. आचार्य बृहस्पति।
3. उपशास्त्रीय अंक जनवरी फरवरी 2003 संगीत मासिक।
4. भारतीय ध्रुवपद गायन शैली में दरभंगा घराना का योगदान (शोध प्रबंध) डॉ. वेद प्रकाश
5. ठुमरी गायिकी-शत्रुघ्न शुक्ला।
6. बिहार की संगीत परंपरा, लेखक गजेन्द्र नारायण सिंह।

Scanned with OKEN Scanner

सितार एवं अभ्यास विधि

डॉ. शोभित कुमार नाहर*

भारतीय आध्यात्म में ज्ञान एवं ज्ञानार्जन को प्राचीन काल से ही अत्यंत महत्व दिया गया है। क्योंकि हमारी संस्कृति में ज्ञान को अनन्य स्थान प्रदान करते हुए वेदों को ज्ञान का स्त्रोत बताया गया है। यह भी महत्वपूर्ण है कि ज्ञान के किसी भी क्षेत्र में अभ्यास का अनन्य महत्व है। चूंकि ज्ञान अनादि है, जिसे ब्रह्म के समरूप माना गया है। अतः ज्ञान में भी साधना एवं तपस्या का सहयोग अपेक्षित माना गया है। इसलिए हमारे देश में ऋषि-मुनियों ने भी साधना के लिए अभ्यास का सहारा लिया है और कहा भी गया है -

"करत-करत अभ्यास के जड़िमत होत सुजान"

भारतीय संगीत तो साधना योग है अस्तु इस क्षेत्र में तो अभ्यास की महत्ता अपने आप में अत्यंत महत्वपूर्ण है। क्योंकि संगीत ज्ञान योग में गुरू-शिष्य परंपरा ही एकमात्र साध्य है। महाभारत में एकलव्य की कथा से हम सभी परिचित ही होंगे कि गुरू की मूर्ति स्थापित कर केवल स्मरण मात्र करते हुए एकलव्य अनवरत अथक परिश्रम एवं अभ्यास के बल पर अद्वितीय धनुर्धर बन गया था।

संगीत में जहां कि गुरू-शिष्य परंपरा का अनन्य महत्व है जिसमें गुरू के सम्मुख बैठकर शिष्य, संगीत की बारीकियों की शिक्षा ग्रहण करता है। उन्हें कैसे अभ्यासित करें इस परंपरा में तो महीने में दो-एक बार ही शिष्यों को पाठ दिया जाता है। शेष समय में उसे अभ्यास ही किया जाता है। एक-एक स्वर लगाकर, एक-एक अलंकार तान, आलाप, बंदिशें, प्रायः सबों में काफी अभ्यास किया जाता है। गुरू-शिष्य परंपरा में इसलिए यह कहा भी जाता है कि यदि सांगीतिक सामग्री कम भी हो तो अभ्यास के बल पर उसमे चमक पैदा की जा सकती है और सिद्धि भी। इसी परंपरा में पहले तो केवल महीनों-महीनों षडज स्वर का लगाव का अभ्यास कराया जाता है, तत्पश्चात् मन्द्र और फिर मध्य सप्तक मे शुद्ध स्वरों का क्रमानुसार लगाव का अभ्यास किया जाता है। स्वर लगाव पर अच्छी तरह अभ्यास हो जाने के उपरान्त तब आरोह, अवरोह के क्रम में शुद्ध स्वरों का अभ्यास किया जाता है। शुद्ध स्वरों के अभ्यास में क्रमानुसार गति बढ़ाई जाती है और तत्पश्चात् ठाह, दुगुन, चौगुन के लय में अभ्यास इसमे और परिपक्वता प्रदान करती है। शुद्ध स्वरों के अभ्यास के बाद इसी में क्रम से कोमल स्वर तथा तीव्र स्वर को भी शामिल किया जाता है। गायन में सबसे पहले भैरव राग की साधना कराई जाती है जिसमें कोमल, रिषभ और कोमल धैवत स्वर के साथ अन्य शुद्ध स्वरों का प्रयोग किया जाता है जबकि तंत्र, वाद्य, सितार मे राग यमन (कल्याण) से अभ्यास शुरू कराया जाता है। शुद्ध कोमल स्वरों के अभ्यास के बाद लंबे समय तक अलंकार और अलंकार के विविध प्रकारों का प्रयोग किया जाता है।

इतना ही नहीं अभ्यास का क्रम स्वर लगाव तथा अलंकार के बाद बंदिशों के परिप्रेक्ष्य में आता है। जहां बंदिशों की शिक्षा विधिवत् दी जाती है, वहां बंदिशों के ही माध्यम से राग का पूरा स्वरूप स्पष्ट हो जाता है तथा बंदिशों के ही माध्यम से राग के स्वरूप की भी लगभग शिक्षा पूरी हो जाती है। कई बार तो एक ही राग में अलग-अलग प्रकार के

* अतिथि प्रध्यापक, संगीत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

Scanned with OKEN Scanner

बंदिशों का भी अभ्यास कराया जाता है। स्वर लगाव अलंकार और बंदिशों का यही अभ्यास राग की गायकी मे महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

जहां तक तंत्री वाद्य सितार का प्रश्न है सितार वाद्यों में अत्यंत प्रचलित एवं महत्वपूर्ण वाद्य है। यूं तो प्रायः सभी वाद्यों मे हाथों के रख-रखाव एवं वादन तकनीक का अपना महत्व है। तथापि सितार में प्रारंभ से ही अच्छे गुरूजनों के देखरेख मे दोनों हाथों का रख-रखाव का अभ्यास करना चाहिए। सितार में दाहिने हाथ से 'दा' और 'रा' दो महत्वपूर्ण और प्रारंभिक बोल उत्पन्न होते हैं तब दाहिने हाथ की तर्जनी उंगली में मिजराब पहन कर बाज के तार पर बाहर से भीतर की ओर ठोकर मारते हुए ध्वनि उत्पन्न की जाती है तो वह 'दा' और जब इसके ठीक विपरीत दिशा में अंदर से बाहर की ओर ठोकर मारते हुए ध्वनि उत्पन्न की जाती है तो वह 'रा' कहलाती है। तत्पश्चात् 'दा' और 'रा' के विविध संयोग से अलग-अलग मात्राओं के बोल निर्मित किए जाते हैं। जिनमें दा रा, दिर, दा दा रा, दिर दा रा, इत्यादि प्रमुख हैं। दाहिने हाथ से दा-रा बोल के निकास में महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रहार मे जितना वजन 'दा' मे दिया जाता है उतना ही वजन 'रा' में भी दिया जाता है। फिर दिर एक इकाई मात्रा में शीघ्रता से बजाने पर उत्पन्न होता है। 'दा रा' के संयोग से विभिन्न मात्राओं के बोल निर्मित होते हैं, जिनमें कुछ प्रमुख हैं -

(1) दा दिर दा रा
(2) दा दिर दिर दा रा दिर दा रा
(3) दा दिर दिर दिर दा दिर दा रा
(4) दा दा रा दिर दा दिर दा रा
(5) दा रा दा रा दा दिर दा रा

..... इत्यादि

वस्तुतः यह देखा जाता है कि पहले तो वाद्यों पर जो वादन-सामग्री का प्रयोग किया जाता था। वे गान का अनुसारण ही था। इसलिए जिस प्रकार गायन में वॉयस कल्चर की क्रिया, आवाज को ठीक एवं सुदृढ़ करने हेतु की जाती है उसी प्रकार सितार में भी दाहिने हाथ के सही एवं सुदृढ़ प्रयोग से सितार में ध्वनि उत्पादन की दृष्टि से मधुरता की स्थापना की जाती है। क्योंकि ध्वनि उत्पादन की सुदृढ़ता के लिए दाहिने हाथ की भूमिका महत्वपूर्ण है।

इसके बाद बायें हाथ का कार्य प्रारंभ होता है जिसमें तर्जनी एवं मध्यमा उंगली से बाज के तार पर परदे के साथ में दबाकर स्वरोच्चारण किया जाता है। अंगूठे को दांड़ी के पीछे सहारे हेतु रखकर आवश्यकतानुसार आगे-पीछे सरकाया जाता है। बायें हाथ के कार्य में प्रथमतः परदों पर सरगम व अलंकार का अभ्यास किया जाता है। इनमे कुछ प्रमुख हैं -

1. सा रे ग म प ध नि सां
   सां नि ध प म ग रे सा
2. सा सा, रे रे, ग ग, म म, प प, ध ध, नि नि, सां सां
   सां सां, नि नि, ध ध, प प, म म, ग ग, रे रे, सा सा

इसी प्रकार इस क्रम में तीन-तीन एवं चार-चार स्वरों के संयोग के सरगम बजाये जाते हैं। तत्पश्चात्

3. सा रे ग, रे ग म, ग म प, म प ध, प ध नि, ध नि सां
   सां नि ध, नि ध प, ध प म, प म ग, म ग रे, ग रे सा
4. सा रे ग ग, रे ग म म, ग म प प, म प ध ध,
   प ध नि नि, ध नि सां सां
   सां नि ध ध, नि ध प प, ध प म म, प म ग ग,
   म ग रे रे, ग रे सा सा
5. सा ग, रे म, ग प, म ध, प नि, ध सां
   सां ध, नि प, ध म, प ग, म रे, ग सा

..... इत्यादि

इस क्रम में कई सरगम व अलंकार हो सकते हैं जो बायें हाथ की तैयारी को बनाने में सुदृढ़ता प्रदान करते हैं।

परदे पर सरगम व अलंकार के अभ्यास के बाद इन्हीं अलंकारों में मींड का समावेश किया जाता है। जो मींड युक्त तानों की विशेष तैयारी में सहयोग करते हैं तथा वादन की संपूर्णता को परिपूरित करते हैं।

तंत्र वाद्यों में झाला का वादन भी पूरी वादन शैली का प्रमुख अंग है। जो बाज के तार तथा चिकारी के तार के उपर विभिन्न छंदयुक्त प्रहार से निर्मित होता है तथा अधिक तैयारी के परिप्रेक्ष्य में कभी-कभी चमत्कारिकता भी प्रदर्शित करता है। यह सभी अभ्यास के सहारे ही तैयार होता है। इस हेतु न केवल संगीत में वरन् तंत्री वाद्य (सितार) में अभ्यास का अनन्य महत्व है तथा गुरू के निर्देशन में सुदृढ़ तकनीकीपूर्ण ढंग से अभ्यास करने पर कला प्रवीणता का स्तर उत्कृष्ट बन पड़ता है।

Scanned with OKEN Scanner

भारतीय संस्कृति में संगीत का स्थान

डॉ. मनोरमा झा*

भारतीय राष्ट्रीयता का आधार उसकी संस्कृति है। इस राष्ट्र की आत्मा उसकी चिरंतन सांस्कृतिक चेतना है। भारत वर्ष में प्रारंभ से ही विभिन्न सांस्कृतिक चेतना रही है। भारत वर्ष में प्रारम्भ से ही विभिन्न सांस्कृतिक धाराँए भौगोलिक क्षेत्रों पर हावी होकर उसे एक विशिष्ट सांस्कृतिक क्षेत्र बनाती है। इसलिए राजनीतिक दृष्टि से अलग होते हुए भी द्विपान्तर में भारतीय सांस्कृतिक का एकमात्र साम्राज्य रहा जिसके अवशेष आज भी कतिपय देशों में देखे जा सकते है। (कंबोडिया, लंका, मलेशिया, नेपाल, इंडोनेशिया आदि) भारत की यह सांस्कृतिक एकता अभूतपूर्व है। इस एकता का साम्राज्य मानव हृदय पर था और संगीत हृदय की भाषा है, यही कारण थी की शताब्दियों तक बिना किसी जय पराजय के भारतीय संस्कृति ने दूर सुदूर तक अपना विस्तार पाया और इसी सांस्कृति विस्तार के साथ हीं भारतीय संगीत भी दूर सुदूर तक गया जो आज भी विद्यमान है। कंबोडिया, मलेशिया आदि देशों में आज भी राज लीलायें होती है। सांस्कृतिक एकता का आधार मुख्य रूप से भावनात्मक एकता है और संगीत से बढ़कर ऐसा कोई भी अन्य तत्व इस कार्य के लिए इतना प्रभावी नहीं हो सकता है। इतिहास गवाह है कि भावनात्मक एकता सांस्कृतिक एकता से ही उपजता है। संगीत किसी भी संस्कृति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारक है। भारत की सांस्कृतिक धारा में संगीत की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है।

प्राचीन काल से ही भारतीय व्यापार समुद्र के रास्ते बहुत दूर तक विस्तार पाता रहा है। व्यापार के साथ ही भारतीय संस्कृति भी अपने कला माध्यमों के साथ अभूतपूर्व विस्तार पाती है। दक्षिण पूर्वी देशों के नृत्य, गान, वास्तु, चित्रकला, शिल्प, साहित्य सभी पर यह प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। भारतीय संगीत का इतिहास अत्यंत प्राचीन एवं वैज्ञानिक है। भारतीय दृष्टि से संगीत का उद्गम वेद है। वेद में कहा गया है कि नाद से उत्पन्न हुये आनन्द का कोई अन्त नहीं है इसलिए इसे ब्रह्मनन्द सहोदर कहा गया है। संगीत की इस आंतरिक शक्ति के कारण प्रारम्भ से ही भारतीय संस्कृति में इसे सर्वोच्च स्थान एवं महत्व दिया गया है। गीता में वासुदेव नारायण का स्वतः कथन है कि वे वैकुण्ठ में निवास नहीं करते हैं अपितु जहाँ उनके भक्त गण गायन वादन से उनका भजन करते हैं वहीं वे निवास करते है। भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत संगीत की सदैव ही सफल भूमिका अध्यात्म तथा मनोरंजन दोनों क्षेत्रों में रही है। यही कारण है कि भारतीय संगीत का विकास एक तरफ मंदिरों के प्रांगण में जीवंत रहा तो दूसरी तरफ इसे राज दरबारों में भी यथेष्ट प्रतिष्ठा प्राप्त रही है। जन सामान्य के जीवन में तो यह जनम काल से लेकर मृत्युपर्यंत उपस्थित रही।

भारतीय इतिहास साक्षी है कि भारतीय संस्कृति के प्रवाह के साथ ही समरूप से, धीर, गंभीर भाव से संगीत भी विकसित होकर प्रवाहित होती रही सभी स्तरों पर यथा, आध्यात्मिक सामाजिक , लौकिक वैयक्तिक आदि। काल प्रवाह के साथ अनेक उत्थान पतन के स्तरों से गुजरते हुये आज का संगीत अपने वर्तमान रूप में उपस्थित है। संगीत और संस्कृति

* अध्यक्ष, संगीत विभाग, एम.डी.डी.एम. कॉलेज, मुजफ्फरपुर

Scanned with OKEN Scanner

अन्योन्याश्रित हैं। इन्हें अलग किया हीं नहीं जा सकता है।

भारतीय संगीत की स्पष्ट छाया भारतीय संस्कृति के अन्य उपादानों पर देखी जा सकती है। भारतीय चित्रकला वास्तुकला, साहित्य इन तत्वों से संगीत का अन्तर्संबंध बना रहा। दर्शन और आध्यात्म तो भारतीय संस्कृति के संगीत का आधार प्रारंभ से ही रहा। संगीत का लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति या निर्वाण रहा। भोग जनित उतेजना प्राप्त करना भारतीय संगीत का उद्देश्य कभी नहीं रहा। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त संगीतकार वायलिन वादक यहूदी मेनूहिन का स्पष्ट कथन है कि भारतीय संगीत में शांति प्रदान की अभूतपूर्व शक्ति है। पाश्चात्य् देशों में भारतीय संगीत की लोकप्रियता इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

वर्तमान काल का सांस्कृतिक परिवेश एक संक्रमण काल से गुजर रहा है। मेरी दृष्टि में यह संकटकालीन स्थिति है। बाजारवाद उपभोगवाद की आंधी में आदर्शवादी मूल्य और आस्थायें हिल रही है। यत्र तत्र सवर्त्र भोगवादी दृष्टिकोण के कारण सांस्कृतिक पतनशीलता परिलक्षित हो रही है। ललित कलायें भी अछूती नहीं है। किंतु ऐसी स्थिति में भारतीय शास्त्रीय संगीत का लोक संगीत एक सीमा तक अपने को बचाये हुए है। मेरे विचार से पतनशीलता को श्रेष्ठ संगीत के माध्यम से सफलतापूर्वक रोका जा सकता है। क्योंकि संगीत की प्रेरणा शक्ति अभूतपूर्व है। इससे तो सम्पूर्ण सृष्टि प्रभावित होती है। विज्ञान के आधार पर इसे सिद्ध किया जा चुका है।

अर्न्तराष्ट्रीय फलक पर भारतीय संस्कृति प्रचार प्रसार में संगीत का सर्वाधिक योगदान रहा है। भारतीय संगीत ने सफलतापूर्वक विश्वबंधुत्व की भावना का प्रचार प्रसार किया है।

भारतीय संगीत कलाकार जब कभी अन्य देशों में गए है। विशिष्टजन के अलावा जन सामान्य का हृदय जीत लिया है। भारत-पाकिस्तान के राजनीज्ञ लड़ते रहे। दोनों देशों के कलाकारों ने अभूतपूर्व सम्मान, स्नेह, और सहृदयता समर्पित किया है। संगीत ही एक ऐसी सांस्कृति उपादान है जो सभी जातियों में, सभी देशों में, सभी धर्मों में सामान्य रूप से व्याप्त है। भारतीय संगीत की इस शक्ति से कौन इनकार कर सकता है? इस कड़ी में मैहर के अल्लाउद्दीन खान से लेकर वर्तमान में अमजद अली खान, रविशंकर, भीमसेन जोशी, किशोरी अमोनकर, ओंमकारनाथ ठाकुर, विनायक राव पटवर्धन, लता मंगेशकर, ए. आर. रहमान आदि अनेक कलाकार आते है।

Scanned with OKEN Scanner

शास्त्रीय संगीत में महिलाओं का योगदान

डॉ. रेखा रत्नम

महिलाओं एवं संगीत का गहरा संबंध भारतीय सभ्यता-संस्कृति के आरंभिक काल से ही परिलक्षित होता है। हमारी भारतीय संस्कृति धर्म पर आधरित संस्कृति है। भाषा, दर्शन, जीवन-दृष्टि, मानवीय मूल्य, कलात्मक उपलब्धियाँ और जो कुछ हम धारण करते हैं और जिनका हमसे संबंध होता है-वे सभी हमारी भारतीय संस्कृति की पहचान है। सुदूर अतीत में आदिम मुगल-अंग्रेज आदि अनगिनत जातियों, धर्मावलंबियों ने निरंतर भारतीय संस्कृति को आगे बढ़ाया और उसे नया रूप दिया। बावजूद इसके उसकी मूल आत्मा सुरक्षित रही। यह बहुरंगी छवि ही भारतीय संस्कृति की विशेषता है।

हमारी प्राचीन मूर्तियाँ, स्मारक, गुफाएँ, मंदिर तथा विशाल धर्म-ग्रन्थों के भंडार हमें विरासत रूप में प्राप्त हैं। इन्हीं कला-निधियों के आधार पर हम कह सकते हैं कि भारत में शास्त्रीय संगीत की अति प्राचीन परंपरा है। इसका इतिहास अत्यंत गौरवशाली रहा है। हमारे प्राचीन ग्रंथों में स्थान-स्थान पर संगीत कला से संबंधित जो तथ्य प्राप्त होते हैं उनसे यह बात स्पष्ट होती है कि हमारे मनीषि संगीत कला की बारिकियों तक गये थे और उनके जीवन में संगीत का बहुत ऊँचा स्थान था।

संगीत की उत्पति के संबंध में वैसे तो कई धारणाएँ हैं परंतु 'शिव प्रदोष-स्त्रोत' के अनुसार एक बार भगवान शिव ने जगत् जननी पार्वती को स्वर्ण सिंहासन पर बिठा स्वयं नृत्य करना आरंभ किया जिसमें स्वयं शिव द्वारा प्रशिक्षित देवी सरस्वती ने वीणा वादन, ब्रहा तथा इन्द्र ने करताल, विष्णु ने मृदंग तथा देवी लक्ष्मी ने गायन में साथ दिया। इस नृत्यमय संगीतोत्सव को देखने स्वर्ग लोक के सभी देवी-देवता उपस्थित हुए। इस प्रकार संगीत कला की उत्पति भले ही देवताओं के मनोरंजन हेतु हुई परंतु उनके स्वभाव में निहित कला के प्रति यह प्रेम युग-युगान्तर तक चली आती रही।

जहाँ तक संगीत में महिलाओं के योगदान की बात आती है, भारतीय संस्कृति में साहित्य एवं संगीत की देवी सरस्वती स्त्री हैं, आदि देवता शिव अर्द्धनारीश्वर रूप में पूजित हैं तो रास के प्रतीक नट-नागर कृष्ण राधा एवं गोपियों के बिना अधूरे से हैं। इसके अतिरिक्त भारत के आम जीवन में संगीत-कला के प्रति जुड़ाव तथा स्त्रियों की भागीदारी का प्रमाण मोहनजोदड़ो-हड़प्पा की खुदाई में मिली वीणा-वादन एवं नृत्य करती स्त्रियों की मूर्तियों से मिलता है। ईसवी सन् की चौथी शताब्दी यानी बुद्ध-जैन काल में तो संगीत कला अपने उत्कर्ष पर थी। इसी समय आम्रपाली, वसंतसेना एवं शेफालिका जैसी बौद्धिक नर्तकियों का उल्लेख मिलता है। इतिहासकार अलबरूनी एवं प्रसिद्ध अर्थशास्त्री कौटिल्य ने भी अपने-अपने ग्रंथों में उन नर्तकियों की चर्चा की है जिनके जीविकोपार्जन का साधन संगीत था और उन्हें अपने आय का एक बड़ा हिस्सा शासकों को देना होता था। इसके बाद मुगलकाल में अमर कवि, सूर, तुलसी, कबीर के साथ-साथ मीरा ने तो अपनी साधना से संगीत एवं ईश्वर भक्ति को अपने उच्चतम शिखर पर पहुँचा दिया।

आधुनिक काल में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद महाराष्ट्र के संगीताकाश में पंडित विष्णु नारायण भातखंडे तथा पंडित विष्णु दिगम्बर पुस्कर नामक दो ऐसे महान विभूतियों का आगमन हुआ जिन्होंने

Scanned with OKEN Scanner

शास्त्रीय-संगीत में रचनात्मक, समाजिक विस्तार-विकास और वृद्धि के पहलुओं को उभारा जिससे देश में नए सांगीतिक परिदृश्य का जन्म हुआ। इस नये परिदृश्य में शास्त्रीय संगीत एवं उसके कलाकार आम जीवन से जुड़ गए। फलस्वरूप देश के शिक्षित वर्ग के घरों की स्त्रियों ने गहराई एवं गंभीरता से संगीत की शिक्षा लेना आरंभ किया तथा इसे अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। आरंभ में पुरूषों की अपेक्षा महिलाओं की संख्या कम थी-किन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद महिला-कलाकारों की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई।

शास्त्रीय संगीत की गायन, वादन एवं नृत्यः तीनों विधाओं में देश की जिन महिला कलाकारों ने अपना अभूपूर्व योगदान दिया उनमें उल्लेखनीय नाम हैं-केसरबाई केलकर, हीराबाई बड़ोदकर, गंगूबाई हंगल, गिरिजादेवी, किशोरी अमोनकर, प्रभा अत्रे, कंकना बनर्जी, परवीण सुल्ताना आदि। वादन के क्षेत्र में-शरण रानी, जरीन दारूवाला, शिशिरकनाधर चौधरी, एन. राजम् अन्नपूर्णा देवी, अरूणा नारायण एवं अबान ई॰ मिस्त्री। नृत्य के क्षेत्र में-सितारा देवी, रौशन कुमारी, रूक्मिणी देवी अरूण्डेल, मृणलिनी साराभाई, दमयंती जोशी, यामिनी कृष्णमूर्ति, सोनल मानसिंह, उमा शर्मा, कुमकुम धर, शोभना नारायण आदि।

इन सभी महिला कलाकारों ने अपनी साधना से शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में अभूतपूर्व योगदान देकर नयी पीढ़ी के समक्ष एक अप्रतिम उदाहरण प्रस्तुत किया है।

इन प्रमुख महिला कलाकारों में प्रथम हैं मैहर बाबा उस्ताद अलाउदीन की पुत्री तथा विश्वविख्यात पंडित रविशंकर की पूर्व पत्नी अन्नपूर्णा देवी। इन्होंने सुरबहार एवं सितार की विधिवत शिक्षा अपने पिता से प्राप्त की। तत्पश्चात इप्टा कंपनी के साथ भारत भ्रमण किया। "डिस्कवरी ऑफ इंडिया" नाटक में पार्श्ववादन भी किया। शांति निकेतन द्वारा देशीकोतम उपाधि से विभूषित अन्नपूर्णा देवी एक महान कलाकार एवं गुरू ही नहीं बल्कि भारतीय आदर्श एवं मर्यादा की जीती-जागती प्रतिमूर्ति हैं। स्वतंत्रत व्यक्तित्व एवं चिंतन अन्नपूर्णा देवी की विशेषता है। इन्होंने अनेकानेक विद्यार्थियों को बड़े धैर्य पूर्वक संगीत-शिक्षा प्रदान किया। फलतः इनके शिष्यों की एक लंबी कतार है जिनमें प्रमुख हैं-पंडित ज्योतिष भट्टाचार्या, उस्ताद आशिष खाँ (सरोद), हरि प्रसाद चौरसिया (बाँसुरी), विनय भरतार, अमित हिरण राय, सुधीर फड़के, संख्या आप्टे, डैनियल ब्रेडले, हेमकान्त देशाई, पीटर वॉन गोल्डर, प्रदीप वारोट आदि।

शास्त्रीय गायन के क्षेत्र में श्रीमती गिरिजा देवी ने गायन की शिक्षा अपने पिता बाबा रामदासजी से प्राप्त की। आकाशवाणी लखनऊ के प्रथम कार्यक्रम से ही इनकी ख्याति सारे देश में फैल गयी। ख्याल, ठुमरी, टप्पा आदि के साथ होली, दादरा, कजरी एवं पूर्वी लोकगीत इनके गायन की विशेषता है। 1972 ईसवी में इन्हें पद्मश्री सम्मान से सम्मानित किया गया।

पद्मभूषण सम्मान से सम्मानित किशोरी अमोनकर को शास्त्रीय संगीत की "लता मंगेशकर" कहे तो कोई अनुचित न होगा। प्रगतिशील विचारधारा की किशोरी अमोनकर हमेशा सुर एवं सौंदर्य की उपासक रही हैं। स्वर एवं श्रुतियों में डूबकर उन्हें मूर्त कर लेने को ही ये संगीत की सच्ची उपासना मानती हैं। इन्होंने अपने गायन में सभी घराने की विशेषताओं को आत्मसात किया है। गायन की शिक्षा इन्होंने अपनी माता श्रीमती मोघूबाई कुर्डीकर से प्राप्त की। शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में अपनी अल्पायु में ही संगीत-नाटक एकेडमी अवार्ड से सम्मानित होने वाली ये प्रथम महिला कलाकार हैं। आज देश के कोने-कोने-में इनकी ख्याति है। इनकी कई शिष्याएँ देश में शास्त्रीय-संगीत के कलाकार के रूप में स्थापित है।

वायलिन वादिका डॉ. एन. राजम् ने संगीत की आरंभिक शिक्षा अपने पिता श्री ए. नारायण अय्यर से प्राप्त की। तत्पश्चात उच्चस्तरीय शिक्षा एम. म्यूज. भी किया तथा वर्षो बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के वादन-विभाग के विभागाध्यक्ष पद पर रहीं। डॉ. एन. राजम् देश की श्रेष्ठतम वायलिन वादिकाओं में से हैं।

Scanned with OKEN Scanner

श्रीमती शरण रानी देश की वरिष्ठ सरोद वादिका हैं। सरोजवादन की शिक्षा इन्होंने मैहर के उस्ताद अल्लाउदीन खाँ तथा उनके पुत्र अलीअकबर खाँ से प्राप्त की। बाल्यावस्था में इन्होंने गुरू अच्छन महाराज जी से कत्थक और नव कुमार सिन्हा से मणिपुरी नृत्य की शिक्षा ली। दिल्ली विश्वविद्यालय से इन्होंने एम. ए. तथा विष्णु दिगम्बर संगीत विश्वविद्यालय 'संगीत-विशारद' की परीक्षा पास की। सन् 1960-61 में ही इन्होंने विश्व के सभी प्रमुख देशों में अपना सरोदवादन प्रस्तुत किया। देश के कई कलाकारों के साथ जुगलबंदी कार्यक्रम भी किया। 'पदमश्री-सम्मान' से सम्मानित शरण रानी ने आकाश्वाणी दिल्ली से प्रसारित राष्ट्रीय-कार्यक्रम में अनेक बार भाग लिया। ये आकाशवाणी दिल्ली के 'ए श्रेणी' की कलाकार हैं। शरण रानी भारत की प्रथम महिला सरोदवादिका हैं जिन्होंने भारतीय संगीत को विश्व के विभिन्न भागों में पहुँचाने का महत्वपूर्ण कार्य किया। सरोद जैसे कठिन एवं पौरूष वाद्य पर इन्होंने अपनी साधना से अच्छा अधिकार प्राप्त किया है। स्वरों की स्पष्टता, मधुरता तथा ताल-वैचित्र इनके वादन की विशेषता है। भारत सरकार की ओर से सांस्कृतिक शिष्टमंडल के सदस्य के रूप में नेपाल, मंगोलिया, आस्ट्रेलिया फिजी, अमेरिका, फ्रांस, ब्रिटेन, स्विट्जरलैण्ड आदि देशों की यात्रायें भी इन्होंने की। भारतीय शास्त्रीय संगीत को इनकी सबसे बड़ी देन है दिल्ली स्थित 'प्राचीन भारतीय वाद्यों का संग्रहालय' जो कभी इनका निजी संकलन था। वर्तमान में अब वह केन्द्रीय सरकार की संपति है।

सरोदवादन के क्षेत्र में ही सरोदवादिका जरीनदारूवाला शर्मा का नाम भी उल्लेखनीय है। पंडित एस. सी. आर भट्ट तथा रतंजनकर जैसे गुरू से संगीत की शिक्षा प्राप्त कर न सिर्फ शास्त्रीय संगीत जगत बल्कि सिने-जगत् में भी अपना अभूवपूर्व योगदान दिया है।

शास्त्रीय नृत्य के क्षेत्र में कत्थक की वरिष्ठ नृत्यांगना सितारा देवी ने नृत्य की शिक्षा अपने पिता शुक्रे महाराज से प्राप्त की तथा एक कुशल नृत्यांगना के रूप में देश में स्थापित हुई। नृत्य के क्षेत्र में सबसे लम्बा कार्यकाल सितारा देवी का ही रहा है। कलकते में इनका कार्यक्रम देख कविगुरू रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने इन्हें 'नृत्य-सम्राज्ञी' की उपाधि से विभूषित किया, जो इनके जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। नृत्य जगत के अतिरिक्त बम्बई स्थित फिल्म जगत से भी इनका गहरा संबंध रहा। इन्होंने कई फिल्में मे बतौर नायिका एवं नृत्यांगना के रूप में काम किया। कई फिल्मों की निर्माता भी रहीं। वर्षो तक फिल्म जगत् में अपने योगदान के बाद ये कत्थक नृत्य को पूर्णतः समर्पित हो गयीं। इनकी कई शिष्याएँ आज देश में कत्थक नृत्यांगना के रूप में स्थापित हैं। सितारा देवी शास्त्रीय नृत्य की एक कर्मठ कलाकार रही है। इन्होंने कत्थक नृत्य को उस समय अपना कार्य-क्षेत्र बनाया जब हमारे समाज में नृत्य को हेय दृष्टि से देखा जाता था। सितारा देवी अपनी लगन एवं साधना से भारतीय समाज की इस रूढ़िवादी दृष्टिकोण को बदलने में सफल रहीं। संगीत जगत् के लिए इनका यह योगदान अमूल्य है।

भरतनाट्यम नृत्य में रूक्मिणी देवी अरूण्डेल का आदरणीय स्थान है। नृत्य की शिक्षा इन्होंने जॉर्ज एस. अरूण्डेल से प्राप्त की। सन् 1926 ईसवीं में नृत्य कार्यक्रम के दौरान आस्ट्रेलिया में इनकी मुलाकात विश्वविख्यात नर्तकी अन्ना पावलोवा से हुई, जो इनके नृत्य-जीवन की प्रेरणा रहीं। सन् 1936 ई॰ में इन्होंने 'कलाक्षेत्र' नामक अंतर्राष्ट्रीय-कला-विद्यालय की स्थापना कर संगीत के क्षेत्र में अपना अमूल्य योगदान दिया।

विश्वविख्यात नृत्यांगना मृणालिनी साराभाई ने परंपरागत नृत्यों की रचनात्मक व्याख्या तथा भारतीय कथा-पुराणों के शोध पर विशेष ध्यान देकर प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक निधि तथा उनके आधुनिक अर्थो के बीच कला-सेतु का काम किया।

मृणालिनी प्रथम भारतीय महिला है। जिन्होंने जावा का नृत्य सीखा। न्यूयार्क में अमेरिकन एकेडमी ऑफ ड्रामेटिक आर्ट में रंगमंच की तकनीकी शिक्षा ली तथा भारत में आचार्य श्री कुंजूरकुरूप से कत्थककली नृत्य सीखा। तदुपरान्त इन्होंने अहमदाबाद में 'दर्पण' नामक नृत्य विद्यालय की स्थापना की।

Scanned with OKEN Scanner

अपनी इस नृत्य नाट्य संस्था द्वारा इन्होंने 'मनुष्य', 'मत्स्यकन्या', 'रामायणम्', गीत गोविन्दम् तथा उपगुप्त नामक नृत्य नाटकों की रचना कर देश-विदेश में इनका प्रदर्शन भी किया। नृत्य क्षेत्र में इनके योगदान को देखते हुए मद्रास सरकार ने इन्हें 'नाट्य-कला शिखमणि' की उपाधि से सम्मानित किया।

बम्बई के साधारण मध्य वर्गीय परिवार में पली दमयंती जोशी ने अनेक कठिनाइयों के बाद भी अपने नृत्य सीखने की इच्छा को सफल बनाया तथा देश-विदेश में अपना नृत्य प्रदर्शन किया। साथ ही नृत्य को बौद्धिक पक्ष को भी समृद्ध किया।

अम्बाले की सुप्रसिद्ध पार्श्वगायिका जोहराबाई की पुत्री रौशन कुमारी ने शास्त्रीय कत्थक नृत्य को शास्त्रीयता के शीर्ष शिखर पर पहुँचा दिया।

बंगाल की लावण्यमयी प्रतिभासंपन्न अनुराधा गुहा तथा वंदना सेन ने भी कत्थक नृत्य को अपना विशेष योगदान दिया। दक्षिण भारत की नर्तकी यामिनी कृष्णमूर्ति ने तो नृत्य के क्षेत्र में अपने नाम की सार्थकता भी स्थापित की। इनकी नृत्य प्रस्तुतियों को देख ऐसा प्रतीत होता है मानों नृत्य मुद्रा में अंकित कोई अप्सरा एकाएक सजीव हो आत्म विभोर होकर नृत्य करने लगी हो। आज के व्यावसायिक एवं विज्ञापन युग में इन्होंने नृत्य की शास्त्रीयता के साथ कोई समझौता नहीं कियां और यही इनके नृत्य कला की अभूतपूर्व शक्ति है।

उपर्युक्त इन सभी महिला कलाकारों के अतिरिक्त अनेकानेक उच्च शिक्षा प्राप्त सभ्रांत परिवार की महिलाएँ आज विज्ञान, तकनीक एवं क्रांति के इस युग में पहले से कहीं अधिक स्वतंत्र एवं सशक्त रूप से संगीत-जगत् को अपना योगदान दे रही है।

Scanned with OKEN Scanner

कालिदास वाङ्मय में संगीत तत्त्व

डॉ. ज्ञानेश चन्द्र पाण्डेय*

भरत के अनुसार गीत और वाद्य ही संगीत है। संगीत रत्नाकर इसकी शोभा विस्तार करते हुए नृत्त को भी सम्मिलित करता है।

जिसने कालिदास के काव्य और नाटकों का मेधानयन से पान किया है, वे हृदय के तल पर महसूस करते हैं कि कालिदास कवि या महाकवि से भी अधिक "कारू" है। कारू इसलिये कि उनके द्वारा सृजित भाव और शब्द जगत पाठकों, दर्शकों व श्रोताओं को इस तरह मोहित कर लेता है कि उनकी रचनाओं में इतना कुछ दिखाई देने लगता है कि वह अपार और कल्पना के पार की अनुभूति दे जाता है। वाक्, अर्थ, भाव, रस, लय, छन्द, दृष्टि, अनुभूति-फिर सबकी गहन सम्पृक्तता। इतना ही नहीं एक विशिष्ट डुबान भी दे जाता है पाठक को, जिसकी बेला में पाठक कई बार खुद कालिदास सा तो कुछ बार रघु, कण्व जैसा महसूस करने लगता है। शकुन्तला तो मानो दुपट्टे सी उनके व्यक्तित्व में लिपट जाती है। प्रेम की, बिछुड़न की पीड़ा पाठक को बिना रोये ही रूला जाती है। जो लोग संगीत के रसिक है, उन्हें कालिदास में संगीत तत्व भी दिखाई देते है-कल्पनापूर्ण, गहरे और मर्मस्पर्शा। नवसंगीतात्मकता का मोहन जादू इन पर इस तरह चढ़ जाता है कि भरत के नाट्यशास्त्र की परिभाषा के साथ संगीत रत्नाकर की अपेक्षाकृत बड़ी संगीत की परिभाषा भी मानो छोटी पड़ जाती है। लगने लगता है कि संगीत केवल गीत, वाद्य और नृत्त ही नहीं है अथवा राग-रागिनियों के रेखाचित्र ही संगीत के रसपूर्ण कोष नहीं है, वरन् दारूवीणा के साथ तन वीणा, मन वीणा और चित्तवीणा को झनझनाते हुए स्मृतिकोष में समाये सन्दर्भो, परिस्थितियो, भावों स्वरों, बोधों और जागृत-मौन का नाद-चित्र बना दे, वह शब्द चयन, पद पाण्डित्य, रस सरणि छन्छ छमक भी संगीत ही है। कालिदास के विशेष सन्दर्भ में कहे तो-विरहानुभूति से आनन्दानुभूति की साहित्य यात्रा में भावतंत्री को जैसे-जैसे, जितना-जितना सहलाया, छूया या स्पन्दित किया गया है- वह सब संगीत है-गीत, वाद्य, नर्त्तन की परिभाषा के पार-चेतना के तलातल पर। नाद, जिसे ब्रह्मा, जनार्दन, पराशक्ति, महेश्वर कहकर संगीत का एकमात्र मूल तत्व कहा गया है[1] वह कालिदास की अनुभूतियों में डूबी आंख और भावों का शब्द चित्र बनाते खोई हुई उँगलियों में फंसी कलम से युति बनाकर नाद से बढ़कर "नादाक्षर बन गया है-वाक् और अर्थ से सम्पृक्त। अर्थात संगीत का मूल तत्व नाद नहीं नादाअक्षर है। नादाक्षर के गर्भ से ही मानव चित्त, फिर मानव मन और तब तन रूपी वाद्य में आह्लाद की तरगें उठती हैं।

तरंगे ही नर्त्तन के रूप में संगीत को जन्म देती है। इसी सूत्र को पकड़कर तुलसीदास ने संगीत की विराट परिभाषा दी है। किसी संगीत तत्वान्वेषी का ऐसी ही परिभाषा कालिदास में भी दिखाई देती है जिसके अनुसार नाद, वर्ण अथवा अर्थ के बगैर संगीत पूरा नही होता। तुलसी ने[2] सीधे से सीधे संगीत के लिए उत्तरदायी तत्वों का क्रम भी निरूपित किया है यथा-

वर्णानां अर्थसंधानां रसानां छन्द साम अपि
मंगलानां च कर्तारौ वन्दे वाणी विनायकौ।।

अर्थ यह है कि साम यानी संगीत की पूर्णता वर्ण, अर्थ, रस, छन्द के समुच्चय एवं समुचित प्रस्तुतिकरण

* प्रवक्ता-कण्ठ संगीत, मंच कला संकाय, बी.एच.यू.

Scanned with OKEN Scanner

से 'साम' के स्तर तक पहुँचती है। साम स्तर की विशेषता यह है कि वह संगीत को मंगलकारी बना देता है तथा साम (संगीत) के कर्त्ता को, नायक को वन्दनीय बना देता है। कालिदास अपनी जागृत लेखनी के माध्यम से वाक् और अर्थसम्पृक्ति द्वारा पाठक के मन और चित्त के तल पर जो नाद पैदा करते हैं वह अन्तः करण को भरपूर आकुल करने वाला है। यह आकुलता ही संगीत मय साहित्य और साहित्यमय संगीत का हेतु है। इसी ने बाल्मीकि को कवि बनाया और इसी ने कालिदास को उनके ग्रन्थ कुमारसम्भवम् में योग तक पहुँचाया। यदि इसका योगशास्त्रीय विश्लेषण करें तो मिलेगा कि आकुलता पैदा करने वाला नाद तरंग नादाक्षर' सेवी के मूलाधार को झंकृत करते हुए सहस्रार तक नाड़ीत्रय को जागृत करती है। सामान्य समझ वाले जिसे पूर्ण संगीत कहते हैं-वह भी यही करता है। अभिनवगुप्त ने इसी तरंगायितता को स्वर कहा है जो अनुरणन और अभिघात से आत्मा को स्निग्धता, मधुरता का बोध कराता है। कालिदास वाङ्मय के अनेक अंश ठीक ऐसी ही तरंग पैदा करने में सक्षम हैं जो अनुरणन या अनुमज्जन से संगीत की ही तरह आत्मा को आनन्द के पास ले जाते है।

[1]नाद रूपः स्मशतो ब्रह्म, नाद रूपों जनार्दन :
नदरूपों पराशक्तिः, नाद रूपों महेश्वर ।

[2]तुलसी, रामचरित, बालकण्ड प्रथम् लोक। संगीत की दृष्टि से इस लोक में एक क्रम है। वह यह कि नादमूलक वर्ण जब तक अर्थयुक्त न हो, अर्थ आनन्द रस से सम्पृक्त न हो, रस में छन्दता या सहज अनुशासन न हो तब तक मंगलकारी साम या संगीत नहीं बनता। बिना ऐसें साममय संगीत के संगीत कर्ता की वाणी वन्दनीय नहीं होती, न ही उसके नायकत्व को स्वीकृति मिलती है।

वाक् को नादात्मक और वर्णात्मक जैसा भेद देकर विद्यारको ने संगीत और साहित्य में अन्तर बनाने की चेष्टा की है। किन्तु, कालिदास की कृतियों को समझकर तो लगता है कि यह विभाजन उनकी सृजनावलि में खत्म हो जाता है। क्योंकि, उनके रस सिद्ध वर्ण प्रयोग और उसके भावपूर्ण पाठन/गायन से संगीत की धारा बहने लगती है। लगता है कि वर्ण रहित या पद रहित संगीत-केवल कल्पना ही है। पद या वर्ण संगीत के लिए वाह्य तत्व हो नही सकते। पाश्चात्य पद्धति में "संगीत वाद्य तत्व" का फतवा कालिदास की भारतीय लेखनी के आगे अर्थहीन हो जाता है। उनका भावपूर्ण पाठक जब-जब डूबता है, तब-तब काव्य और संगीत एक में मिले पानी दूध की तरह एकाकार हो जाते हैं। अन्तर उगाती अवधारणाएं ठूंठ बनकर रह जाती है। "शब्द-अर्थ से काव्य बनता है और स्वर-लय अथवा श्रुतिमाधुर्य से संगीत" जैसी उक्ति अलगाव दिखाने की जगह पानी में घुले रंग की तरह एकाकार हो जाती है। उनका काव्य, संगीत तथा संगीत भी काव्य सा हो जाता है।

कालिदास में निहित संगीत तत्व का उद्देश्यः

तुलसी की तरह छान्दोग्योपनिषद् में भी एक घोषणा है कि संगीत-कम से कम मानव समाज में निरपेक्ष नहीं हो सकता। संगीत को मंगलकारी होने की अकाट्य शर्त है। यही उसकी जीवनी है। हम प्रसंग आने पर इस उपनिषद् के इस कथन का उल्लेख करेंगे। परन्तु अभी हम संगीत के उद्देश्य पर भारतीयेतर मतो की चर्चा करेंगे। चर्चा का मुख्य शब्द होगा 'म्यूजिक' जिसे संगीत के अनुवाद के रूप में दुनिया जानती है। यूनान, फ्रांस, लैटिन देश, फारस, अरब आदि में म्यूजिक शब्द का मूलार्थ हैं 'मौज, जो रूप, स्वर, शब्द और प्रसंगो के सम्मिलन से प्राप्त होता है। उद्देश्य के अर्थ में म्यूजिक या संगीग मौज देने वाली विद्या है। 'मौज' का भारतीय संस्करण दुनिया भर में व्याप्त सोच से भिन्न नही है। यह सीधे-सीधे सौन्दर्य निरखन, भोग, काम सुख के निकट है जिसमें संगीत के स्वर और बोल तथा अंग संचालन पूरी तरह सहायक हैं। यही 'सहायकपन' ही म्यूजिक या संगीत का उद्देश्य था। यह मौज के बाजार का सभ्य आवाहन है। इसी म्यूजिक शब्द से 'मोजरा' का निर्माण हुआ है।[3] मोजर नृत्य, गायन, अभिनय वाद्य-संगम का विशेषकर किसी सुन्दर स्त्री द्वारा आयोजित होने वाला वह स्थान है जहाँ 'मोज' को पाने खरीदने का बाजार लगता हैं। यह मौज शब्द शायद संस्कृत भाषा में प्रयुक्त 'सुख' शब्द के निकट है जो 'आनन्द' से पूरी तरह भिन्न, लघु, क्षणिक और पलजीवि तथा शरीरस्तरीयता का बोध कराता है। भारतीय दृष्टि में तो संगीत पलजीवि सुख प्राप्त करने को अपना उद्देयम नही मानता। कालिदास के काव्य और नाटकों में पलजीवि सुख

की कहीं भी चाहत नहीं। जो कुछ भी अनुशासित है परजन हिताय, पारिवारिक, सन्तुलन, प्रकृति प्रेम, सम्मान और निरहंकारता के लिए जरूरी है-वही कालिदास की कृतियों में निहित संगीत तत्वों की मांग है। वह अमृतत्व की शाश्वतता-परमानन्द की खोज करता है। राष्ट्र और उसकी भौगोलिकता के प्रति जगाता है। सांसारिक उलझाव से उत्पन्न विकलता को मौन में, और मौन को आत्मदर्शन में लीन करने के लिए रस भी है- पारस भी। इसकी रंजकशक्ति क्रमशः ऊपर उठती हुई चार स्तरों तक जाती है। प्रथम स्तर है मनरंजन का। मन इन्द्रियों का स्वामी है। संगीत से आप्लावित मन इन्द्रियों की दुखदायी मांगो को अनुशासित करता है। तीसरा स्तर है चित्त की रंजकता का। चित्त वह उपकरण है जो मनुष्य को संसार में बाहर-बाहर झांकने से मोड़कर भीतर देखने की योग्यता देता है। इसी भीतर देखने की योग्यता से आत्मानन्द का दर्शन व मिलन होता है जिसका तुलसी के शब्दों में दावा है कि-

मम दरसन फल अमित अनूपा।
जीव पाव निज सहज सरूपा।।

भीतर देखने की दृष्टि के सिद्ध होने में संगीत सहायक है। इसीलिए जिनको चितरंजन का खजाना मिला वे सब संगीत सेवी हो गए। तुलसी, सूर, कबीर, मीराबाई और कालिदास भी। चौथा स्तर है आत्मरंजन का। आत्मरंजन से आत्ममुदिता प्राप्त होती है जिससे समरसता का गुण मिलता है। लाभ-अलाभ, दुख-सुखादि में समरसता की ज्योति मिलती है। कालिदास ऊँचाई तक पहुँच चुके थे उनके साहित्य में निहित सांगीतिक तत्वों की भी भूमिका थी। तभी तो ऊँचाई के शिखर पर विराजमान कवि ने कहा कि-

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृति जींवितमुच्यते बुधैः।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन् यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ।।

अब हम कालिदास के काव्यों तथा नाटकों में निहित संगीत तत्व के उद्देश्यों को समझने के लिए छान्दोग्योपनिषद् के मन्तव्यों का उल्लेख करंगे। कालिदास वेद-श्रुतिपोषक कवि थे, इसलिए उनके समस्त लेखन में उन मूल्यों का समावेश था जो वेदों श्रुतियों में थे। उन मूल्यों को श्री विद्यानिवास मिश्र ने शिव दृष्टि का नाम दिया है। इस शिवदृष्टि के अनुसार जो कला (संगीत भी) परितोष न दे- वह अधूरी है। छान्दोग्य जिसे परितोष कहता है उसके लक्षण कालिदास के ग्रन्थों में है। छान्दोग्य द्वारा बताए गए लक्षणों में से एक है- 'गेयता''। कोई कवि क्या सोचकर गेय पदों में सृजन करता है। छान्दोग्योपनिषद् ने इसका उत्तर दिया है। इसी उत्तर से हम यह जान सकेंगे कि श्रुतिपोषक कवि कालिदास ने क्या सोचकर अपनी रचना गेय पदों में की। क्या ऐसा करने के पीछे भी किसी सांगीतिक तत्व की प्रेरणा थी? छान्दोग्योपनिषद् ने एक यज्ञ में श्वानगीत गाये जाने का वैदिक प्रयोग उद्धृत किया है। इस गायन के संदर्भ में चार पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है—(1) वाक् (2) ऋक (3) साम (संगीत) और (4) उद्गीथ। हम यहाँ उद्गीथ शब्द के प्रयोग का तात्पर्य देखेंगे। छान्दोग्य के अनुसार उद्गीथ जोर से गाए जाने वाले गेय पदों की सामूहिक प्रस्तुति है जो किसी इच्छा की पूर्ति करते हैं। इसमें मुद्राओं का भी प्रयोग हो सकता है। सम्भवतः कालिदास छान्दोग्य के इस रहस्य भेदन से परिचित थे कि गेय पद और उसका समूह गायन मानव की इच्छा को पूरा करता है। संगीत के इस तत्व को बखूबी जानने के कारण ही उन्होंने अपने सम्पूर्ण वाङ्मय में गेय पद्यों का प्रयोग किया। इसलिए कालिदास के वाङ्मय में साहित्य, कला, गायन, वादन, समूह प्रस्तुति, नृत्य सभी का सम्यक् प्रयोग संगीत ही है। परिभाषाये चाहे जैसा दी जाती रही हों परन्तु, छान्दोग्योपनिषद् का 'गान द्वारा इच्छापूर्ति' का कथन अथवा 'कालिदास के विश्वास' का रूप आज भी संगीतज्ञों में कूट-कूट कर भरा है। स्वर, वर्ण, सामूहिक प्रस्तुति, स्वर, लय के प्रयोग से वे भी इच्छापूर्ति का दावा दिलाए हुए है। तभी तो वे सोदाहरण कहते है कि भजन गायन से ईश्वर आता/खुश होता है। रागों के वार्णिक प्रयोग से वर्षा की कामना पूरी हो सकती है। दीपक जल सकता है। गोपियाँ मुग्ध हो सकती है। हिरण का शिकार किया जा सकता है आदि आदि। कालिदास को भी स्वर और वर्णो के माध्यम से चित्र प्रस्तुति कर गेयता उपस्थित कर मिलन, विछुड़न, काम्य, प्राप्ति आदि की अपनी इच्छा पूरी करनी थी इसलिये गेयता जैसे संगीतिक तत्व के प्रति वे सदा सचेत रहे। उनकी चेष्टा की पूर्णता इसमें है कि कोई

Scanned with OKEN Scanner

संगीतज्ञ उनके गेय अंग को कितना और कैसे संगीत मधु से मीठा बनाता है समान्यतया गायक को यह पता होना चाहिए कि रसों की अभिव्यक्ति के लिए किन स्वरों का कहाँ प्रयोग होता है।[2] कालिदास के नाटकों के अभिनय के दौरान मुझे स्वंय भी कुछ प्रयोग करने के अवसर मिल हैं। अभिज्ञानशुकुन्तलम के नान्दी गान में कल्याण कामना हेतु कल्याण व यमन ईश्वर स्तुति हेतु राग-भूपाली, पृथ्वी का भाव दिखाने हेतु तार सप्तक का सां व मध्य सप्तक का रे ग प्रयोग, आसमान में दूर तक फैले इन्द्रधनुष दिखानें को-मियां मल्हार के नि का लम्बा प्रयोग, बिजली के चमक का दिखाने हेतु तीव्र गति के स्वरों का प्रयोग, विनय दिखाने के राग देश में अवरोही स्वरों का प्रयोग, अति दुख को दिखाने के लिए शिवरंजनी का प्रयोग व अन्त में भरत वाक्य भैरवी में प्रस्तुति।

कालीदास में संगीत तत्व का एक महत्वपूर्ण अंग और भी उल्लेखनीय है। वह है राग रागिनियों के चित्रण में प्रतीकों के प्रयोग का अंग। कालिदास को राग - रागिनियों के चित्रांकन के तत्वों का पूर्ण ज्ञान था। यह बात उनके अनेक कथनों में प्रयुक्त शब्द चित्रों की प्रस्तुति से समझ में आती है। उदाहरण के लिए मेघ राग और तोड़ती रागिनी का विवरण ले। मेघ राग पौरूष प्रधान राग है जिसके पृश्ठ भूमि में मयूरों का चित्रण होता है। रागिनी तोड़ी कमनीय विरह और प्रतीक्षा में निमग्नता की बोधक है। इसकी पृश्ठभूमि सुनयन सरल मृगों का चित्र उकेरा जाता है। संगीत के इस दिशा निर्देशन का पालन कालिदास में भी दिखाई पड़ता है।

तन्मध्ये च स्फटिक फल कांचनी वासयष्टि
तालै शिंजदवलय सुभगैर्नतितिः कानतया में
या मध्यास्ते दिवस विग में नीलकण्ठः सुहृद्ध'
यस्य त्वया व्रत विरोपण मिङ्दीनां
तैलं न्यशिच्यत मुखे कुष सूचित विद्धे
श्यामाकमुश्टि परिवर्द्धित को जहाति
सोयं न पुत्र कृतकः पदवीं मश्गस्ते

- अभिज्ञान 4-14

ऐसा लगता है कि कालिदास केवल पूरातन के समर्थक श्रृंगार के सेतु और साहित्य के सूर्य ही नहीं थे वे भविष्य के द्रष्टा भी थें उनकों आशा थी कि एक दिन संगीत में भावुकता 'प्रेम राग' और 'प्रीति रागिनी' के रूप में स्थापित होगी। उन स्थापित राग - रागिनी का चित्र कैसा होगा। अनजाने ही महाकवि ने अपने साहित्य में उन्हे उकेर दिया है। देखियें ऐसे सम्भावित 'प्रेमराग' का एक शब्द चित्र[1] -

श्यामास्यवं चकित हरिणी प्रेक्षणे दृष्टि पातं
वक्त्रच्छाया शषिनी शिखिनां वर्हभारेशुकेषात्
उत्पष्यामि प्रतनुशु न दीवीचिदपि न ते चंडि
सादश्यमेस्ति।

ठीक इसी तरह कालिदास की सम्भावित रागिनी का एक चित्र देखिये जो अदभुत है। यह चित्र कुछ ऐसा ही है जैसा तुलसी ने अशोक वाटिका में विरहिनी सीता का शब्द चित्र खींचा है।[2] कालिदास द्वारा 'प्रीति रागिनी का एक सम्भावित शब्द चित्र देखिये जिस पर कई संगीतज्ञ एक साथ निःछावर हो सकते है।'

उत्सग्डे : वा मलिन वसनें सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्मोत्रकः विरचितपदं गेय मुद्गातुकामा
तन्त्रीमार्द्रा नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचिद्
भूयों भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती।

[1]मैं बैठा पियंगु की लता में तुम्हारा शरीर, हरिण की आंखों में तुम्हारी आंख, चन्द्रमा में तुम्हारे मुख की शोभा भौरों के पंख में तुम्हारे बाल की कालिमा, नदी की लहरियों में तुम्हारी चितवन का बांकपन ढूढता हूँ। पर वहाँ कुछ नहीं मिलता, मै। कितना हतभागी हूँ।

[2] कृस तनु तीस जटा एक बेनी
ज्पति हृदय रघुपति गुन श्रेनी ।।
निज पद नयन दिये मन, राम कमल पद लीन
सुन्दरकाण्ड - दोहा

दिन रात रोने से यक्षिण की सूजी हुई पलकें, गरम आंहों से उड़े हुए रंग वाले होठ, हथेली पर टिका हुआ, रूखी अलकों सें कुछ-कुछ छिपा हुआ उदास चेहरा विरहिनी के दैन्यतापूर्ण विरह अवस्था का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करता है।

संदर्भ :

1. नाट्यशास्त्र, अभिनवगुप्त 28-2
2. विशेष आकलन के लिए देखिए पंचपुष्पा नामक पुस्तक-डॉ ज्ञानेश चन्द्र पाण्डेय, चौथा अध्याय
3. मेघदूत उत्तर प्रदेश -23

Scanned with OKEN Scanner

रवीन्द्र संगीत पर विभिन्न गायन शैलियो का प्रभाव

रूपाली दास*

रवीन्द्र संगीत, कविगुरू रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा रचित संगीत रचना है। रवीन्द्र संगीत में शब्द, भाव और धुन की मधुरता का अदभुत सामंजस्य है। संक्षेप में कहा जाए तो कथा और सुर का हर गौरी मिलन या अर्ध नारीश्वर रूप को ही रवीन्द्र संगीत कहते है। रवीन्द्र संगीत के शब्द एवं सुर दोनों ही हृदयस्पर्शी हैं। रवीन्द्र संगीत का भंडार वृहत एवं अद्‌भुत है। गुरूदेव ने जितने गीत लिखे उन सबको सुरों में भी स्वयं ढाला।

रवीन्द्र संगीत अपने आप में इतना विशाल हैं कि इसे संक्षेप में व्यक्त करना या समझना असंभव प्रतीत होता है। कितनी भी कोशिश क्यूँ न की जाए कोई न कोई बात छूट ही जाती है। रवीन्द्र संगीत में पूरे भारतवर्ष, विदेशो और विशेषकर पूरे बंगाल के विविध संगीत धाराओ का समावेश हैं। फिर भी ये सभी संगीत धाराओ से स्वतंत्र हैं। रवीन्द्र संगीत हिन्दुस्तानी संगीत और पुराने बंगाल के टप्पा, ख्याल, बाउल, भाटियाली, जारि, सारि, कीर्तन, रामप्रसादी आदि गायन शैलियो से प्रभावित और प्रेरित तो था मगर फिर भी बाउलांग, कीर्तनांग, ध्रुपदांग, धमारांग, ख्याल, टप्पा आदि रवीन्द्र गीतों में स्वतंत्रत मिलती है, नकल नहीं।

हम जानते हैं कि संगीत की सार्थकता सुर और बोल दोनो पर निर्भर करती है। रवीन्द्र संगीत भारतीय राग-रागिनियों पर आधारित हैं, इस कारण ये काव्यधर्मी के साथ ही सुर धर्मी भी हैं।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने हिन्दुस्तानी राग-रागिनियों में से कई राग-रागिनियों को नए रूप में ढाला। उदाहरणस्वरूप, आसावरी में शुद्ध ऋषभ लगाते थे। रामकली में शुद्ध मध्यम, पूर्वी में शुद्ध धैवत, बिहाग में कोमल निषाद एवं कभी-कभी बिहागड़ा के आविर्भाव की संभावना होने पर बिहाग में दोनों निषाद का प्रयोग करते थे। कविगुरू को पूर्वी, इमनकल्याण, बिहाग, भैरवी, रामकली, आसावरी, सहाना, मल्हार, बहार, खमाज आदि राग-रागिनियाँ बहुत प्रिय थी। इसलिए रवीन्द्र संगीत में इनका प्रयोग दृष्टिगोचर है।

उत्तर भारतीय संगीत के प्रचलित गायन शैली ध्रुपद, धमार, ख्याल तथा टप्पा में से ध्रुपद गायन शैली का प्रभाव रवीन्द्र संगीत पर सबसे अधिक पड़ा। इन शैलियो पर आधारित रवीन्द्र संगीत विष्णुपुर घराने से प्रभावित थे। ध्रुपदांगिक रवीन्द्र संगीत मूलतः सरलता और सरसता पर आधारित होता है, जिन्हें शुद्ध वाणी के ध्रुपद की मौलिक विशेषताएँ मानी जाती है। ध्रुपदांगिक रवीन्द्र संगीत को दो भागो में बाँटा जा सकता है-1. मूल गाने को आदर्श मानकर रचित गीत। 2. स्वतंत्र रचना गीत।

कविगुरू ने हिन्दी गीति-रीति के राग, ताल, छंद एवं रस को अपने गीतों में प्रायःसही रखा, जिसे सुनकर किसी भी हिन्दुस्तानी संगीतज्ञ को गीत का अर्थ समझ में आए ना आए, ध्रुपद का गीतरस उन्हें अवश्य प्राप्त होगा। ध्रुपदांगिक रवीन्द्र संगीत के लक्षण इस प्रकार हैः-

1. गीत वस्तुतः ईश्वर आराधना, उनकी महिमा वर्णन तथा कहीं-कहीं प्रकृति वर्णन पर आधारित होता हैं।

* एम. ए., संगीत, शोध छात्र, बी. आर. ए. बि. यु., मुजफ्फरपुर

Scanned with OKEN Scanner

2. गीतों में रागो का शास्त्र सम्मत रूप रहता हैं।
3. स्थाई, अंतरा, संचारी एंव आभोग, सभी विभाग मौजूद होते हैं।
4. चौताल, सूलफाँक, तीव्रा आदि ध्रुपदांगिक तालो में रचित होते है।
5. शांत रस में रचित होते है।

ध्रुपद के आदर्श पर रचित गीतों का उदाहरण जिसे कवि ने स्वरचित ताल में आबद्ध किया।

1. राग बसंत परज में रचित गीत गंभीर रजनी नामिल ह्रदय, रूपकड़ा ताल में निबद्ध हैं-

2. निबिड़ घन आँधारे-राग शहाना-ताल-नवताल

कविगुरू के ध्रुपद धर्मी गीतों की परिधि में केवल हिन्दी ध्रुपदाबलंबी गीत हीं नहीं वरन् प्रेम, प्रकृति, विचित्र, आनुष्ठानिक, स्वदेश पर्यायों में भी अनेक गीत मिलते है जिन्हें सुनकर ध्रुपद का आभास होता है। उदाहरणस्वरूप प्रेम पर्याय के गीत-घुमेर घन गहन होते- आदि।

ध्रुपद की अपेक्षा रवीन्द्र संगीत पर ख्याल शैली का प्रभाव थोड़ा कम पड़ा, फिर भी काफी संख्या में ख्याल शैली के गीत रचना है। ये रचनाएँ ख्यालांग रवीन्द्र संगीत कहलाते हैं। ध्रुपदांगिक रवीन्द्र संगीत की तरह ही ख्यालांग रवीन्द्र संगीत भी दो भागो में विभक्त हैं- 1. मूल हिन्दी ख्याल पर आधारित गीत 2. स्वतंत्र रचना गीत। ख्यालांगिक गीतों के धुन एवं चलन शास्त्रीय होते हुए भी इसे रवीन्द्र संगीत की खास गायकी में ही गाया जाता हैं। कविगुरू ने ख्याल प्रकृति के कई गीतों में जरूरत पड़नें पर तान का प्रयोग किया। यह तान शास्त्रीय ख्याल की बोलतान की तरह ही शब्द पर आश्रित है। रवीन्द्र संगीत में तान का प्रयोग केवल भाव प्रकट करने के लिए किया गया है। इन गीतों का उदाहरण इस प्रकार है- दाओ हे ह्रदय भोरे दाओ, निशिदिन मोर पराने।

रवीन्द्र संगीत में धुन का विस्तार ख्याल के शब्दालाप की तरह मिलते है, जैसे-शुभ्र प्रभाते पूर्व गगने नामक गीत। कुछ ख्यालांग रवीन्द्र संगीत ऐसे भी है जिसमें स्थाई के बाद तीन अंतरे है तथा संचारी बिल्कुल नहीं हैं जैसे-राग भैरव के जागो मोहन प्यारे बंदिश पर आधारित रवीन्द्र संगीत मन जागो मंगल लोके बना है जो प्रातःकालीन विश्व जागृति के भाव को अखण्ड रूप से व्यक्त करता हैं। गीत का सौन्दर्य बचा रहे इसलिए इसमें तान, अलंकार आदि का प्रयोग नही किया गया है।

रवीन्द्र संगीत में कुछ ऐसे तान भी प्रयुक्त हुए हैं जिसकी तुलना ख्याल के बोलतान से किये जाने पर भी शास्त्रीय तान से भिन्न प्रतीत होते है। उदाहरणस्वरूप-कार बाँशि निशि भोरे बाजलों गीत में फुटे दिगन्ते अरूण किरण मालिका अंश का मालिका शब्द में जो तान का प्रयोग हुआ हैं वह तान बहुत ही अर्थयुक्त हैं। क्योंकि वह शरत ऋतु के मधुर सुबह के सूर्य की किरणों की छटा को दिगन्त में फैलने के भाव को अभिव्यक्त करता हैं। अतःख्यालांग रवीन्द्र संगीत भी गठन और रूपायन की दृष्टि से राविन्द्री विशिष्टता से परिपूर्ण है।

रवीन्द्र संगीत पर टप्पा गायन शैली का भी प्रभाव पड़ा। कविगुरू रचित गीतो में टप्पांगिक रचनाओं में मूल टप्पा गीत पर आधारित रचनाओं की अपेक्षा स्वतंत्र रचनाओ की संख्या ही ज्यादा हैं। रवीन्द्र संगीत में बांग्ला में प्रचलित टप्पा के विशेष रस निहित होने के बावजूद पंजाबी टप्पा वाले गुण भी हैं। इसीलिए रवीन्द्र संगीत के पूजा और प्रकृति पर्याय में कई टप्पांगिक रचनाएँ पाई जाती है। उदाहरणस्वरूप- ए कि करूणामय, के बसिले आज ह्रदयासने कविगुरू के टप्पांगिक रवीन्द्र संगीत मूल राग, ताल एवं जमजमा पर आधारित होकर भी पंजाबी टप्पा गीतों से स्वतंत्र है। शब्दों के भावरस को धुनो द्वारा सही रूप से व्यक्त करना इन गीतो का प्रधान लक्ष्य है।

अन्य गायन शैलियों की अपेक्षा ठुमरी गायन शैली और तराना का प्रभाव रवीन्द्र संगीत पर कुछ कम पड़ा। फिर भी ठुमरी गायन योग्य राग भैरवी में शुद्ध कोमल तीव्र मिलाकर बारह स्वरों के प्रयोग से कई रवीन्द्र संगीत बने। लेकिन एक ही गीत में 12 स्वरों का प्रयोग एक साथ नहीं है तरह-तरह के गीतो में तरह-तरह से हैं।

हिन्दी ठुमरी गीत पर आधारित दो गीतो का उदाहरण इसप्रकार है- 1. खेलार साथि बिदाय

द्वारखोलो 2. तुमि किछु दिये जाओं। ठुमरी प्रकृति की गीत रचना जो कविगुरू की खुद की रचना हैं-एरा पर के आपन करें।

तराने पर आधारित रवीन्द्र संगीत भी कम है। तराना पर आधारित रवीन्द्र संगीत का एक उदाहरण-सुख हीन निशिदिन पराधीन, ओई पोहाइल तिमिर रवीन्द्र संगीत पर पाश्चात्य गायन शैली का भी विशेष प्रभाव पड़ा है। आमि चिनि गो चिनि गीत इटालियन झिंझिट नामक धुन पर आधारित है। पाश्चात्य गीतों से प्रभावित रवीन्द्रनाथ द्वारा रचित रवीन्द्र संगीत-पाश्चात्य गीत Go where glory waits thee पर आधारित रवीन्द्र संगीत है—आहा आजि ए बसन्ते। The Vicar of Bray पर आधारित गीत हैं—ओ देखबि रे भाई। Drink to me only पर आधारित गीत हैं—कतबार भेबे छिनु। Namey lee पर आधारित गीत है—काली-काली बोलो रे आज। Scotch गाने के आदर्श पर बना गीत हैं—पूरानो सेई दिनेर कथा। ye banks and braes of Bonnie Doon पर बना गीत हैं—फूले-फूले ढले-ढले बहे कि बा मृदुबाय। इसके अलावे भी कई गीत हैं जैसे—तोमार होलो शुरू, आमार हल सारा इत्यादि इत्यादि।

रवीन्द्र संगीत पर सबसे अधिक प्रभाव बंगाल के लोकगीतो का पड़ा। लोकगीत से प्रभावित रवीन्द्र गीतों को 5 वर्गो में बाँटा जा सकता है-रामप्रसादी, सारि, कीर्तन, बाउल और विविध। रामप्रसादी धुन भक्तिरस के होते हैं इस धुन पर आधारित कई रवीन्द्र संगीत है। यथा-आमरा मिलेछि आज, आमि शुधु रइनु बाकि इत्यादि। सारिगान मल्लाहो के समूह द्वारा गाया जाने वाला गान है। मल्लाहो के अलावे इसे छत पीटने वाले मजदूर, धान काटने वाले किसान, कपड़ा धोने वाले धोबी आदि भी गातें हैं। कविगुरू को इन गानों के प्रति विशेष लगाव था। इस शैली से प्रभावित रविन्द्र संगीत के उदाहरण-एबार तोर मरा गांगे, बसंते की शुधु केवल फोटा फुलेर मेला। कविगुरू द्वारा रचित भानुसिंहर पदावली में कीर्तन के धुन में बना गीत हैं। कीर्तनांग रवीन्द्र संगीत सहज एवं सरल है। उदाहरणस्वरूप-नयन तोमारे पाय ना देखिते, आमि जेने शुने तवू भूले आछि आदि गीत।

बंगाल के लोक गीतों में बाउल गान का प्रभाव रवीन्द्र संगीत पर सबसे अधिक पड़ा। एक विशेष सम्प्रदाय के संगीत साधको को बाउल कहते हैं, जो उन्माद एवं भ्रमणशील होते हैं। बाउल लालन फकीर के गीतो का सबसे अधिक प्रभाव रवीन्द्र संगीत पर पड़ा।

बाउल गीतो पर आधारित निम्नलिखित रवीन्द्र संगीत बनें है—

आमार सोनार बांग्ला
जोदि तोर डाक शुने
ओ आमार देशेर माटि
आज धानेर खेते
पोष तोदेर डाक दियेछे
ग्रामछाड़ा ओई राँगा माटिर पथ इत्यादि।

रवीन्द्र संगीत पर प्रादेशिक संगीत के प्रभाव से बने गीत इस प्रकार हैं—

प्रादेशिक मद्रासी गीत	**रवीन्द्र संगीत**
	नितु चरण मूले
	बाजे करूण सुरे
	वृन्दावन लीला
	निलांजन छाया इत्यादि।
प्रादेशिक कर्णाटकी गीत	**रवीन्द्र संगीत**
	पूर्ण चंद्रानने
	आजी शुभ दिने
	सखी वावा
	बड़ो आशा करे इत्यादि।
मराठी गीत	**रवीन्द्र संगीत**
	नादविद्या परमब्रहम रस
	विश्व वीणा रवे विश्व
	जनमोहीछे।
पंजाबी गीत	**रवीन्द्र संगीत**
	ए हरि सुंदर
	ए हरि सुन्दर
	गगनो में थाल, रविचन्द्र

Scanned with OKEN Scanner

गगनेर थाले रविचन्द्र।

मैसूरी गीतों पर आधारित रवीन्द्र संगीत

एकी लावण्ये पूर्ण प्राण
आनंद लोके मंगला लोके
इत्यादि।

गुजराती गीतो पर आधारित रवीन्द्र संगीत

एकी अंधकार ए भारत
भूमि
नमी-नमी भारती इत्यादि।

लखनवी गीतो पर आधारित रवीन्द्र संगीत

खेलार साथी बिदाय द्वार
खोल।

विभिन्न गायन शैलियों के सौदंर्य तत्वों को समाहित करके भी रवीन्द्र संगीत की एक स्वतंत्र पहचान है। जिस कारण ही आज यह संगीत, रवीन्द्र संगीत के नाम से जाना जाता है।

संदर्भ ग्रंथ-

1. रवीन्द्र संगीत (गुरूदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की देन)–डा. अनिता सेन
2. रवीन्द्र संगीत की रूपरेखा–डा. दीपाली दास
3. गीति चर्चा–रवीन्द्रनाथ ठाकुर
4. स्वर वितान–रवीन्द्रनाथ ठाकुर
5. गीत वितान–जलद भादुड़ी
6. हमारा आधुनिक संगीत–डा. सुशील कुमार चौबे
7. संगीत विशारद–डा. लक्ष्मी नारायण गर्ग

Scanned with OKEN Scanner

काशी के सांगीतिक इतिहास में शसक्त हस्ताक्षर पूज्यनीय पण्डित ओम्कारनाथ ठाकुर

रश्मिका शिवंक*

मोक्ष प्रदायिनी माँ गंगा के तट पर बसी काशी भारत की प्राचीनतम धार्मिक नगरी है। यह रोम, मैसोपोटामिया, मिस्र, रोम, यूनान की तरह पूरातन एवं ऐतिहासिक है। सांस्कृतिक सभ्यता की दृष्टि से मिस्र, रोम, मैसोपोटामिया, भारत का नाम उल्लेखनीय है और भारत में भी काशी इस दृष्टि से प्रमुख केन्द्र रही है। काशी का अस्तित्व अत्यन्त प्राचीन है। इसे विश्व का अत्यन्त प्राचीन और जीवन्त नगरों में से एक माना जाता है। आदिकाल से ही इसे सर्वविद्या का केन्द्र माना जाता है।

गुरु-शिष्य परम्पराओं से होता हुआ संगीत जब शिक्षण संस्थाओं में आया तब पण्डित गोविन्द मालवीय जी ने संगीत शिक्षा के निर्वाहन कार्य के लिए पूज्यनीय पण्डित ओम्कारनाथ जी ठाकुर को काशी में अनुरोधपूर्वक आमंत्रित किया। यद्यपि इसके पूर्व भी कई गुणीजनों ने संगीत शिक्षा के निर्वाहन का कार्य किया किन्तु पण्डित जी का योगदान उन सभी में विशेष उल्लेखनीय है।

'जातस्य ही ध्रुवो मृत्युः'[1] यह गीता का वचन है। लोग आते है और चले जाते हैं। कुछ भुला दिये जाते हैं और कुछ याद रह जाते हैं। किसी को चाहकर भी विस्मृत नहीं किया जा सकता। किसी का गुणगान अपने पराये, दोस्त-दुश्मन, अनुकूल-प्रतिकूल सभी करते हैं। किन्हीं को उनके प्रखर कार्यकाल में एवं उनके मृत्यु पर्यन्त और भविष्य में भी भुलाना असंभव सा प्रतीत होता है।

ऐसे ही संगीत जगत में एक प्रखर व्यक्ति है संगीतमार्तण्ड पूज्यनीय पण्डित ओम्कारनाथ जी ठाकुर जिन्होंने काशी में संगीत की शिखा को एक ठोस आधार प्रदान किया। काशी को संगीत की जन्मभूमि माना जाता है। सम्पूर्ण भारत से ही नहीं अपितु नेपाल, श्रीलंका, आसाम आदि देशों से लोग यहाँ संगीत की शिक्षा प्राप्त करने को आते हैं।

देश-विदेश में भारतीय संगीत की कीर्ति पताका फहराने वाले पण्डित विष्णुदिगम्बर पलुस्कर के प्रमुख शिष्य संगीत मार्तण्ड प्रणव भक्त स्वर सम्राट पूज्यनीय पण्डित ओम्कारनाथ जी ठाकुर जी का जन्म 4 जून 1897 में बड़ौदा रियासत के तहसील भादरण (वर्तमान जिला कैम्बे) के जहाज ग्राम में उनेवाल ब्राह्मण श्री गौरीशंकर ठाकुर के पुत्र के रुप में हुआ था। इनके पिता प्रणव (ओम्) के परम उपासक थे, अतः उन्होंने अपने इस परम तेजस्वी पुत्र का नाम ओम्कार रखा।

पण्डित जी का बाल्यकाल घोर गरीबी एवं अत्यन्त ही संघर्ष में बीता। प्रकृति प्रदत्त शारीरिक, मानसिक, शक्ति तथा मधुर कंठ उनकी थाती थी। ईश्वर प्रदत्त मधुर आवाज के धनी पण्डित जी संगीत के प्रत्येक महफिल में दृष्टा एवं सिंह के समान विजयी रहे। उनके योगीपिता का वाक् बीज मंत्र का प्रदान तथा स्वाभिमानी माता का आशीर्वाद ही उनकी पूंजी थी।

18 वर्ष की आयु में सेठ शाहपुर जी मंचेर डुग्गा की सहायता से पण्डित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर जी का शिष्यत्व ग्रहण करने में समर्थ हुए। गुरूजी

* शोध छात्र, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

Scanned with OKEN Scanner

को आदेश में निष्ठा, असाधारण मेधा तथा अनवरत साधना से उत्तरोत्तर विकास करते हुए देदीप्यमान नक्षत्र की भांति चमकने लगे।

मात्र 5 वर्ष में ही 9 वर्ष का पाठ्यक्रम पूरा करते हुए गुरु महाराज की विशेष कृपा पाई। विद्यालय की लाहौर शाखा के प्राचार्य भी नियुक्त हुए एवं गुरु द्वारा प्रदत्त विद्या को अपने परिश्रम से उत्कर्ष पर पहुंचाया। अपने मेहनत एवं लगन से अपनी कीर्ति को आठ दशकपूर्व के स्थापित कलाकारों में अपना विशेष स्थान बना लिया। भारतीय संगीत के प्रतिनिधि के रुप में उपस्थित होकर अपने दिव्य गान तथा सार गर्भित प्रवचनों द्वारा भारतीय संगीत को विश्व स्तर पर प्रतिष्ठा दिलाई।

पण्डित जी का गायन स्वर प्रधान एवं भाव प्रधान होते हुए भी इनकी आवाज में इतना ओज था कि साथ में बजने वाले दो-दो तानपूरो की आवाज भी फीकी प्रतीत होती थी। गायन के साथ ही साथ व्याख्यान देने की कला में भी ये पारंगत थे और वाग्गेकार के रुप में भी इनकी एक अलग पहचान थी।

पण्डित जी ऐसे गणमान्य विश्व विश्रुत प्रयोक्ता थे जिनकी क्रियात्मक पक्ष एवं शास्त्रपक्ष दोनों ही पर गहरी सत्यान्वेशी पकड़ थी। दोनों ही क्षेत्रों में समान अधिकार रखते हुए शिखर-पुरुष के रुप में सुषोभित थे।

इन्होंने संगीत के क्रियात्मक पक्ष एवं शास्त्र पक्ष से सम्बन्धित दो ग्रन्थ मालाओं की रचना की। क्रियात्मक पक्ष से सम्बन्धित ग्रन्थ संगीतांजलि भाग 1 से 6 तक है और शास्त्रपक्ष से सम्बन्धित ग्रन्थ प्रणव भारती है।

संगीत शिक्षा के विषय में इनका अपना ही दृष्टिकोण था जिसका कुछ बोध उनकी प्रकाशित पाठ्य पुस्तकों (संगीतांजलि भाग-1 से 6 तक) के अवलोकन से प्राप्त होती है। 10वर्षीय पाठ्यक्रम हेतु ये पुस्तकें हैं। प्रणव भारती उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है जो स्वर शास्त्र से सम्बन्धित है। इसमें स्वरशास्त्र की वैज्ञानिक दृष्टि से समीक्षा की गई है। प्राचीन सिद्धान्तों के आधार पर आधुनिक लक्ष्य को समझना इस प्रकार लक्षण-लक्ष्य संबंध से यह ग्रन्थ लिखित है। आधुनिक लक्ष्य तक पहुंचना ऐसा विषयय भी किया गया है। पण्डित भातखण्डे के श्रुति स्वर, विचार की आलोचना उत्तर भारतीय स्वर सप्तक का प्राचीनस्वरों से सम्बन्ध मूर्च्छना जाति आदि विषयों पर इस ग्रन्थ में प्रचुर मात्रा में सामग्री निहित है। शास्त्र के अध्ययन के प्रारंभिक काल में सांगीतिक गहन समस्याओं का ऐसा ऊहापोह की समीक्षा करने वाला यह ग्रन्थ ऐतिहासिक दृष्टि से अपना अलग ही महत्व रखता है।

आचार्य भरत के प्रति दृढ़ निष्ठा, नीरक्षीर विवके, चिन्तन, विद्वता, संस्कृत हिन्दी भाषा पर अधिकार तथा स्पष्टवादिता का कुछ बोध इनके द्वारा लिखित शास्त्र ग्रन्थ 'प्रणव भारती' के सघन अध्ययन में दृष्टिगत होता है।

संस्थागत शिक्षण और गुरु-शिष्य परम्परा का संयुक्त स्वरूप उनके द्वारा स्थापित श्री कला संगीत भारती (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) में देखने को प्राप्त होता है। पण्डित जी कुशल गायक होने के साथ-साथ नादयोगी, स्वर सिद्ध, कंठ-काकु- कुवेर गायक ही नहीं अपितु नाद योगी, स्वर सिद्ध थे। पूर्वाग्रह रहित चिन्तक सत्यान्वेषी, क्रान्तिकारी, अन्वेषक थे, पण्डित जी अनुपम आचार्य होने के साथ-साथ सुलझे हुए शिक्षाविद् साहसी प्रयोगधर्मी थे। नीर क्षीर अनुसंधानकर्ता थे।

लाहौर में कठोर अभ्यास में निमग्न रहते हुए कोमल गांधार निशाद युक्त स्वरावली के मृदु प्रभाव को परखने हेतु लाहौर के ही एक चिड़ियाघर के एक हिंसक शेर पर इन स्वरों का प्रभाव किया। वायलिन पर बजाये हुए स्वरों में मनुष्य के कण्ठ से अधिक मृदुता है। ऐसी धारणा प॰ जी की थी। इसलिए वायलिन द्वारा प्रयोग किया गया था। इन कोमल स्वरों के 5 मिनट के श्रवण के बाद ही उस हिंसक शेर की आँखों में कोमलता उमड़ आयी।[2]

वनस्पतियों में भी जान होती है। इसे अपने प्रयोग द्वारा जगदीशचन्द्र बसु की प्रयोगशाला में प्रयोग द्वारा सिद्ध किया। पण्डित जी के गाने से पूर्व पत्तों की स्थिति को देखा गया एवं गायन के पश्चात्

उनकी अवस्था आंकी गयी तो पाया गया कि उनमें नई चमक स्पष्टतया परिलक्षित हो रही थी। भैरवी के मधुर स्वरों के प्रभाव से पौधों के 'प्रोटोप्लाज्मा' के कोश में स्थिति कोरोप्लाट विचलित एवं गतिमान हो उठते हैं। और उनमें नई चमक दिखायी देने लगती है। यद्यपि बसु जी ने इसे पूर्व प्रमाणित किया था तथापि पण्डित जी ने इसको अपने प्रयोग द्वारा पुष्टि की।

1955ई॰ में प्रथम विदेश यात्रा के लिए संगीत दिग्विजय हेतु गए थे उसी समय ''इटली के तत्कालीन कर्णधार मुसोलिनी के समक्ष पण्डित जी का गायन हुआ। 'पुरिया' द्वारा पण्डित जी ने मुसोलिनी के अनिद्रा रोग को दूर किया।''[3]

ये सारे प्रयोग उनके कुशल अनुसंधानकर्ता एवं सत्यान्वेशी होने की ओर इंगित करते है। वे मात्र संगीतज्ञ नही अपितु साहित्य मर्मज्ञ भी थे। ''1950 में जयशंकर प्रसाद की पद्य रचना **'कामायनी'** के चुने हुए अंशों को को पण्डित जी ने सस्वर और अभिनय की सीमा में बांधकर इसका सफल मंचन संगीत महाविद्यालय के छात्राओं द्वारा प्रस्तुत किया। यह उस समय का अनूठा प्रयोग था। रुपक की सफल प्रस्तुति के बाद साहित्य मर्मज्ञों ने कहा 'कामायनी' के मर्म को हम आज ही समझे।''[4]

भाषण एवं लेखन की इनकी अपनी स्वतन्त्रशैली रही संगीत के संग दीर्घकालीन रंग में रमे होने के कारण अन्य ललित कलाओं को भी सहज ढंग से समझने एवं समझाने की शक्ति विकसित कर ली।

इनका गायन अलौकिक तासीर रखता था। पण्डित ओमूकारनाथ जी की गायकी ग्वालियर घराने से सम्बन्ध रखती है। उस्ताद नत्थन पीर बक्श साहब इस गायकी के जन्मदाता हैं आगे चलकर पण्डित बालकृष्ण बुआ इचलकररंजीकर के शिष्य पण्डित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर ने संगीत को समाज में प्रतिष्ठित कराने का महाप्रयास किया। यह घराना ख्याल गायकी विशेषता से सम्बन्ध रखती है किन्तु ध्रुपद, ठुमरी में श्रृंगारिक प्रधानता के कारण पण्डित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर जी ने इसे महत्व नहीं दिया। भक्ति प्रधान पदों का ही ख्यालो में प्रयोग किया गया है। पण्डित जी ने इसी को स्वीकार किया, इसे ही महत्व दिया तथा सफलता पूर्वक इसी का मंचन किया और इसे आगे भी बढ़ाया। पण्डित जी द्वारा गाए अनेक भक्तों के पदों में- मैया मोरी को सुनकर श्रोता द्रवित हो जाते हैं। इसके सबल प्रमाण है। देव स्तुति गान, देश-भक्ति गान, संस्कृत रस भाव तदनुरुप उच्चारण और प्रस्तुतिकरण में पण्डित जी अद्वितीय थे। ''इनका 'वन्देमातरम्' का गायन सुनकर एक बार राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने कहा था 'जो काम मेरे कई भाषणों से नहीं हो सकता वह पण्डित जी के एक गायन से हो सकता है।''[5]

शास्त्रीय संगीत से अनजान और रूचिहीन व्यक्ति भी पण्डित जी के कण्ठ की सम्मोहिनी शक्ति से शास्त्रीय गान की ओर झुक जाता है। पंण्डित के गायन की प्रमुख विशेषता उनकी आलापचारी है, दो-दो मिनट तक एक-एक स्वर पर ठहरना, विलम्बित की बन्दिश की पूरी एक आवृत्ति एक सांस में गा जाते थे। इनकी गायकी में अद्भुत तारतम्यता थी एवं भावों की अभिव्यक्ति अद्वितीय थी। तान, सरगम, तिहाई, बोलतान इत्यादि का सम्पूर्ण सन्तुलन इनकी गायकी में दृष्टिगत होता था। साहित्यनुकूल संगीत और संगीतानुकूल अभिनय पण्डित जी की गायकी में दृष्टिगत होता था।

इस प्रकार यह कहा जाए पण्डित जी व संगीत सूर्य थे जिनके संगीत में -

माधुर्य गुण की मोहिनी थी
ओज गुण का आलोक था।
प्रसाद गुण का प्रकाश था।

- जीवन कवन सुमन, पृ॰ 18

पण्डित जी को मिले विविध सम्मान-

पण्डित जी के गौरवमय व्यक्तित्व को अनेकों सम्मान एवं उपाधियों से विभूषित किया गया जिसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

1. पद्मश्री—1955 के गणतंत्र दिवस पर भारत के राष्ट्रपिता ने उन्हें पद्मश्री की उपाधि से विभूषित किया।

Scanned with OKEN Scanner

2. **संगीत प्रभाकर**—महामना पण्डित मदन मोहन मालवीय जी द्वारा प्रदान किया गया।

3. **संगीत महामहोदय**—नेपाल के महाराजा द्वारा सन् 1930 में प्रदान किया गया।

4. **संगीत मार्तण्ड**—राजकीय संस्कृत महाविद्यालय कलकत्ता द्वारा 1940 में प्रदान किया।

5. **संगीत सम्राट**—विशुद्ध संस्कृत महाविद्यालय काशी की ओर से 1943 में प्रदान किया गया।

विविध सम्मान

1. सन् 1934 के करांची म्युनिसीपल कारपोरेशन द्वारा सिविक ऐड्रस (नागरिक अभिनन्दन) समर्पण किसी संगीतकार को ऐसे नागरिक सम्मान का भारत में यह पहला अवसर था। (1934 में करांची) अखण्ड भारत का एक शहर था।
2. सन् 1948 में भारत के समस्त संगीत प्रेमियों द्वारा उनका स्वर्ण जयन्ती महोत्सव बम्बई विश्वविद्यालय के पद्वीदान मन्दिर में डॉ॰ एम॰आर॰ जयकर महोदय की अध्यक्षता में बड़ी धूमधाम से मनाया गया था। इस अवसर पर उन्हें एक बहुमूल्य चांदी की वीणा तथा एक बहुत बड़ी धनराशि भी अर्पण की गयी थी।
3. गुजरात साहित्य सभा में जगजीत राम स्वण-चन्द्रक के लिए पण्डित जी का चुनाव किया था।
4. 1952-53 में अफगानिस्तान के बादशाह जहीरशाह की ओर से स्वर्ण चन्द्रक तथा अन्य भेंट प्रदान की गयी।
5. 1957 में श्रीमान् सं॰वा॰ शिरेश्वरकर (कमिश्नर, वाराणसी) की अध्यक्षता में पण्डित जी की 'हीरक जयन्ती' मनाई गई तथा इस अवसर पर 'हीरक जयन्ती' अभिनन्दन पत्रिका भी प्रकाशित की गई। जिसमें पण्डित जी के जीवन चरित्र के साथ ही उनकी अनुपम साधना एवं सिद्ध गाथा दी गई है। जिसकी लेखिका डा॰ प्रेमलता शर्मा हैं।
6. 24 दिसम्बर 1963 को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में पण्डित जी को मानद डी॰ लिट् की उपाधि से विभूषित किया गया।
7. 1964 के अंत में कलकत्ता के 'रवीन्द्रभारती' विश्वविद्यालय में पण्डिज जी को मानद् डी॰लिट की उपाधि प्रदान की की।

वस्तुतः वह कल भी मार्तण्ड थे और आज भी। वे कल भी ज्योति स्तम्भ थे और आज भी। काशी ही नही अपितु भारत के भी भूषण थे।

संदर्भ :

1. श्रीमद्भागवत—लेखक श्री स्वामी किशोरदास कृष्णदास, पृ॰ 18
2. पं॰ ओमकारनाथ जी ठाकुर एवं उनकी शिष्य परम्परा—डॉ॰ लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्य', पृ॰ 93
3. जीवन कवन सुमन—प्रो॰ प्रदीप कुमार दीक्षित, पृ॰ 17
4. पं॰ ओमकारनाथ जी ठाकुर एवं उनकी शिष्य परम्परा—डॉ॰ लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्य', पृ॰ 95
5. संगीत मार्तण्ड—पं॰ ओमूकारनाथ जी ठाकुर, हीरक जयन्ती अभिनन्दन पत्रिका, लेख- डा॰ प्रेमलता शर्मा, पृ॰ 50

Scanned with OKEN Scanner

जयदेवकृत गीतगोविन्दम् का संगीतशास्त्रीय अध्ययन

डॉ॰ रवीन्द्र नारायण चौरसिया*

पीयूषवर्षी महाकवि जयदेवकृत 'गीतगोविन्दम्' नामक काव्य राधा-कृष्ण की लीला वैचित्री से पूर्ण है, जिसमें मधुररस तथा मधुरोपासना के प्रतिपाद्य महाभाव की अभिव्यक्ति सहृदय संवेद्य है। कोमलकान्त पदावली के पक्षधर जयदेव ने हरिस्मरण तथा विलासकला के कुतूहल को संयुक्त करते हुये अपनी सहजाख्य कारयित्री प्रतिभा के प्राकट्य द्वारा महत्त्वपूर्ण कवि-कर्म को सिद्ध किया है।

'गीतगोविन्दम्' एक अत्यन्त माधुर्यपूर्ण रचना है, जिसमें राधा और कृष्ण की विविध प्रणय दशाओं का सरस चित्रण किया गया है। संस्कृत गीतिकाव्य में 'गीतगोविन्दम्' का अति महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रो॰ पिशल तथा लेवी इसे संगीत तथा रूपक के मध्य श्रेणी की रचना मानते हैं। इसकी भाषा भावों के बिल्कुल अनुकूल है, शब्द - सौष्ठव प्रवाहमय तथा शैली रमणीय है। जयदेव की रस और अर्थाभिव्यञ्जक कोमल-कान्त-पदावली, ललित एवं अनुप्रासयुक्त छन्द और रमणीय गेयता पाठक के मन पर छा जाती है। एक मधुर शैली का उदाहरण, जिसमें राधा की सखी उसे प्रियतम कृष्ण के पास जाने को प्रेरित कर रही है–

रतिसुखसारे गतमभिसारे मदनमनोहरवेशम् ।।
न कुरु नितम्बिनिगमनबिलम्बनमनुसर तं हृदयेशम् ।।
धीरसमीरे यमुनातीरे वसति वने वनमाली ।।
गोपीपीनपयोधरमर्दन चञ्चलकरयुगशाली ।।1 ।।
मुखरमधीरं त्यज मञ्जीरं रिपुमिव केलिसुलोलम् ।
चल सखि कुञ्जं सतिमिरपुञ्जं शीलयनीलनिचोलम्॥4॥ [1]

काव्य के प्रत्येक पद के साथ महाकवि ने संगीत निर्देश कर दिया है। कुछ टीकाकार राधा और कृष्ण के प्रेम की प्रतीकात्मक व्याख्या करते हैं। जिनके अनुसार कृष्ण परब्रह्म हैं तथा राधा जीवात्मा। इन दोनों पर नायक-नायिका भाव का आरोपण किया गया है। पूजा के अवसरों पर इसके पद्यों को गाया जाता है। संयोग तथा वियोग रस की अभिव्यक्ति चारूता से पूर्ण , प्रस्तुत कृति में लीला-विलास का मनोज्ञ चित्रण दर्शनीय है।

गीतगोविन्दम् की अष्टपदी सांगीतिक सुषमा से पूर्ण है। विभिन्न राग-रागिनियों में गेय इसके श्लोक अप्रतिमानन्द को सृष्ट करते हैं । कलावन्तों, गायकों तथा नर्त्तकों द्वारा गीतगोविन्दम् की प्रस्तुति अतीव आह्लादकारी प्रतीत होती है।

वसन्ततिलका, उतबिलम्बित, शार्दूल विक्रीडित वृत्तों में प्रस्तुत जयदेव की यह रचना राग तथा ताल के सामंजस से पूर्ण है। विचारणीय है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही नादमय है। नाद से वर्ण, वर्ण से शब्द, शब्द से वाक्य तथा वाक्य से भाषा का प्रादुर्भाव होता है–

नादेन व्यज्यते वर्णः पदं वर्णात् पदद्वयः ।
वचसो व्यवहारोऽयं नादाधीनमतो जगत् ।। [2]

याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार वीणावादन तत्त्वज्ञ श्रुतिजाति विशारद् तथा तालज्ञ - ये मोक्षमार्ग पर गमन करते हैं–

वीणावादन तत्त्वज्ञः श्रुतिजाति विशारदः ।
तालज्ञश्च प्रयासेन मोक्षमार्गं च गच्छति ।। [3]

नाट्यविद्या को निर्विघ्न समाप्त करने हेतु गीत को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। नाट्य सूत्र में

* अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, सी.एम.कॉलेज, दरभंगा

Scanned with OKEN Scanner

संगीत के चार वर्ण-आरोही, अवरोही, स्थायी और संचारी वर्णित हैं–

आरोही चावरोहीच स्थायि संचारिणौ तथा।[4]

गीत कथा की महत्ता का वर्णन करते हुये महर्षि भरत ने ईश्वर प्राप्ति के निमित्त किये गये स्नान, जपादि से इन्हें सहस्र गुणा पवित्र माना है।[5]

गीतगोविन्दम् का प्रयोग प्रबंधगायन के रूप में किया जाता है। छन्दगायन के पश्चात् प्रबन्धगायन परंपरा विकसित हुई। इसमें उद्ग्राह, मेलाप, ध्रुवा अन्तरण एवं आभोग विधियों का प्रयोग किया जाता है।

संगीतशास्त्र विशारदों की मान्यता है कि स्वर साधना से ईश्वर का साक्षात्कार संभव है। इसीलिए सामश्रुति में हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, छालिक्य आदि सांगीतिक प्रविधियों का वर्णन मिलता है तथा इसका पल्लवन शतपथ ब्राह्मणादि वैदिक ग्रंथों में भी किया गया है।[6]

भक्ति को प्रेम रूपा कहा गया है। राग भी सद्य प्रीतिकर है। फलतः भक्ति तथा भजन-भावना की पूर्णाभिव्यक्ति के क्रम में संगीत की महत्ता सर्व स्वीकृत है–

भजनं इति रसनम्। रसनं इति सम्यक् गीत-संगीतः इति कथा प्रथीयसी।[7]

द्वादश सर्गों में विभक्त गीतगोविन्दम् का संगीतपरक मूल्यांकन परम विहित प्रतीत होता है। गायन, वादन तथा नर्त्तन के संगम को संगीत कहा जाता है। वेद काल में संगीत का स्वरूप पूर्ण रूपेण आध्यात्मिक था, जिसे मोक्ष प्राप्ति का साधन माना जाता था। ऋग्वेद के अनुसार स्वर की धारा अन्तरिक्षस्थ है । इस प्राग प्रसविनी धारा ने जगत् में अपनी धन्यता प्रकट की है। वस्तुतः नादब्रह्म के साक्षात्कार से परम ज्योति का प्राकट्य होता है। संगीत की उभय कोटियाँ–शास्त्रीय तथा मार्गी या देशीय कही जाती है । गीतगोविन्दम् शास्त्रीय संगीत पद्धति पर आधृत रचना है, जिसमें विलास तथा मधुर भक्ति का मणिकांचन योग परिलक्षित होता है।

"सद्यः प्रीतिकरोरागः" के रूप में राग शब्द को परिभाषित किया जाता है। सामवेद में सप्त स्वरों का विधान किया गया है। ऋग्वेद के एक मंत्र के अनुसार वाक् या वाणी के चार प्रकार–परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी होते हैं। इसके तीन चरण-उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित कहे गये हैं तथा इसमें सात सुरों का विधान होता है। ऐसा वृषभ (वर्षतीति रसः इति वृषभः) सांगीतिक द्रवणशीलता को उत्पन्न करता है ।

गीतगोविन्दम् की प्रथम अष्टपदी में मालवराग तथा रूपक ताल का विधान दीख पड़ता है । मालवराग प्रस्तुतिजन्य वैचित्री तथा चमत्कार से पूर्ण है, जिसके साथ रूपक ताल का विनियोग अतीव आह्लादकारक प्रतीत होता है । इसी प्रकार द्वितीय अष्टपदी गुर्जर राग तथा प्रतिमंठ ताल में प्रस्तुत है । जैसे–

श्रितकमलाकुचमण्डल धश्तकुण्डल ए ।
कलितललितवनमाल जय जयदेव हरे ।।1।।
दिनमणिमण्डलमण्डन भवखण्डन ए ।
मुनिजनमानसहंस जय जयदेव हरे ।।2।।[8]

इसमें प्रथम पंक्ति के अन्त में 'ए' का प्रयोग राग-प्रयोग के रेकार की माधुरी तथा निरन्तरता को प्रकट करता है ।

इसी प्रकार गीतगोविन्दम् की एक प्रसिद्ध अष्टपदी में कृष्ण की वासन्तिक राग का वर्णन हुआ है। युवतियों के साथ कृष्ण की यह रास-लीला, वृन्दावन स्थली में प्रभूतानन्द सृष्टि करती है। इसमें आलम्बन तथा उद्दीपन के रूप में वसन्त-वर्णन परमाह्लादक है। वसन्त राग तथा रूपक ताल में प्रस्तुत यह छन्द आलंकारिक सुषमा से पूर्ण है–

"ललितलवंगलतापरिशीलन कोमलमलय समीरे।
मधुकारनिकरकरम्बित कोकिल कूजित कुंज कुटीरे।।
विहरति हरिरिह सरसवसन्ते नृत्यति ।"[9]

वसन्त राग मधुर तथा कोमल राग की कोटि में परिगणित होता है। वसन्तवर्णन में इसका प्रयोग होता है। इसके सरगम की व्यवस्था संगीतशास्त्र में वर्णित है। रूपकताल की 7 मात्राओं से संयुक्त यह राग प्रमुखतः श्रृंगार रस की अभिव्यक्ति सुषमा से पूर्ण होता है।

Scanned with OKEN Scanner

गीतगोविन्द में प्रमुखतः इन रागों का प्रयोग हुआ है—

1. रामकलि राग - रूपकताल
2. गुर्जरराग - रूपकताल तथा प्रतिमण्ठ ताल
3. मालव राग - एकताली राग
4. कर्नाटक राग - एकताली राग
5. देशी राग - एकताली राग
6. देशवराडिराग - रूपक ताल
7. वराडी राग - रूपकताल
8. विभासराग - एकताली ताल

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गीतगोविन्दम् में क्षेत्रीय रागों का प्रयोग हुआ है। गुर्जर, मालव, कर्नाटक आदि क्षेत्रों में प्रयुक्त रागों के विन्यास के द्वारा रस-रहस्य की महत्वपूर्ण प्रस्तुति मधुर रस तथा मधुरोपासना को समुज्ज्वल करती है।

बंगाल के राजा लक्ष्मण सेन के राजकवि जयदेव रचित 'गीतगोविन्दम् 12वीं सदी के अंत की रचना है। श्रृंगार रस प्रधान संस्कृत के गीतिकाव्य में राधा-कृष्ण के विहार का ललित वर्णन है। संस्कृत काव्यों में राधा की प्रतिष्ठा सर्वप्रथम जयदेव ने ही की है । विश्व- साहित्य में इतने सौन्दर्य एवं माधुर्य से ओतप्रोत रचना का मिलना दुर्लभ है।[10] चैतन्य महाप्रभु गीतगोविन्दम् के परम रसिक थे। इनकी भाव समाधि प्रसिद्ध है। उत्कल, बंगाल, आसाम, नेपाल तथा मिथिला के अतिरिक्त सम्पूर्ण भारत में इस काव्यरत्न की परम प्रतिष्ठा है।

मिथिलांचल में 'गीतगोविन्दम्' के गायन की एक अक्षुण्ण परम्परा परिलक्षित होती है। महाराज दरभंगा के दरबार तथा दरभंगा के मंदिरों में इसका गायन होता था, जिसमें गायक दरबारी लाल का महत्वपूर्ण स्थान है। देशी राग को तिरहुत राग भी कहा जाता है। विद्यापति को अभिनव जयदेव की संज्ञा प्रदान की गयी है। विद्यापति ने भी जयदेव का अनुकरण कर देशी रागों में पदों की रचना की है, जिसमें राधाकृष्ण की संयोग तथा वियोग जन्य लीला की सुन्दरता परिलक्षित होती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि गीतगोविन्दम् के छन्द सर्वथा गेय हैं। इनमें ऋषभ, गान्धारादि स्वरों के विन्यास द्वारा लीला प्रस्तुति की महत्त्वपूर्ण क्षमता का प्राकट्य हुआ है। वस्तुतः सांगीतिक सुषमा से पूर्ण जयदेवकृत गीतगोविन्दम् महाभाव की मोदन तथा मादन स्थिति से पूर्ण एक समर्थ काव्य है।

सन्दर्भ

1. गीतगोविन्दम्, पंचम् सर्ग
2. संगीत दर्पणः 1-4
3. याज्ञवल्क्य स्मृति : 2-4-115
4. नाट्य सूत्र : 29/19
5. नाट्य सूत्र : 29/34
6. संगीत सुधासागर : 1/174
7. वेदान्तसार : पृ.- 85
8. गीतगोविन्दम् , द्वितीय संर्ग
9. गीतगोविन्दम् तृतीय सर्ग
10. संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास—डॉ. सूर्यकान्त , पृ. 250 -251

Scanned with OKEN Scanner

भारतीय संगीत के विकास में हिन्दी-भक्त कवियों का योगदान

आलोक रंजन*

गायन, वादन तथा नर्त्तन के विनियोग को संगीत कहा जाता है। ऋग्वेद में नादब्रह्म का स्वरूप वर्णित है। 'मधुमंदाकिनी' नाम्नी कृति में कतिपय संगीतपरक वेदमन्त्रों का अनुवाद अवलोकनीय है।[1] ऋग्वेद की एक गाथा के अनुसार सृष्टि के पूर्व सर्वत्र जल की सत्ता थी। उस अर्णव (समुद्र) में प्रकृति और पुरूष के नृत्य-विन्यास से जिन शीकरों की सृष्टि हुई, उनसे विविध लोकों की रचना हुई।[2] इस प्रकार सृष्टि के मूल में प्रकृति पुरूष के नृत्य-विन्यास की ही विद्यमानता है।

शतपथब्राह्मण, गोपथब्राह्मण, ताण्ड्यब्राह्मण आदि वैदिक ग्रन्थों में गायन, वादन तथा नर्त्तन का उल्लेख है। इनमें सुषिर, वेणु, तन्त्री, पटह आदि वाद्ययन्त्रों का उल्लेख किया गया है।

इसी प्रकार श्रीकृष्ण- लीला प्रसङ्ग में जिस दिव्य रास का वर्णन हुआ है, उसमें ताण्डव तथा हल्लीसक नृत्य का वर्णन हुआ है। यह प्रसंग श्रीमद्भागवत के महारास में अवलोकनीय है।[3] कहा जाता है कि दिव्य गोलोक से इन सांगीतिक कलाओं का अवतरण वृन्दावनस्थली में हुआ।

संगीत की अधिष्ठात्री भगवती सरस्वती कही गई हैं। ये सरस्वान (विष्णु) प्रिया हैं। सरस्वती ब्रह्मा की भार्या भी हैं। इन्हें सरसवती भी कहा गया है। 'सरो विविधं ज्ञानं यस्या हृदि वर्त्तते सा सरस्वती'—के रूप में भी सरस्वती शब्द की व्युत्पत्ति दी जाती है। ये विविध ज्ञान-प्रदात्री भगवती है। वीणा वादिनी सरस्वती सप्तसुरों के विस्तार के द्वारा अप्रतिमानन्द सृष्टि करती हैं।

ऋग्वेद के एक प्रसिद्ध मन्त्र का वेणुपरक अर्थ आचार्य वल्लभ ने किया है। इसमें चत्वारि श्रृङ्ग, त्रयोअस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासोअस्य' का उद्घोष किया गया है। चार श्रृङ्ग संगीत की चार वाणियाँ हैं। तीन पद-उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित हैं। शीर्ष-शास्त्रीय तथा देशीय-पद्धति हैं तथा सप्तहस्त सात स्वर - 'सारेगमपधनीसा' हैं। भारतीय संगीत इन्हीं विशेषताओं से पूर्ण हैं।

संगीत के द्वारा प्रमुखतः ईश्वरोपासना की जाती थी। स्वर के द्वारा ईश्वर की आराधना सर्वोपरि है। 'गन्धर्वस्य ध्रुवेपदे' इस श्रुति के अनुसार गन्धर्व का पद ध्रुव है। 'गाँ वाणीन् धार्यते इति गन्धर्वः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार संगीत की वाणी धारण करने वाले को गन्धर्व कहा जाता है। संगीत की ध्रुपद-गायन-परम्परा के सोतनुसंधान में उक्त मन्त्र को उद्धृत किया जा सकता है। ध्रुपद-शैली में विविध रागों की प्रस्तुति होती है।

हिन्दी भक्त कवियों में रामभक्त तथा कृष्णभक्त कवियों की गणना होती है। इन कवियों ने विभिन्न छन्दों-पदों की रचना की, जिन्हें विभिन्न रागों में आवद्ध किया गया है। भक्त कवियों के द्वारा रचित मंगलछन्द सर्वथा गेय है।[4]

इसी प्रकार सूर आदि अष्टछाप के कवियों ने श्रीकृष्ण की अष्टयाम सेवा के परिप्रेक्ष्य में विविध

* शोध-छात्र, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा

पदों की रचना कर, इनका गायन भी किया। इन कवियों ने रास-रहस्य की सांगीतिक प्रस्तुति की है। शाण्डिल्यराससूत्र' में रसब्रह्म की भक्ति के कारण रासोत्पत्ति सिद्ध की गई है।[5] स्त्री पुरूष के धृतहस्त मण्डल को भी रास कहा जाता है।[6]

इस प्रकार संयोग तथा वियोग विषयक पदों की सांगीतिक प्रस्तुति आह्लादकारी प्रतीत होती है। इन कवियों ने ध्रुवपद की विशेष शैली का प्रयोग किया। धम्मार के क्रम में मदनोत्सव तथा फागोत्सव के पदों का विनियोग भी विचारणीय है।[7]

नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी द्वारा प्रकाशित तुलसी ग्रन्थावली की गीतावली में तुलसी के पदों के इन रागों का नामोल्लेख किया गया है -

1. आसावरी	2. जैतश्री	3. विलम्वल
4. केदारा	5. विलावल	6. धनाश्री
7. कान्हरा	8. कल्याण	9. कान्हरौ
10. ललित	11. विभास	12. नट
13. ललित	14. देही	15. सारंग

16. मलार आदि।

प्रसंगानुसार इन रागों का प्रयोग विहित है। वस्तुतः भक्त कवियों ने अपने इष्टदेव की उपासना के क्रम में रागों के प्रयोग के द्वारा चमत्कृति को उत्पन्न किया।[8]

हिन्दी भक्त कवियों ने भारतीय संगीत की श्रेयमूला प्रवृत्ति को सिद्ध किया। नाद तथा ध्वनि-विज्ञान के अनुसार उच्चरित शब्द वायुमण्डल के ईथर के साथ मिलकर, ब्रह्माण्ड व्यापी हो जाते हैं। ध्रुवपद का आलाप वस्तुतः आत्मा-परमात्मा के मिलन की कामना ही है।

भक्तकवियों के सांगीतिक-पदों की निम्नांकित विशेषताएँ हैं -

1. आत्माभिव्यक्ति—इन कवियों ने ईश्वर और जीव के साथ सम्बन्ध स्थापना प्रकट करते हुए, अपनी संपूर्ण ईश्वरीय आसक्तियों का निवेदन किया है।

2. प्रौढ़चिन्तन—इनके द्वारा रचित गीतों में चिन्तन की प्रौढ़ता परिलक्षित होती है। आत्मचिन्तन और ब्रह्मज्ञान के परिप्रेक्ष्य में इनके गीतों की मीमांसा होती है।

3. नादात्मकता—इन भक्त कवियों की रचनाएँ आन्तरिक नादात्मकता से पूर्ण है। इसके कारण उनमें प्रवाह शीलता का सहज ही आगमन दृष्टिगत होता है।

4. द्रवणशीलता—हृदय आदान-प्रदान का वाचक है। भक्त कवियों के द्वारा विचरित गीत, हृदय को द्रवित करते हैं। कहा जाता है कि सुखानन्द नामक कृष्णभक्त कवि ने द्वारकाधीश से प्रार्थना की—

मधुपुर क्यों न चले तुम स्याम।
नंद जसोदा की सुधि मेटी
व्याकुल ब्रज को वाम।

कहा जाता है कि भगवान् का विग्रह ब्रज चलने हेतु तैयार हो गया। बहुत अनुनय-विनय के पश्चात प्रभु की यात्रा रोकी गई।

वस्तुतः गीत और संगीत आत्मा की पुकार है। रवीन्द्रनाथ टैगोर का कथन है—"हे मातः। मैं महाकाव्य लिखना चाहता था, परंतु मेरी कविता तुम्हारे पद के नूपूरों से टकराकर, गीतों के रूपों में प्रकट हो गई।"

इस प्रकार भक्त कवियों की रचनाओं में भारतीय साधना की लयात्मकता तथा रागात्मकता परिलक्षित होती हैं। विश्व के अन्तस्थल से प्रादुर्भूत अनहद वा अनाहत संगीत की प्रतिध्वनि इनके रचित गीतों में कर्णगोचर होती है। कबीर ने जिस अनहद वाणी को रूपायित करने का प्रयत्न किया है, वह परम संगीत का ही स्वरूप है।

सदा आनंद दुख दर्द व्यापै नहीं
होत झनकार नित बजत तूरा।
वेद-कत्तेब का गम्म नाहीं तहाँ
कहै कब्बीर कोइ रमै सूरा।।

इस प्रकार भक्त कवियों की सांगीतिक साधना भूमा के सुख को संयुक्त करती है, जिसकी वेदान्त ने परम प्रशंसा की है। कवियों की वाणी में सरस्वती की विद्यमानता है। भगवती सरस्वती की विपंची का नाम कच्छपी है। जो साधक कछुए की तरह अंगों को वृत्तियों को समेट लेता है। उसी के जीवन में भगवती की वीणा के तार बारंबार झंकृत होते हैं।

Scanned with OKEN Scanner

सारस्वरों का रस-रहस्य भक्तिकालिक साहित्य साधना के द्वारा प्रकट होता है। इस शाश्वत सांगीतिक सुषमा का अवलोकन आवश्यक हो जाता है। वस्तुतः भक्ति के मूल में ही संगीत की विद्यमानता है। स्वर साधना की पराकाष्ठा ईश्वरीय गीतों की प्रस्तुति के द्वारा सिद्ध होती है। महाभाव में संगीत समुद्र की सृष्टि होती है, जिसकी आनन्द वीथियों में रसिकों की चिन्मयी काया आर्द्र हो जाती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि हिन्दी के भक्त कवियों की रचनाधर्मिता सांगीतिक सौष्ठव से पूर्ण है । वाणी -वन्या (सरिता) की प्रवाहशीलता का सौन्दर्य अवलोकनीय है । सन्त तथा भक्त कवियों की सांगीतिक -साधना का प्रतिफलन भी विवेचनीय है । इन कवियों के द्वारा रचित पद आज भी शाश्वत प्रतीत होते हैं जिनमें संगीत की अनुगूँज कर्णगोचर होती है ।

संदर्भ

1. अन्तरिक्ष के अन्तस में कल-कल वहती स्वर की धारा।
   प्राण-प्रसविनी ने धरणी को धन्य किया गुण विस्तारा।।
   स्वर-सौरभ से कण-कण पूरित जगी चेतना खुशियाँ छाई।
   पुलकित प्राण हुए हैं मेरे नाद-ब्रह्म ने ज्योति जगाई।
   मधुमन्दाकिनी, पृष्ठ'18
2. अत्रावो नृत्यतामिव तीव्रोरेणुरजायत। ऋग्वेद 10/72/6
3. पादन्यासैः भुजविधुलिभिः स्मितैः भ्रूविलासैः भज्यन्मध्ये चलकुचपटैः कुण्डलैर्गण्ड लोलैः स्विद्यन्मुख्यकवर रशना ग्रन्थ्योः कृष्णबध्वो गायन्तस्तं तडिव इव ते मेघचक्रेविरेजुः।।
   रासपंचाध्यायी, दशमस्कन्ध, 10/5/8 अध्याय-5, श्लोक-8, पृष्ठ-157
4. यथा-
   गुरु गनपति गिरिजापति गौरि गिरापति।
   सारद सेष सुकवि सुति संत सरल मति।।
   हाथ जोरि करि विनय सबहिं सिर नावौं।
   सिय रघुवीर विवाह जथामति गावौं।
   जानकी मंगल- तुलसीदास, पृ.-1
5. अथातो रसो ब्रह्म
   सैवानन्दस्वरूपो कृष्णः
   तस्यानुकरणान्तरा भक्तिः
   सा त्रिधा
   तेषामन्योन्याश्रयतवम् तस्मात् रासोत्पधते।
   राससूत्राणि-1-5
6. स्त्रीमिश्च पुरुषैश्चैव
   धश्तहस्तैः क्रमस्वितैः
   मण्डले क्रियते नित्यं
   स रासः प्रोच्यते बुधैः
   राग्लोल्लासतन्त्रे-पृ.-29
7. संगीत की धमारशैली में मैथिलगोविन्ददास का यह पद प्रसिद्ध है–
   खेलत फागवृन्दावन स्याम।
   ऋतुपति मन्मथ मनमथ छाँद।
   सुंदरिगन कर मंडलि माँझ।
   रंगिनि प्रेमतरंगिनि साज।
   आगु फागु दय नागरि नयान।
   अवसर नागर चुंबय बयान।
   चकित चन्द्रमुखि सहचरि गमने।
   धाय धयल गिरिधारिक वसने।
   श्रृङ्गारभजनावली, पृष्ठ-57
8. राग विलम्वल में तुलसी की यह रचना है–
   जानकीबर सुंदर माही।
   इंद्रनील-मनि-स्याम सुभग अँग
   अंगमनोजनि बहु छबि छाई।
   अरुनवरन, अंगुली मनोहर, नख दुतिवंत
   कछुक अरून ई।
   कंज दलनि पर मनहुँ भौम दस
   बैठे अचरपसु सदसि बनाई।
   गीतावली, पृ.-272

गीतगोविन्दम् में वर्णित वासंतिक रास का स्वरूप विवेचन

कमलेश कमल*

गीतगोविन्दम् महाकवि जयदेव की समर्थ कृति है, जिसमें राधाकृष्ण विषयक प्रीति-लीला के गायन के द्वारा अप्रतिमानन्द की सृष्टि हुई है। कवि ने हरिस्मरण तथा विलासकला के कुतूहल को संयुक्त करने का प्रयास किया है। कोमलकान्त-पदावली के अधिष्ठाता जयदेव की कविता वनिता अपने पद विन्यास मात्र से सहृदयों के चित्त का अपहरण कर लेती है। कहा गया है–

तया कवितया च किं
तया वनितया च किम्
पद-विन्यास मात्रेण
यया नापश्हते मनः।[1]

महाभाव दर्शन के वर्णन के आलोक में विरचित जयदेव की अष्टपदी वाणी के शृंगार के रूप में प्रकट हुई है। कवि ने वृन्दा-वनस्थली का गायन कर रूपमाधुरी, नाममाधुरी तथा वेणुमाधुरी के वैशिष्ट्य को प्रकट किया है, जो सर्वथा व्याख्येय है।

भक्ति के पंचरसों–मधुर, शान्त, दास्य, सख्य तथा वात्सल्य में मधुररस का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस रस में उत्पन्न प्रीति महाभाव की दशा को प्राप्त है, जिसमें मोदन तथा मादन की चमत्कृति प्रकट होती है। प्रिय मिलन जन्य सुख की तुलना कोटि ब्रह्माण्डों के सुख से असंभव है। प्रिय वियोग जन्य दुःख की तुलना कोटि ब्रह्माण्डों के सर्पो और बिच्छूओं के दंशन से भी बढ़कर है। गीतगोविन्दम् में रस के समूह रास (रसानां समूहो रासः) का मनोज्ञ वर्णन हुआ है।

वेदान्त में रस का विवेचन उपलब्ध है। छान्दोग्य श्रुति के अनुसार प्राणियों के रस के रूप में पृथवी कथित है। पृथ्वी का रस औषधि है तथा इस औषधि का रस अन्न है। पुनः अन्न के रस के रूप में पुरूष तथा पुरूष के रस के रूप में वाक् का उल्लेख हुआ है। वाक् का रस ऋक् तथा ऋक् का रस साम है। इस साम का रस उद्गीथ (प्रणव) है। इस प्रकार इन रसों के समूह को 'रास' कहा जाता है। यह रास शब्द रहस (लीलानन्द) से भी व्युत्पन्न माना जाता है।

श्री कृष्ण विषयक रास का दिव्य अवतरण गोलोक से हुआ है। मन वृन्दावन, तन वृन्दावन तथा वन वृन्दावन में प्रिय-प्रियतम की दिव्य रासलीला के आगमन के द्वारा परमानन्द प्रथित होता है।

श्रीमद्भागवत में शारदीय रस का वर्णन किया गया है–

'शरदोत्फुल्ल मल्लिका'

मधरास के वर्णनक्रम में पदविन्यास तथा आलिंगनादि से तन्मयासक्ति की सृष्टि का वर्णन किया गया है। गोपिकाओं के साथ श्रीकृष्ण की रासलीला के विषय में कहा गया है कि जिस प्रकार कोई बालक अपने प्रतिबिम्ब के साथ क्रीड़ा करता है, उसी प्रकार ब्रज कान्ताएँ प्रियतम के साथ लीलानन्द प्राप्त करती हैं-

"रेमे रमेशे ब्रज सुन्दरीमिर्यथार्भकः स्व प्रतिबिम्ब विभ्रमः"[2]

गीतगोविन्दम् में वासंतिक रास का वर्णन किया गया है। वसन्त शब्द 'वस् प्रकाशे' धातु से व्युत्पन्न है। श्रुति में सृष्टि-यज्ञ के वर्णन के क्रम में वसन्त को आज्य (घृत), ग्रीष्म को इन्धन तथा शरद् को

* शोध प्रज्ञ, पटना विश्वविद्यालय, पटना

Scanned with OKEN Scanner

हवि कहा गया है।[3]

श्रीकृष्ण ने गीता में स्वयं को ऋतुओं में कुसुमाकर वसन्त सिद्ध किया है -

'ऋतुनां कुसुमाकरः।'

वसन्त ऋतु आध्यात्मिक आभा सम्पन्न ऋतु है, जिसका रस-रहस्य ऋषियों तथा कवियों के वाणी-विन्यास में सुरक्षित है।

प्रस्तुत कवि हरि के सरस वसन्त-विहार का वर्णन करते हुए जयदेव ने लिखा है-

ललितलवङ्गलतापरिशीलन कोमलमलय समीरे
मधुकरनिकरकरम्बितकोकिल कूजितकुञ्जकुटीरे।
विहरति हरिरिह सरस वसन्ते
नृत्यति युवतिजनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते।[4]

ललितलवङ्गलतालिंगित निकुञ्जों में मलय पवन संग भ्रमरों तथा कोकिलों की स्वमाधुरी का संयोग अतीव आह्लादकारी प्रतीत हो रहा है। हरि के इस वासन्तिक विहार का वर्णन कवि ने मनोज्ञ शैली में किया है। जयदेव की परम्परा में अभिनव जयदेव विद्यापति ने नवल किशोर के वासंतिक विहार का वर्णन करते हुए लिखा है-

नववृन्दावन नव नव तरुगन
नव नव विकसित फूल।
नवल वसंत नवल मलयानिल
मातल नव अलिकूल।।
बिहरइ बिहरइ नवल किलोर।
कालिंदि पुलिन कुंज वन सोभन,
नव-नव प्रेम विभोर।[5]

विद्यापति की परम्परा में मैथिल गोविन्ददास की काव्य-प्रतिभा की महती प्रशंसा की जाती है। इन्होंने प्रिया-प्रियतम की इस वासंतिक लीला का वर्णन करते हुए लिखा है-

खेलत फाग वृन्दावन स्याम
ऋतुपति मन्मथ मनमथ छाँद।
सुंदरिगन की मंडलि माझ
रंगिनि प्रेमतरंगिनी साज।।[6]

इन कवियों के वर्णन के परिप्रेक्ष्य में ब्रजमण्डल के सूर आदि कवियों की काव्य-साधना का अवलोकन किया जाता है। इनके प्रभाव का अवलोकन अधपर्यन्त-भक्त कवियों की साधना में किया जा सकता है।

जयदेव ने निकुंज-लीला के वर्णन क्रम में रमणानन्द को सृष्ट किया है। निभृतनिकुंजगृह में प्रिय-प्रियतम की उपस्थिति तथा रमण व्यापार का वर्णन कर, कवि ने अपनी वाणी-सरस्वती के साफल्य को प्रकट किया है। श्रीकृष्ण के प्रति समर्पित काम अपनी लौकिकता का परित्याग करता है। श्रीमद्भागवत में कहा गया है—

न मय्यावेशित धियां
कामः कामाय कल्पते।

कृष्ण का कथन है कि मेरे प्रति समर्पित काम, काम नहीं है। जिस प्रकार भुने हुए और ऊँटे हुए धान्यकण क्षेत्र में विकीर्ण करने से अंकुरित नहीं होते, उसी पर काम के लौकिक दंशों के निवारण के पश्चात् दिव्यानन्द भक्त्यानन्द की प्राप्ति होती है।

रामकली राग के रूपक ताल में जयदेव ने चन्दन चर्चित नील कलेवर श्री कृष्ण की नृत्य लीला का वर्णन कर, महती चमत्कृति सृष्ट की है। सुन्दरियों के साथ कृष्ण के हास-विलास की वरेण्यता का वर्णन करते हुए कवि ने अपनी वाचा सरस्वती की सुषमा को इस प्रकार प्रकट किया है-

चन्दनचर्चित नीलकलेवर पीतवसनवनमाली।
केलिचलन्मणिकुण्डलमण्डित गण्डयुगस्मितशाली।।
हरिरिह मुग्धव धूनिकरे विलासिनि विलसति केलिपरे।।
ध्रु.।।1।।

पीनपयोधरभारभरेण हरिं परिरभ्यसरागम्।
गोप-वधूरनुगायति काचिदुदञ्चितपञ्चमरागम्॥
हरिरिह.।।2।।[7]

गोपिकाओं का कथन है कि जब कृष्ण वेणु वादन करते हैं तब मधुरपरिहास जन्य उनकी छटा बारंबार प्रभावित करती है। जिन हरि के गण्डदेश में मणियों के कुण्डलाभूषण शोभित हो रहे हैं तथा जिन पीताम्बरधारी के चरणकमल की सेवा मुनि, मनुज, सुरासुर करते हैं, उनका रासस्थली में स्मरण परमावश्यक प्रतीक होता है-

चन्द्रकचारुमयूरशिखण्डकमण्डलवलयित केशम्।
प्रचुरपुरन्दरधनुरनुपूञ्जितमेदुरमुदिरसुवेशम्॥रासे॥2॥

Scanned with OKEN Scanner

मणिमयमकर मनोहर-कुण्डमण्डितगण्डमुदारम् ।
पीतवसनमनुगतमुनिमनुजसुरासुरवरपरिवारम्॥6॥ [8]

इसी प्रकार वियोगलीला का वर्णन भी जयदेव ने किया है। विरहावस्था में श्रीमती वारम्बार आभूषण में अपने प्रतिबिम्ब को अवलोकन कर, उसे कृष्ण ही जानती है–

मुहुरवलोकित मण्डनलीला ।
मधुरिपुरहमिति भावनशीला ।। [9]

प्रियतम के ध्यान में लीन विरहिणी के विलाप, हास्य, विषाद तथा रुदन का मार्मिक वर्णन गीतगोविन्दम् में उपलब्ध है–

ध्यानलयेनपुरः परिकल्प्य
भवन्तमतीवदुरायम् ।
विलपतिहसति विषीदति रोदिति
चंचति मुंचति तापम् ।।

भुक्ति और मुक्ति की स्पृहा से परे जिस भक्त्यानन्द का अनुसंधान किया जाता है, उसकी प्राप्ति रास रस-रहस्य से ही संभव है। शाण्डिल्य का कथन है कि ज्ञान का भी क्षय होता है–'तदोपक्षयात्' । तत्पश्चात् भक्ति का आगमन होता है। सम्पूर्ण आसक्तियों का विनियोग इस भक्ति में संभव है, जहाँ निर्वाण वा मोक्ष की भी उपेक्षा की जाती है।[9]

गीतगोविन्दम् में वर्णित रास-लीला क्षराक्षरातीत ब्रह्म के लीला स्वरूप का पूर्ण परिचय कराती है। चैतन्य महाप्रभु जयदेव के पदों का श्रवण कर भाव-मूर्च्छित हो जाते हैं। वस्तुतः आत्मा- परमात्मा की क्रीड़ा की चमत्कृति के रूप में गीतगोविन्दम् का पारायण परम विहित प्रतीत होता है। आंतरिक सांगीतिक सुषमा से सम्पन्न इस कृति की जितनी भी प्रशंसा की जाय, वह अत्यल्प है। भाव-जगत् के चारु चमत्कार के आनयन के निमित्त गीतगोविन्दम् का रसानन्द प्राप्त किया जाता है।

इस प्रकार गीतगोविन्दम् में व्यक्त रासलीला शक्ति और शक्तिमान् की क्रीडा चमत्कृति से पूर्ण है। वस्तुतः छालिक्य तथा हलीसक रास नृत्य का स्वरूप इसमें व्यक्त है। भावजगत् का यह दिव्यानन्द सहृदयों की परम संपदा है। आधुनिक काल में डॉ॰ कृष्णचन्द्र झा 'मयङ्क' की रचना "श्यामलगौरमनोहरजोड़ी" में यह रस-रहस्य प्रथित है। पराप्रकर्ष की पराकाष्ठा ही रासलीला का प्रतिपाद्य है।

संदर्भ

1. संस्कृत कवियों की अनोखी–सूझ, पृष्ठ-18
2. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध–10, अ॰-5
3. वसन्तोऽस्यासीज्यं ग्रीष्मइध्मः शरद्हवि, रूद्राष्टाध्यायी-पुरुषसूक्त, पृ॰-17
4. गीतगोविन्दम्, सर्ग-I, प्रबन्ध-3, पद-I
5. विद्यापतिपदावली, 0-79
6. शृंङ्गारभजनावली, पद सं॰-64
7. गीतगोविन्दम्, प्रथम सर्ग, चतुर्थ प्रबंध
8. गीतगोविन्दम्, द्वितीय सर्ग, पंचम प्रबंध
9. कहा गया है कि नन्दनन्दन श्रीकृष्ण के कैशोर लीलामृत सागर में निमग्न साधक के लिए निर्वाण लवण-समुद्र की तरह है–
   नन्दनन्दनश्रीकृष्णलीलामश्त महाम्बुधौ
   निमग्नानां किमस्माकं निर्वाण लवणाम्भसा'' ।
   --श्री राधाकृष्ण रसायने, प्रथमोऽध्याय

Scanned with OKEN Scanner

जानकीवल्लभ शास्त्री के गीतों में संगीत-तत्त्व

डॉ. रंजना कुमारी*

शास्त्री जी के गीतों में संगीत तत्त्वों की अतिशयता है। इसलिए इनके गीत संगीत के अधिक निकट है। वस्तुतः शास्त्री जी ने अपने गीत में संगीत-तत्त्वों को समाविष्ट करके प्राचीन उत्कृष्ट परम्पराओं का उदात्तीकरण किया है। स्वर-साधक और स्वरधर्मी शास्त्री जी का गीत शास्त्रीय संगीत के अनुरूप है। इनके गीतों में जहाँ नादाश्रित माधुर्य, रागात्मक मधुर व कोमल शब्दावली राग-रागिनियों की सम्यक योजना आदि संगीत तत्त्वों की अभिव्यक्ति में सहायक है वहाँ गायन, वादन और नृत्योल्लेख संगीत तत्त्व के अभिव्यंजक हैं। गीत में रस, अलंकार, छन्द, टेक-योजना, आकार की लघुता, प्रतीकात्मकता, लाक्षणिकता प्रवाहमय लयात्मकता आदि भी संगीत तत्त्वों की अभिव्यक्ति में सहायक रहे हैं। इनके गीतों में निम्न सांगीतिक तत्त्व मुख्य रूप से दृष्टिगत होते हैं, जो गीतों को रागात्मक बनाने में सहायक हैं।

संगीत :

शास्त्री जी ने अपने गीतों में संगीत, विराट संगीत जैसे शब्दों का प्रयोग करके जहाँ सांगीतिक वातावरण का निर्माण किया है वहाँ इन शब्दों द्वारा प्रकृति के हर्षोल्लास की अभिव्यंजना भी किया है–

"है विराट संगीत गगन भी मौन हुआ
पख-पखेरु मुखर धरा बालू-माटी।" [1]

"लरज रहा था खग के मन में संगीत
छोटे-से तपने का अनगाया गीत।" [2]

गान :

शास्त्री जी ने भौरों के गुंजन के मनमोहक संगीत वर्णन में गान का साभिप्राय उल्लेख किया है-

"गीत वह अस्तित्व का अलि का सुमन पर गान" [3]

गाऊँ का प्रयोग गीतों में किया है, जिससे कवि की अनुभूति साकार हो गई है -

"मैं गाऊँ तेरा मंत्र समझ
जग मेरी वाणी कहे-कहे" [4]

गान शब्द का प्रयोग इन्होंने संगीत शास्त्र में प्रयुक्त परिभाषा के अनुरूप भी किया है-

"मेरा गान न अब भी शेष" [5]

नाद :

शास्त्री जी के गीतों में आहत और अनाहत दोनों प्रकार के नादों का उल्लेख संकेत रूप में यत्र-तत्र आया है -

"नाद अन्तर का सुने" [6]

"छंद बँधे मन्द मधुर
आँगन दिगङ्गना का गूँजा
घर गूँजा आकाश का।
अंधकार यह प्रतिध्वनि का
तेरे नाद-प्रकाश का।।" [7]

श्रुति :

संगीत के पारिभाषिक शब्द 'श्रुति' का भी प्रयोग इनके गीतों में हुआ है -

* प्रवीण व्याख्याता, डॉ. राममनोहर लोहिया महाविद्यालय, मुजफ्फरपुर

"क्यों उर में लाया तुझे
धुनि सुर में गाया तुझे" [8]

स्वर :

शास्त्री जी ने 'स्वर' का प्रयोग साभिप्राय किया है। निम्न पंक्तियों में प्रकृति चित्रण स्वर से प्रभावशाली बन गया है–

"चीड़-चढ़ा या सरपत लटका
पिक-चातक का स्वर कब भटका?" [9]

इन्होंने बहुत से स्थानों पर सप्त स्वरों का प्रयोग भावाव्यंजना के लिए किया है–

"सप्त द्वीप के सप्त स्वरों के
दीप तुम्हारे लिए जलाए।" [10]

आलाप :

शास्त्री जी ने सांगीतिक अर्थ में ही आलाप का प्रयोग किया है–

"कजली का कल आलाप सुनो
केका कलाप-संलाप सुनो।" [11]

तान :

शास्त्री जी ने तान का प्रयोग भी सांगीतिक वातावरण की सृष्टि के लिए किया है–

"कैसे पिक की तान सुनाऊँ
कैसे मधुर गान मैं गाऊँ?" [12]

"तान तुम्हारी मोटी-तीखी
नव यौवन में गरण-सरीखी।" [13]

"कण्ठ-कण्ठ से कढ़े कजलियाँ
लय-तानों के छोर तुम।।" [14]

सप्तक :

शास्त्रानुसार तीन सप्तक होते हैं–मंद, मध्य और तार। शास्त्री जी ने मुख्यतः तार सप्तक का प्रयोग स्वानुभूति की अभिव्यंजना में किया है -

"गूंजे नभ से तार स्वरों में
करता-सा संघर्ष।" [15]

"और कसो तार तार सप्तक में गाऊँ।" [16]

मींड :

शास्त्री जी ने मींड़ का भी यथास्थान उल्लेख किया है। मींड़ शब्द का उपयोग इन्होंने संगीत-तत्त्व के रूप में ही किया है -

"चढ़-चढ़ जाते तार वीन के
एक मींड़ जो खिंचती।" [17]

आरोह-अवरोह :

सुख-दुख की अभिव्यक्ति के लिए इन्होंने प्रतीक रूप से आरोह-अवरोह का उल्लेख चढ़ते उतरते स्वरों के रूप में किया है–

"राग यह अनुराग का
खेल पानी-आग का
भोग दुख, सुख-त्याग का
कण्ठ से कढ़ता कि चढ़ता सुर; उतरता सुर!" [18]

राग :

शास्त्री जी के गीतों में स्पष्ट रूप से राग-रागिनियों का नामोल्लेख नहीं हुआ है। लेकिन इन्होंने कई जगहों पर स्पष्ट उल्लेख किया है कि वह गीत की रचना राग-रागिनियों के आधार पर ही करते हैं। 'धूपतरी' की भूमिका में इन्होंने लिखा है कि 'निनादय नवीनामये वाणि वीणाम्' से आरंभ कर सन् 1933-34 तक लगभग डेढ़ हजार गीत लिखे होंगे, कठिन से कठिन तालों वाली सभी राग-रागिनियों में। क्रमिक प्रकाशन का कोई साधन रहा होता तो आज मेरा भी एक अलग स्कूल होता-टैगोर, डी.एल.राय और नजरूल सा।[19] इन्होंने स्वयं कहा है कि कवि सम्मेलनों में अपने गीतों को राग-रागिनियों के स्वरावली में ही प्रस्तुत किया है।[20] इनके प्रिय राग-बागेश्री, देश, शंकरा, केदार, कामोद, तिलक कामोद, हमीर, मेघ मियाँ मल्हार, वसंत, भैरवी, सिंध-भैरवी, दीपक, विहाग, भीमपलासी, बसंत-बहार, आदि रहे हैं। राग-रागिनी शब्द इनके गीतों में कहीं भाव-सम्प्रेषण का आधार बना है तो कहीं संगीतमय परिवेश में सहायक है -

"राग नहीं बन पाया,
ऐसा स्वर सम्भार कभी न निहारा?" [21]

"मन के मन के फिरते घिर आई वर्ण

राग आग हो तो प्रति वर्ण हो सुवर्ण।" [22]

"कैसे इतनी कठिन रागिनी कोमल सुर में गाई" [23]

शास्त्री जी के गीतों में मल्हार, भैरव, बहार, बसंत-बहार, श्री, दीपक पंचम, हंस-किंकणी, बिहाग, मेघ-मल्हार, बसंत आदि रागों का नाम आया है -

"जग बसंत-बहार या मल्हार गाए
छलछलाए दृश्य अधर उर मुस्कराए।" [24]

"साँसों का स्वर सँवर लहर
श्री राग बन" [25]

"माता रात भर रहा सिसकता
भैरव राग प्रात में फूटा" [26]

शास्त्री जी ने गीतों में रागों का लक्षणात्मक परिचय भी दिया है -

"प्राण-वीणा राग में क्यों छेड़ दी
यह बहार कि रागिनी अवलंब री।
ऋषभ वर्जित वक्र गति से है चढ़ी
उतरी सातों सुरों से ही कहीं" [27]

यद्यपि उनके गीतों के गाने हेतु रागों का संकेत न के बराबर है तथापि इनके गीतों के भाव, प्रकृति, छंद आदि के अनुरूप इन्हें विविध रागों में निबद्ध कर गाया जा सकता है।

गतः

शास्त्री जी ने 'गत' का उल्लेख जहाँ सांगीतिक वातावरण की सृष्टि में सहायक है वहाँ कवि की अनुभूतियों का अभिव्यंजक भी है।

"एक गत पर विश्व भर का
एक सुर हो गला।" [28]

वाद्ययंत्रों का उल्लेख :

शास्त्री जी के गीतों में चारों प्रकार के वाद्ययंत्रों का उल्लेख हुआ है।

"साज सजता नहीं, बीन बजती नहीं
अंगुलियाँ तार पर यों मचलती रहीं।" [29]

"यह सँवार सितार आया
शारदे झंकार दे सब तार
तेरे द्वार आया।" [30]

"सुर बहार छेड़े बैठी अंधों की टोली
से कतराकर" [31]

उपर्युक्त गीतों में 'तत्वाद्य' वीणा, सितार, सुरबहार का उल्लेख भाव की अभिव्यंजना के लिए भावानुरूप प्रयोग दृष्टिगत है।

शास्त्री जी के गीतों में फूंक से बजने वाले सुषिर वाद्यों का प्रयोग भी दर्शनीय है। यथा–

"किसने बाँसुरी बजाई
जनम-जनम की पहचानी वह तान कहाँ से आई" [32]

"वेणु फूंकता था चरवाहा" [33]

"उन्मद-सी कविता-पद-सी बंपी
स्वर-सी, सरसी-सी" [34]

इनके गीतों में अवनद्ध वाद्यों का भी उल्लेख हुआ है। मेघ गर्जना में मृदंग-ध्वनि की परिकल्पना की है–

"मेघरन्ध में मन्द्र-सान्द्र ध्वनि
द्विम-द्विम-द्विम उन्मद-मृदंग की" [35]

सांगीतिक वातावरण के लिए इनके गीतों में धनवाद्य का भी उल्लेख यथास्थान हुआ है–

"जलतरंग बजा रहा-सा
स्वप्न का संगीत" [36]

इस प्रकार वाद्यों का उल्लेख गीतों में आया है, इससे सांगीतिक वातावरण की सृष्टि ही नहीं होती वरन् विविध भावों की सहज अभिव्यंजना भी होती है। साथ ही गीतों में अन्तर्निहित स्वर, लय आदि संगीत-तत्त्वों का भी बोध होता है।

नृत्योल्लेख :

शास्त्री जी के गीतों में गायन, वादन के साथ नृत्य का भी उल्लेख है, जिसमें संगीत तत्त्वों के साहचर्य में अनुभूतियों और सांगीतिक परिवेश को प्रस्तुत किया गया है। जैसे -

"ताल-ताल पर पथ-प्रिया की नाच-नाच कर" [37]

"नाच रही कस दस-दिशि-वसना" [38]

उपर्युक्त उद्धरणों में नृत्य का प्रयोग सार्थक है।

Scanned with OKEN Scanner

लय :

भारतीय संगीत के स्वर एवं लय प्रधान तत्त्व हैं। स्वरों से जहाँ रागों के निर्माण में सहायता मिलती है, वहीं लय रागों की प्रवाहमयता प्रदान करती है। गीतों के आंतरिक रचना प्रक्रिया में लय की विशिष्ट भूमिका रहती है। जब कवि स्वानुभूतियों को वाणी देने के लिए गुनगुनाता है, तब कल्पनाएँ एक लय में बँधने लगती है और जब भाव लयबद्ध होकर अभिव्यक्त होते हैं तब गीतों की सृष्टि होती है। अतः शास्त्री जी के सम्पूर्ण गीतों में एक स्वतः लयात्मक प्रवाह दृष्टिगोचर होता है। इन्होंने 'लय' शब्द का प्रयोग सांगीतिक वातावरण के लिए ही किया है। यथा-

"हर स्वर-लय तेरा ध्यान
विश्व मुझको अभिमानी कहे, कहे।
मैं गाऊँ तेरे मंत्र समझ
जग मेरी वाणी कहे, कहे।" [39]

"तुने सुना नहीं, तेरी लय में
मेरा कोई सुर टूटा।।" [40]

ताल :

'ताल' शब्द का उपयोग शास्त्री जी ने विविध भावों की अभिव्यंजना हेतु किया है -

"ताल-ताल पर उच्छल-उच्छल" [41]

शास्त्री जी ने तालों का कहीं-कहीं नाम भी उल्लेख किया है, जिससे सांगीतिक वातावरण की सृष्टि और भावाभिव्यक्ति में सहयोग प्राप्त होता है तथा गीत में संगीत-तत्त्वों की अवस्थिति का बोध भी प्राप्त होता है -

"रुद्ध ताल में हंस किंकणी तेरी बजती है।
जय जयकार अकुण्ठ-कण्ठ में सब के सजती है।" [42]

"लय तुम्हारी एकताल, त्रिताल हो" [43]

शास्त्री जी के गीतों के छंद-प्रवाह को देखने पर त्रिताल, एकताल, रूपक, झपताल, चारताल, कहरवा, दादरा आदि तालों में निबद्ध कर गाया जा सकता है।

शास्त्री जी के गीतों में मर्मस्पर्शिता, सजीवता एवं प्रभावोत्पादकता का समावेश पग-पग पर हुआ है, जिससे संगीतात्मकता और लयात्मकता स्पष्ट रूप से दृष्टिगत है। इनके गीतों की अनुभूति और नवीन कल्पना को चमत्कारिक और उत्कर्षक बनाने में संगीत तत्त्वों का विशिष्ट योगदान है। गीतों का रचनात्मक सौन्दर्य, वर्ण-विधान, ध्वनि और स्वर-संगीत, त्रिविध लय, अन्त्यानुप्रास, सांगीतिक शब्दावली, राग, वाद्ययंत्र एवं नृत्योल्लेख आदि की योजना में भी इनके गीतों की संगीतात्मकता का प्रकाशन होता है। अन्तः और बाह्य संगीत का सुंदर संगम इनके गीतों की मूल भावना को हृदयग्राही बना देता है। वस्तुतः संगीत इनके गीतों का सहजात गुण बढ़ाकर व्यक्त हुआ है।

निःसंदेह इनके गीतों में संगीत की सफल योजना हुई है, क्योंकि इन्होंने गीत के लिए संगीत की आवश्यकता पर बल दिया है। इनके गीतों में गायन, वादन और नृत्य की त्रिवेणी संगम स्वानुभूति का अभिव्यंजक, रसानुभूति में सहायक, काव्योत्कर्षक, प्रभावोत्पादक एवं संगीत तत्त्वों और वाद्ययंत्रें के उल्लेख तथा रागों के नामोल्लेख, नृत्य का वर्णन एवं गीतों में अभिव्यंजित संगीत तत्त्वों आदि से इनके गीतों की संगीतात्मकता सिद्ध हो जाती है। वस्तुतः इनके गीतों के गौरव का आधार संगीत ही है तथा गीतों की संगीतात्मकता अनुपमेय है।

संदर्भ

1. शास्त्री, आचार्य जानकीवल्लभ, श्यामा संगीत, पृ.69
2. शास्त्री, आचार्य जानकीवल्लभ, धूपतरी, पृ. 53
3. राधा, पृ. 64
4. श्यामा संगीत, पृ. 01
5. मेघगीत, पृ. 77
6. धूपतरी, पृ. 48
7. श्यामा संगीत, पृ. 73
8. वही, पृ. 118
9. धूपतरी, पृ. 26
10. श्यामा-संगीत, पृ. 45
11. मेघगीत, पृ. 16
12. शिप्रा, पृ. 48
13. धूपतरी, पृ. 26
14. मेघगीत, पृ. 56

Scanned with OKEN Scanner

15. धूपतरी, पृ. 23
16. वही, पृ. 60
17. संगम, पृ. 57
18. यामा-संगीत, पृ. 115
19. धूपतरी की भूमिका से
20. अष्टपदी, पृ. 216-219
21. धूपतरी, पृ. 216
22. श्यामा-संगीत, पृ. 32
23. शिप्रा, पृ. 2
24. धूपतरी, पृ. 11
25. श्यामा-संगीत, पृ. 44
26. वही, पृ. 45
27. वही, पृ. 80
28. शिप्रा, पृ. 64
29. धूपतरी, पृ. 56
30. रूप-अरुप, पृ. 1
31. धूपतरी, पृ. 24
32. शिप्रा, पृ. 1
33. धूपतरी, पृ. 53
34. मेघगीत, पृ. 13
35. वही, पृ. 13
36. राध, पृ. 118
37. संगम, पृ. 19
38. मेघगीत, पृ. 13
39. श्यामा-संगीत, पृ. 02
40. शिप्रा, पृ. 86
41. मेघगीत, पृ. 13
42. श्यामा-संगीत, पृ. 28
43. वही, पृ. 80

Scanned with OKEN Scanner

पूरब अंग की ठुमरी गायकी में महिला कलाकारों का योगदान एवं हुस्नाबाई

कु॰ रागिनी सरना*

सृष्टि से आरंभ से ही नर और नारी एक दूसरे के परिपूरक रहे हैं। नारी पृथ्वी की आदि शक्ति है। अति प्राचीन काल से ही नारी जीवन से जुड़े प्रत्येक क्षेत्र में जीवंतता से जुड़ी हुई है। चाहे वह गृहकला हो या पाककला, युद्ध हो या राजनीति, साहित्य हो या संगीत प्रत्येक क्षेत्र में नारी का महत्वपूर्ण, बहुमुखी योगदान रहा है। भारतीय इतिहास, पूराण, तथा संगीत ग्रन्थों में नारियों के सांगीतिक योगदान की चर्चा तथा प्रशंसा मिलती है। इसीलिए कहा गया है-

"नारी ही संगीत है, जाके हैं दो रूप
एक रूप तो गीत है, दूजा नृत्य स्वरूप।"

कोई भी उत्सव, त्योहार, शुभ अवसर महिला संगीत के बिना सम्पन्न नहीं होता।

इन्द्र सभा की नर्तकियाँ-मेनका, रंभा इत्यादि हों या देवालयों की देवदासियाँ, आम्रपाली, वासवदत्ता जैसी संगीत में दक्ष नगर-वधुएँ हों या फिर राज-दरबारों की कुशल गायिकायें एवं नर्तकियाँ। हर स्थान पर, हर काल में महिलाओं का संगीत के साथ अटूट बंधन और संगीत के संरक्षण संवर्धन में महत्वपूर्ण योगदान रहा है, ऐसा वर्णन मिलता है।

प्राचीन समय से ही गायन, वादन एवं नृत्य करने वाली महिलाओं का एक अलग वर्ग बना है। जो सभी प्रकार के लोगों के मनोरंजन का साधन बना। महिलाओं के ऐसे वर्ग को जिनकी आजीविका का साधन संगीत था नगर-वधू, गणिका, वारांगना, रूप-जीवा आदि सम्बोधनों से अलंकृत किया गया। काल विशेष में इन महिलाओं को समाज में अत्यन्त सम्मानजनक स्थान प्राप्त था। कालान्तर में शनैः-शनैः जब हमारे देश में नवाबी संस्कृति का दौर आया तब संगीत से जुड़ी ऐसी महिलाओं को सम्मान-जनक दृष्टि से नहीं देखा गया और इन्हें तवायफ, वेश्या, बाई जी कहा जाने लगा।

नवाबी संस्कृति के इस दौर में जो एक गीत-विधा बहुत फली फूली वो थी नृत्य से जुड़ी विधा 'ठुमरी'। यद्यपि इससे पूर्व भी ठुमरी शैली के होने के प्रमाण मिलते हैं परन्तु आधुनिक ठुमरी का जो स्वरूप है वह नवाबी संस्कृति की देन कही जा सकती है। ठुमरी गायन शैली के प्रचार, प्रसार, विस्तार, करने में इन तवायफ परम्परा की गायिकाओं का महती योगदान रहा है। अट्ठारहवीं, उन्नीसवीं शताब्दी ठुमरी गायन शैली का स्वर्ण-काल था। इसी समय ठुमरी गायन के दो अंग माने गये- 1. पूरब अंग, 2. पंजाब अंग।

पूरब अंग के प्रमुख क्षेत्रों में लखनऊ, काशी और गया को माना गया। इनमें से काशी में ठुमरी शैली अत्यधिक लोकप्रिय हुई। काशी को सांस्कृतिक नगरी कहा गया है। यहाँ की संगीत परम्परा को निरन्तर गतिशील बनाये रखने में यहाँ की तवायफों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। डा॰ भानुशंकर मेहता जी के अनुसार इन्हें तवायफ न कहकर गायिकायें कहना चाहिए, जिस सम्मान की वह पूर्ण रूप से अधिकारिणी है।[1] यह गायिकाऐं संगीत में निष्णात स्त्रियाँ थीं और ये किसी एक रईस की पालिता (उपपत्नी) होकर रहती थीं। अट्ठारहवीं तथा उन्नीसवीं

* शोध-छात्र (एस. आर. एफ.), संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी,

शताब्दी के मध्य काशी में एक से एक रईस रहा करते थे। ये प्रायः इन गायिकाओं के आवास पर जाकर नृत्य संगीत का आनन्द लेते थे या इस रईसों के घरों में इनके कार्यक्रम कराये जाते थे। पूरब अंग की ठुमरी को बनारसी ठुमरी के नाम से प्रसिद्ध कराने में इन गायिकाओं का अत्यधिक योगदान है। काशी का ही दूसरा नाम बनारस है। काशी की ऐसी प्रसिद्ध महिला कलाकारों के नाम इस प्रकार है-

1. सुग्गन बाई, 2. बड़ी मैना, 3. मंगू बाई, 4. सरस्वती बाई, 5. राजेश्वरी बाई, 6. तोखी, 7. गफूरन, 8. हुस्नाबाई, 9. विद्याधरी बाई, 10. शिवकुँवर बाई, 11. जद्दनबाई, 12. टामीबाई, 13. बड़ी मोतीबाई, 14. काशीबाई, 15. रसूलन बाई, 16. सिद्धेश्वरी देवी, 17. शाहजहाँ बेगम, 18. अनवरी बेगम, 19. दुर्गेशनन्दिनी, 20 कमलेश्वरी बाई, 21. ताराबाई, 22. मलकाबाई, 23. कमला-राधा, 24. छोटी मोती बाई।

इनके अतिरिक्त बीसवीं शताब्दी की शीर्षस्थ गायिकाओं में विदुषी बेगम अख्तर, विदुषी रीता गांगुली, विदुषी नैना देवी, विदुषी गिरिजा देवी, विदुषी शोभा गुर्टू, विदुषी पूर्णिमा चौधरी तथा विदुषी सविता देवी आदि हैं। जो पूरब अंग की ठुमरी गायकी के प्रवाह को निरन्तर गतिमान बनाये हुए हैं।

इन सभी गायिकाओं में से मैं प्रस्तुत लेख के माध्यम से काशी की प्राचीन गायिकाओं में से सुप्रसिद्ध हुस्नाबाई की चर्चा कर रही हूँ।

हुस्नाबाई

काशी की प्राचीन गायिकाओं में विशेष आदर, लोकप्रियता एवं प्रतिष्ठा प्राप्त करने वालो में हुस्नाबाई का नाम शीर्षस्थ रहा है। इनका जन्म सन् 1856-57 के आस-पास हुआ था। ये रमजना वर्ग की एक हिन्दू महिला थीं, किन्तु इनका नाम हुस्ना कैसे पड़ा इस विषय में प्रमाण प्राप्त नहीं हो सके हैं। इनकी सांगीतिक शिक्षा पं॰ मिठाई लाल जी के सानिध्य में हुई।[1] इनके अतिरिक्त अन्य कई गुणियों से इन्होंने गायकी सीखी।

एक अन्य मत से इन्होंने सर्वप्रथम काशी के वरिष्ठ विद्वान श्री ठाकुर प्रसाद मिश्र से शिक्षा प्राप्त की, उनकी मृत्यु के पश्चात काशी के विद्वान सारंगी वादक श्री शंभूनाथ मिश्र से शिक्षा ग्रहण की। श्री ठाकुर प्रसाद मिश्र के उत्तराधिकारी उनके नाती श्री छोटे रामदास जी से हुस्नाबाई ने टप्पा गायकी की उत्कृष्ट शिक्षा प्राप्त की और अपने समय की सुप्रसिद्ध टप्पा गायिका के रूप मे विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त की।[2]

हुस्नाबाई बनारसी शैली की एक अनुपम कलाकार थीं। इनकी आवाज में बहुत कशिश थी, गले में फिरत का काम बेजोड़ था। स्वर-चातुर्य ऐसा था कि श्रोता मंत्रमुग्ध हो जाते थे। इनका गायन अत्यन्त दमदार था। बनारस की ठुमरी, चैती, कजरी, दादरा, टप्पा, ख्याल आदि सभी गायकी पर इनका समान अधिकार था। टप्पा गायन की तो ये विशेषज्ञा मानी जाती थी।

इनका व्यक्तित्व अत्यन्त ही रोबदार था। इनका रंग साँवला, नाक दबी सी ओर ललाट उन्नत था। गायिकाओं के मध्य इन्हें आदर से 'सरकार' कहा जाता था। इनका निवास स्थान काशी में राजा दरवाजा नामक मोहल्ला में था। ये इंग्लीशिया लाइन की श्रीकृष्ण धर्मशाला के बाबू अयोध्या प्रसाद जी की संरक्षिता थीं।

महाराज बनारस के यहाँ विशेषकर होली पर इनका गायन अवश्य होता था। बुढवा-मंगल में दशाश्वमेध घाट पर राय बटुक प्रसाद के बजड़े पर जब इनका गायन होता था तो उसकी टीप रामनगर के किले से टकराकर लौटती हुई सी प्रतीत होती थी।

हुस्नाबाई से भारतेन्दु जी का पत्राचार भी होता था। इनकी लिखावट अत्यन्त सुन्दर और सुडौल थी। भारतेन्दु जी ने इन्हें गीत-गोविन्द के पद स्वर-बद्ध कराये थे। गांधी जी की प्रेरणा से काशी में एक 'तवायफ-संघ' की स्थापना हुई जिसकी अध्यक्ष हुस्नाबाई को चुना गया। इन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण में अपने वर्ग के लोगों को राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लेने और आत्म सुधार करने के लिए प्रोत्साहित किया।

इनकी तहजीब और सलीकेदारी के अनेक किस्से हैं। रईसों के पुत्र इनसे तमीज और सलीकेदारी सीखने जाते थे। एक किस्सा इस प्रकार हैं- 1. एक बार दो जमीदार रईस सीढ़ियों पर जोर-जोर से पैर पटकते हुए इनका गाना सुनने पहुँचे। स्वागत, सत्कार

हुआ परन्तु गाने की फरमाइश यह कहकर, "कि आज तबियत नासाज (ठीक नहीं) है इसलिए मुआफी (माफी) चाहती हूँ" ठुकरा दी। रईस दुखी होकर लौट गये। बाद में लोगों ने जब कारण जानना चाहा तब हुस्नाबाई ने कहा कि, "जिन्हें जीना (सीढ़ी) चढ़ने का सलीका नहीं है, ऐसे गँवारों को गाना क्या सुनाती?"[1]

हुस्नाबाई की कुछ यादगार महफिलें:-

1. एक बार कलकत्ते की प्रसिद्ध गायिका दुलारीबाई से इनका 8 घंटे तक संगीत दंगल हुआ था जो यादगार बन गया।

2. बंगाल की एक रियासत के निर्वासित महाराज बनारस में रहा करते थे। एक बार उनके यहाँ बैठे हुए बात-बात में किसी प्रसंगवश हुस्नाबाई ने गाना प्रारंभ किया, महाराज भी तबला लेकर संगति करने लगे। फिर तो रात भर गायन-वादन चलता ही रहा।

हुस्नाबाई जैसी श्रेष्ठ गायिका थीं वैसी ही उदार-हृदया भी थीं। ये अच्छी शायरी भी करती थी, इनका 'दीवाने-हुस्ना' के नाम से 'दीवान' (पुस्तक) भी छपा है। इनके द्वारा रचित कुछ कलाम के अंश-

"आता है यही जी में कि बीमारे ग़म बनूँ।
वो पूछने ये आयें कि हुस्ना को क्या हुआ?"

एच.एम.वी. कम्पनी ने इनके दो रिकार्ड भी तैयार किये थे।

पूरब अंग की ठुमरी गायकी के संरक्षण एवं संवर्धन में काशी की गायिकाओं की पीढ़ी की अटूट श्रृंखला का महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय योगदान रहा है। इन्हीं गायिकाओं के अथक प्रयास से यह विधा फूली फली तथा आज तक अनवरत रूप से जन मन रंजन करते हुए चली आ रही है।

संदर्भ

1. डॉ. भानुशंकर मेहता, सो काशी सेइअ कस न, पृ.सं.- 94
2. पं. कामेश्वर नाथ मिश्र, काशी की संगीत परंपरा, पृ.सं.- 144
3. डॉ. भानुशंकर मेहता, सो काशी सेइअ कस न, पृ.सं.- 95
4. डॉ. भानुशंकर मेहता, सो काशी सेइअ कस न, पृ.सं.- 96
5. डॉ. भानुशंकर मेहता, सो काशी सेइअ कस न, पृ.सं.- 41

Scanned with OKEN Scanner

।। हस्तेनार्थं प्रदर्शयितुं ।। ।। शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम् ।।
(कालिदास, कुमारसम्भवम्)

श्री प्रेमचन्द होम्बल*

संसार में जीव तत्व पंचमहाभूत से निर्मित शरीर के संपर्क में आकर अनेकों रूप धारण करता है। महाकवि कालिदास ने इसीलिये शरीर की आवश्यकता पर विशेष बल दिया है। उनका कहना है, किसी भी कर्म के निष्पादन के लिये शरीर ही कार्य करता है। शरीर को हम साधन बनाकर जीवन में विभिन्न क्रियाओं का सम्पादन करते हैं। हमारे शरीर द्वारा सम्पादित क्रियाओं का विशिष्टीकरण नाट्य, नृत्त व नृत्य में परिलक्षित होता है।

नाट्यशास्त्र से लेकर संगीत रत्नाकर, भरतार्णव से लेकर अभिनय दर्पण तक सभी ग्रंथों में शरीर की विशिष्ट क्रिया एवं मनस् का व्यापार अभिनय के रूप में वर्णित है। अभिनय के चार भेद बताये गये हैं—आंगिक, वाचिक, आहार्य व सात्विक। जिसमें आहार्य को छोड़कर बाकी सभी का साधन शरीर है। जहाँ सात्विक का संबंध मनस् व्यापार से है, वहीं वाचिक का संबंध वाणी (व्यापक अर्थ में ध्वनि) से है।

आंगिकाभिनय शारीरज, मुखज, चेष्टाकृत का साधन शरीर ही है। जहाँ मुखज का संबंध दृष्टि, नेत्र, नासा, कपोल, चिबुक आदि से है वहीं शारीरज का संबंध शरीर के अंग - प्रत्यंग से है। इसमें भी प्रमुख रूप से हस्तों का विशेष उल्लेख मिलता है। हस्तों के अंगुलियों के प्रयोग से बनने वाले सांकेतिक चिह्न "असंयुत हस्त" एवं "संयुत हस्त" बताये गये हैं। "हस्त" अर्थात् "हाथ"। असंयुत हस्त अर्थात् एक हाथ से बनने वाले हस्त और संयुत हस्त अर्थात् दोनों हाथों के संयोग से बनने वाले हस्त। अभिनय दर्पण में आचार्य नन्दिकेश्वर ने नृत्य कैसे प्रस्तुत किया जाय इसे इस प्रकार समझाया है।

आस्येनालम्बयेद् गीतं हस्तेनार्थं प्रदर्शयेत्।
चक्षुर्भ्यां दर्शयेद् भावं पादाभ्यां तालमाचरेत्।।

मुख से गीत गाते हुए, गीत के अर्थ को विभिन्न हस्तों से बताते हुए, नेत्रों से गीत के भाव को दर्शाते हुए और पैरों से ताल दर्शाते हुए नृत्य करना चाहिये।

हस्त से गीत का अर्थ बताने के लिये विभिन्न ग्रंथों में असंयुत, संयुत हस्तों का वर्णन इस प्रकार है। यहाँ मुख्य रूप से आचार्य भरत कृत "नाट्यशास्त्र", आचार्य शारंगदेव विरचित "संगीत रत्नाकर" व आचार्य नन्दिकेश्वर कृत "अभिनय दर्पण" एवं "भरतार्णव" ग्रंथों के हस्तों का उल्लेख कर रहे हैं।

असंयुत हस्त

नाट्यशास्त्र	*संगीत रत्नाकर*	*अभिनय दर्पण*	*भरतार्णव*
1. पताक	1. पताक	1. पताक	1. पताक
2. त्रिपताक	2. त्रिपताक	2. त्रिपताक	2. त्रिपताक
3. कर्तरीमुख	3. अर्धचन्द्र	3. अर्धपताक	3. अर्धपताक
4. अर्धचन्द्र	4. कर्तरीमुख	4. कर्तरीमुख	4. कर्तरीमुख
5. अराल	5. अराल	5. मयूर	5. मयूर
6. शुकतुण्ड	6. मुष्टि	6. अर्धचन्द्र	6. अर्धचन्द्र
7. मुष्टि	7. शिखर	7. अराल	7. अराल
8. शिखर	8. कपित्थ	8. शुकतुण्ड	8. शुकतुण्ड
9. कपित्थ	9. खटकामुख	9. मुष्टि	9. मुष्टि

* एसोसिएट प्रोफेसर, भरतनाट्यम्, नृत्य विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, का. हि. वि. वि. वाराणसी

Scanned with OKEN Scanner

10. खटकामुख	10. शुकतुण्ड	10. शिखर	10. शिखर
11. सूच्यास्य	11. कोमूल	11. कपित्थ	11. कपित्थ
12. पद्मकोश	12. पद्मकोश	12. कटकामुख	12. खटकामुख
13. सर्पशीर्ष	13. अलपल्लव	13. सूची	13. सूच्यास्य
14. मृगशीर्ष	14. सूचीमुख	14. चन्द्रकला	14. पद्मकोश
15. कांगूल	15. सर्पशिर	15. पद्मकोश	15. बाण
16. अलपद्म	16. चतुर	16. सर्पशिर	16. सर्पशिर
17. चतुर	17. मृगशीर्ष	17. मृगशीर्ष	17. मृगशीर्ष
18. भ्रमर	18. हंसास्य	18. सहमुख	18. सहमुख
19. हंसास्य	19. हंसपक्ष	19. कांगूल	19. कांगूल
20. हंसपक्ष	20. भ्रमर	20. अलपद्म	20. अलपल्लव
21. संदेश	21. मुकुल	21. चतुर	21. चतुर
22. मुकुल	22. ऊर्णनाभ	22. भ्रमर	22. भ्रमर
23. ऊर्णनाभ	23. संदेश	23. हंसास्य	23. हंसास्य
24. ताम्रचूड	24. ताम्रचूड	24. हंसपक्ष	24. हंसपक्ष
		25. संदेश	25. संदंश
		26. मुकुल	26. मुकुल
		27. ताम्रचूड	27. ताम्रचूड
		28. त्रिशूल	
		इनके अतिरिक्त	:
		1. व्याघ्र	
		2. अर्धसूची	
		3. पल्ली	
		4. कटक	
		मतान्तर से वर्णित हैं।	

संयुत हस्त

नाट्यशास्त्र	*संगीत रत्नाकर*	*अभिनयदर्पण*	*भरतार्णव*
1.अंजलि	1.अंजलि	1.अंजलि	1.पुष्पपुट
2.कपोत	2.कपोत	2.कपोत	2.अंजलि
3.कर्कट	3.कर्कट	3.कर्कट	3.चतुरश्र
4.स्वस्तिक	4.स्वस्तिक	4.स्वस्तिक	4.त्रिपताकस्वस्तिक
5.खटकावर्धमान	5.डोल	5.डोल	5.कर्तरीस्वस्तिक
6.उत्संग	6.पुष्पपुट	6.पुष्पपुट	6.डोल
7.निषध	7.उत्संग	7.उत्संग	7.अवहित्थ
8.डोल	8.खटकावर्धमानक	8.शिवलिंग	8.वर्धमान
9.पुष्पपुट	9.गजदन्त	9.कटकावर्धन	9.पताकस्वस्तिक
10.मकर	10.अवहित्थ	10.कर्तरीस्वस्तिक	10.उत्सानवंचित
11.गजदन्त	11.निषध	11.शकट	11.कलश
12.अवहित्थ	12.मकर	12.शंख	12.पक्षवंचित
13.वर्धमान	13.वर्धमान	13.चक्र	13.उत्संग
		14.सम्पुट	14.तिलक
		15.पाश	15.नागबन्ध
		16.कीलक	16.वैष्णव
		17.मत्स्य	
		18.कूर्म	
		19.वराह	
		20.गरुड	
		21.नागबन्ध	
		22.खट्वा	
		23.भेरुण्ड	

उपरोक्त असंयुत, संयुत हस्त के विनियोगों का व्यापक वर्णन इन ग्रंथों में मिलता है। गीत के अर्थ की अभिव्यक्ति के समय नर्तक - नर्तकी असंयुत, संयुत हस्तों का समान (दोनो हाथों में एक ही हस्त), असमान (दोनो हाथों में अलग - अलग हस्त) का उपयोग करते हैं। नृत्य में इन हस्तों से अर्थाभिव्यक्ति और मुख से भावाभिव्यक्ति करते हैं। नृत्य में ये हस्त मात्र सौंदर्यानुभूति कराते हैं। इन हस्तों से हस्ताभिनय की भाषा का विकास हुआ है। इनके अनेकों प्रकार के प्रयोगों से असंख्य हस्तों का नृत्य में प्रयोग होता है।

संदर्भ

1. Natya Sâstra of Bharat Muni, Vol. II, Second Revised Edition, Oriental Institute, Vadodara 2001.
2. Sañgit Ratnâkara os Sârangdeva, Vol IV □ Adyâya 7, The Adyâr Library, 1953.
3. Abhinaya Darpana of Nandikeshvara, Chaukhamba Sanskrit Pratishthan, Delhi 1989.
4. Bharatarnava of Nandikeshvara, The Adyâr Library.

Scanned with OKEN Scanner

महम्मद हुसैन खां साहब तथा इनकी रचनाएं

श्री प्रवीण के. आहिरे*

खां महम्मद हुसैन खां साहब को अन्योन्य श्रेष्ठ संगीतज्ञों की साथ-संगत करने का सौभाग्य प्राप्त था। साथ ही उनके पिता मरहूम कादरबक्ष खां तथा उनके गुरू बशीर खां (गुड़ियानीवाले) और म. अमाल अली खां (भेंडी बझार वाले) इनसे संगीत की शिक्षा उन्हें प्राप्त हुई थी। जयपुर घराने के बीनकार कायदा सीखकर तालीम ली। सारंगी, बीन (विचित्र वीणा) तथा गायन का अभ्यास खां साहब लगातार कई वर्ष तक करते रहे। इस ज्ञान का उपयोग खां साहब ने विद्यार्थियों को तालीम देने में किया। इस प्रकार अध्ययन-अध्यापन करते हुए कई वर्ष बीतने पर जो अनुभव खां साहब को प्राप्त हुआ उसके सार स्वरूप कुछ नई रचनाओं का निर्माण करने की प्रेरणा जागृत हुई। इस प्रेरणा के कारण अन्यान्य रागों में तथा तालों में कुछ छोटे तथा बड़े ख्यालों की रचना खां साहब ने की और उनको स्वर बाध्य किया। इनमें से कुछ रचनाएं निम्न प्रकार है -

राग-शिव-रंजनी, तालः तिलवाड़ा

सांवरा साजनवा सलोना भोला गुनवंता॥अंतरा॥
बल बल जाउं, निस दिन गाउं, गुन तुमरे, मनहर घर आजा।।1।।

चीज का अर्थ : मेरा साजनवा सांवरा, भोला, बहुत ही गुनी है।

मैं उसके जितने भी गुन गाउं, कम है।
मैं उनपे वारी वारी जाउं, उनके गुन निसदिन गाउं।
बहुत दिन हुए। अब मनहर घर आजा।

राग : शिवरंजनी, ताल : तिलवाड़ा

गुरेसाधसारेगुरे	सारेगुप...	गुरेसा-	रेधसागु
सांऽऽऽऽऽऽ	ऽऽऽऽऽऽ	वराऽऽ	साऽजन
रे	सा	धध	गु
वा	ऽ	सलो	ऽ
3		x	
रे	सा	सारेगुप...	प
ना	ऽ	भोऽऽऽऽऽऽ	ला
धपगु-	--रेसा	धगु	रेसा
गुनवंऽ	ऽऽऽ	ऽऽ	तऽ
धपगु-	-रे		
बऽलऽ	बल		
गुप--	--गुपध	धप--	गुपधसां
जाऽऽऽ	ऽऽऽऽ	ऊँऽऽऽ	निसदिन
धसां--	धसांधप	सांधधसारें	सांधप-
गाऽऽऽ	ऽऽऊँऽ	गुनतुऽऽ	मरेऽऽ
धगुं	रे सां	धरें सारेंसांसां	धपगुरेगुरेसां-
मन	ह र	धर आऽऽऽ	ऽऽऽ ऽऽजा

राग : बहार, ताल : द्रुत एकताल

जा जारी जा मालनिया मंदिरवा आज मोरे आए पिया ला हरवा ला ।। अंतरा।।
तरप तरप बीत दिनन मनहर आज दीनो दरस आए वो आज मिलन ला हरवा ला॥1॥

चीज का अर्थ : जारी मालनिया, पिया आज घर आए हैं।

तु जल्दी जाकर हार ला। मैं उनका स्वागत करूं।
बिरह के दिन खत्म हुए हैं। अब खुशी के दिन आए हैं।

* फेकल्टी ऑफ परफॉर्मिंग आर्टस, एम.एस. युनिवर्सिटी, बड़ौदा

Scanned with OKEN Scanner

राग - बहार

				सां नि	सां रे
				जा जा	री ऽ
				3	4
नि	नि प	म प	ग म	म ग	म प
सां -	मा ऽ	ल नि	या ऽ	मं दि	र वा
आ ऽ	0	2	0	3	4
ग	रे सा	सा -	म -	म प	ग म
ग म	ज मो	रे ऽ	आ ऽ	ए पि	या ऽ
आ ऽ	0	2	0	3	4
ग	नि सां	नि सां	नि ध	सां नि	सां रें
नि ध	ह र	वा ऽ	ला ऽ	जा जा	री ऽ
ला ऽ	0	2	0	3	4
ग			।।अंतरा।।		

म म	प म	ग म	नि ध	नि सां	सां सां
त र	प त	र प	बी ऽ	त दि	न न
ग	0	2	0	3	4
गं गं	गं मं	रें सां	नि सां	नि रें सां	नि ध
म न	ह र	आ ज	दी ऽ	नो द	र स
ग	0	2	0	3	4
सां -	नि प	म प	ग म	रे सा	सा सा
आ ऽ	ये ऽ	वो ऽ	आ ऽ	ज मि	ल न
ग	0	2	0	3	4
म -	म प	ग म	नि ध		
ला ऽ	ह र	वा ऽ	ला ऽ		
ग	0	2	0		

रागः मुल्तानी , ताल - झपताल

मेरी अरज सुन लीजे या पीर मइनु दिन अजमेरी।।अंतरा।।
नजरे करम हो आजीज हसन पर धोले गुम्बदपर लगीं हैं नजर मेरी॥1॥

चीज का अर्थ : मेरी अरज सुनिए या पीर मइनुद्दिन अजमेरी।

इस गरीब अरज करनेवाले पर तुम्हारी कृपा दृष्टि हो।

आपके गुम्बद धोले पर मेरी नजर लगी है। आपकी मेहेर-नजर कब होगी?

मं ग	पमं धप -धप	मं ग	रे सा सा	
म ऽ	रीऽ ऽऽ ऽऽअऽ	र ज	सु ऽ न	
x	2	0	3	
नि सा	मंग - मं		पनी - सां - सांगं	
जी ऽ	जे ऽ या		पीऽ ऽ र ऽ मऽ	
x	2		0 3	

रें सां	निसां निधप	मंग-धप	मग ग रे - सा	
इ नु	ऽ हिऽ ऽऽनऽ	अ ज	मे ऽ री	
x	2	0	3	
	।।अंतरा।।			
ग मं	प नि नि	सां सांगं	रें सां -	
न ज़	रे ऽ क	र मऽ	हो ऽ ऽ	
x	2	0	3	
नि -	सां सां गं	रे सां-निसां	नि ध प	
आ ऽ	जी ज ह	स नऽऽऽ	प ऽ र	
ग	2	0	3	
नि सां	मंगं - मंपं	मंगं गं	रें सां सां	
धो ऽ	ले ऽ गुं	ब द	प ऽ र	
x	2	0	3	
नि नि	सां - गं	रें सां	निरेंसानी धपमंग मंगरेसा	
ल गी	हे ऽ न	ज र	मे ऽऽऽ ऽऽऽ ऽऽरीऽ	
x	2	0	3	

राग : माल कंस, ताल : द्रुत एक ताल

मान मान अब तो मान मुरख मनवा नादान।।अंतरा।।
हसन पिया देखी प्रीत जगकी है यही रीत जाये किसी की जान प्राण।।1।।

चीज का अर्थ : प्रीत की रीत ही ऐसी है। मुरख मन तूने सिर्फ प्रीत देखी है,

लेकिन इस जग की रीत नहीं देखी। प्रीत करते किसी की जान जाए तो भी कुछ नहीं।

सा ग	म ग	सा -	सा सा	नि सा	ध धनी
मा ऽ	ऽ न	मा ऽ	न अ	ब तो	मा ऽन
x	0	2	0	3	4
म ग	म ध	म ग	मध निसां	सांसां निध	मग सा
मू ऽ	र ख	म न	वाऽ ऽऽ	नाऽ दाऽ	ऽऽ न
ग	0	2	0	3	4
			।।अंतरा।।		
म ग	म ध	म ग	मध निसां	सां सां	- सां
ह स	न पि	या ऽ	देऽ ऽऽ	खी प्री	ऽ त
ग	0	2	0	3	4
ध -	नि ध	- म	ग ग	म ग	सा सा
ज ऽ	ग की	ऽ हे	य ही	ऽ री	ऽ त
ग	0	2	0	3	4
ध नि	सां गं	मं गं निसां	गंगं	सांनी	धनी धम
गसा					
जा ये	कि सी	की ऽ	जाऽ ऽऽ	नऽ प्राऽ	ऽऽ नऽ
ग	0	2	0	3	4

Scanned with OKEN Scanner

ताल और मानव जीवन

डॉ. पुष्पम नारायण*

संगीत के प्रभावोत्पत्ति में स्वर के अतिरिक्त और कोई दूसरा महत्वपूर्ण प्रभावी तत्व हैं तो वह है ताल। ताल का भी संगीत में उतना ही महत्वपूर्ण स्थान एवं भूमिका है जितना कि स्वरों का। प्रयोगात्मक अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि ताल भी स्वरों के बराबर ही प्रभावी है एवं रस उत्पत्ति में सक्षम है।

यदि हम मानव जीवन में ताल के महत्व पर अध्ययन करें तो पाते हैं कि मनुष्य जीवन एवं ताल का संबंध बहुत ही घनिष्ठ है। चूंकि मनुष्य के हर कार्य में उसकी जीवन चर्या में जैसे सुबह, दोपहर, सायंकाल आदि में भी एक निश्चित काल (समय) है। इसके अतिरिक्त मनुष्य की शारीरिक प्रक्रिया में भी जैसे हृदयगति, श्वसन आदि में भी एक निश्चित लय या काल विद्यमान है जिसके अनियमित हो जाने पर मनुष्य जीवन भी खतरे में पड़ जाता है अर्थात् हम यह कह सकते हैं कि मनुष्य के शरीर एवं मनुष्य जीवन की भी एक निश्चित लय है, निश्चित ताल है। इसी बात की पुष्टि करते हुए ईराम ऑल्टशूलर ने अपने लेख "ए इनसायकाई ट्रीस्टस एम्सपपीरीयन्स विद म्युजिक एज ए थेरेप्युटिक एजेन्ट" में लिखा है कि—मनुष्य प्रथमतः लयबद्ध प्राणी है। उसकी श्वसन, हृदय धड़कन, भाषा, चाल, इत्यादि में लय होती है यथा—Man is essentially a rhythmical being. There is rhythm in respiration heart beats, speech, gait etc.

इसी प्रकार मनुष्य के मस्तिष्क की भी एक लय होती है जो कि अलग-अलग समयों में, शारीरिक क्रियाओं में, रोगों में अलग-अलग होती है। इसी मस्तिष्कीय लय में परिवर्तन होने पर मनुष्य रोगग्रस्त हो जाता है यथा -

The cerebral hemisphereb are in a perpetual state of rhythmical swing day and night. Even the slightest change in the body such as opening or closing of cyclids cause a change in brain rhythm. These brain waves differs in emotional states, fever, intoxication, infection and such condition as epilepsy.

अर्थात् मस्तिष्कीय गोलार्द्ध ताल की निरंतर अवस्था में दिन व रात लहराता रहता है। यहां तक कि शरीर में थोड़ा सा भी परिवर्तन जैसे कि आंखों की पलकों का खोलना अथवा बंद करना भी मस्तिष्कीय लय में परिवर्तन कर देता है। ये मस्तिष्कीय तरंगे भावपूर्ण अवस्थाओं में अलग-अलग होती है जैसे बुखार, उन्माद, संक्रमण तथा कुछ अवस्थाएं जैसे मिरगी।

कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य शरीर के प्रत्येक अवयवों की अपनी एक ताल है, अपनी एक लय है जिसे आज के इस वैज्ञानिक युग में हम विभिन्न यंत्रों से नाप सकते हैं। जैसे हृदय की गति को ई.सी.जी. (Electrocardiogram) मस्तिष्क की लय को ई.ई.जी. (Electroencephalogram) आदि के द्वारा।

यदि हम मनुष्य एवं ताल के संबंध में और गहराई से अध्ययन करें तो हम पाते हैं कि केवल मनुष्य ही नहीं संपूर्ण जगत जैसे दिन, रात, प्रकृति आदि की भी एक ताल है, एक लय है जैसे वर्षाकाल में वर्षा होना, शीतकाल में सर्दी पड़ना। इस संदर्भ में ठीक ही कहा गया है—

तालात्मकं जगत् सर्व तालस्तु व्यापकः स्मृतः।

* विभागाध्यक्ष, स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

Scanned with OKEN Scanner

संगीत में उपयोगी ताल को कुछ इस तरह से परिभाषित किया गया है कि संगीत को परिमाप करने के लिए जो कालक्रम व्यवहार किया जाता है, उसे ताल कहते हैं। अनादि काल के अखंड समय को जैसे हमने पल, घड़ी दिन, मास, वर्ष आदि में विभक्त किया है वैसे ही संगीत को विविध मात्र, छंद, विभाग, आवर्तन, आदि की सहायता से नियमबद्ध किया गया है। इस रीति को ताल कहा जाता है।

इसे हम यूं भी कह सकते हैं कि संगीतज्ञों ने संगीत को नापने के लिए जिस प्रक्रिया का निर्माण किया है उसे ताल कहते हैं एवं इसके विभिन्न भागों का नामाकरण मात्रा, छंद, आवर्तन इस तरह किया है इन सभी से मिलकर ही एक ताल का निर्माण होता है।

ताल संगीत का एक बहुत ही महत्वपूर्ण अंग है क्योंकि बिना ताल के संगीत की न कोई सीमा होगी न ही कोई लंबाई। संगीत में ताल की महत्ता को प्राचीन विद्वानों ने भी पूर्णरूपेण स्वीकार किया है।

ताल के महत्व के विषय में पं. शारंगदेव ने कहा है–

मुख प्रधान देहस्य, नासिका मुख मध्यके।
तालहीनं तथागीतं, नासाहीनं मुखं यथा।।

अर्थात् जैसे शरीर में मुखमंडल और मुखमंडल में नासिका प्रधान है वैसे ही तालहीन संगीत नासिकाहीन मुखमंडल के समान है।

इसी प्रकार संगीत में ताल एवं कलाकार के संबंध एवं ताल की महत्वपूर्णता को वर्णित करते हुए महर्षि भरत ने लिखा है -

जस्तु ताल न जानति नस गाता न वादकः।

अर्थात् जो ताल नहीं जानता वह न तो गायक है और न ही वादक।

इस तरह उपर्युक्त विद्वानों के ताल के महत्व के विषय में लिखे गए मतों का विश्लेषण करने पर इस बात की पुष्टि होती है कि ताल को प्राचीन समय से ही संगीत का एक महत्वपूर्ण हिस्सा माना गया है। एवं इसे स्वर के बराबर का ही महत्व दिया गया है।

यदि हम ताल के विभिन्न पहलूओं पर गौर करें तो हम पाते हैं कि ताल के विभिन्न अंगों जैसे मात्रा, छंद, विभाग आदि के अतिरिक्त उसका जो विशेष एवं महत्वपूर्ण अंग है वह है उसकी "लय या गति"।

संगीत के ज्ञाताओं ने लय को परिभाषित करते हुए कहा है कि ताल में एक क्रिया और दूसरी क्रिया के बीच विश्रांति का काल जो पहली क्रिया का विस्तार है, लय कहलाता है।

इसे हम इस तरह से भी कह सकते हैं–मात्राओं के समयकाल अथवा उनके व्यवधानों को लय कहा जाता है अथवा दो मात्राओं या दो तालधातों के मध्यवर्ती समयकाल की गति को लय कहते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त दोनों परिभाषाओं के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि किसी भी ताल वाद्य पर बजनेवाला ताल एवं स्वर वाद्यों पर बजने वाले स्वरों की गति को लय कहते हैं। चूंकि संगीत को ताल द्वारा ही नापा जाता है एवं यह ताल वाद्यों मृदंग, तबला आदि पर भी बनाये जाते हैं अतः लय को परिभाषित करते समय उसे ताल के रूप में ही दर्शाया जाता है अन्यथा स्वरों की गति या दो स्वरों के बीच के समयावधि को भी लय कह सकते है।

शास्त्रों ने लय को मुख्यतः तीन भागों में बांटा है–

1. **विलंबित लय या धीमी लय**–इसके अंतर्गत लय की गति धीमी होती है।

2. **मध्य लय या साधारण लय**–इसके अंतर्गत लय की गति साधारण या मध्यम होती है।

3. **द्रुत गति या जल्द गति**–इसके अंतर्गत लय की गति तेज या जल्द होती है।

शास्त्रों में लय के इन प्रकारों का कोई विशेष मानदंड नहीं दिया गया है अर्थात् अलग-अलग मनुष्य विशेष के लिए इन लयकारियों की गति भी अलग-अलग हो सकती है इनकी गति के लिए कोई विशेष नियम नहीं है। लेकिन इनमें यह संबंध अवश्य होता है कि मध्य लय की गति बिलंबित की दुगुनी एवं द्रुत लय मध्य लय की दुगुनी होती है।

संगीत में ताल एवं लय की महत्ता को हमारे प्राचीन संगीतज्ञों ने भी स्वीकारा है। उनके अनुसार स्वर एवं ताल दोनों ही के समन्वय से संगीत में रोचकता आती है एवं रस निर्मिती होती है।

कई स्थानों पर ताल की उपयोगिता को अधिक महत्वपूर्ण माना गया है यथा- स्वर और लय संगीत

Scanned with OKEN Scanner

विधा के दो पैर हैं और एक के भी अभाव में वह लंगड़ी रहती है। इस कथन पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि वास्तव में संगीत के अभिन्न अंग ताल की उत्पति के कारण ही राग की रंजकता बढ़ती है।

हमें इस तरह के कई उदाहरण मिलते हैं जिसमें संगीत को अधिक रसवान और प्रभावी बनाने के लिए ताल का या लय का योगदान स्वरों की अपेक्षा अधिक माना गया है। इसलिए संगीतकारों एवं साहित्यकारों ने ताल एवं छंद को समान बताते हुए वर्णित किया है कि संगीत में ताल एवं साहित्य में छंदों की विविधता के द्वारा विभिन्न रसों की सृष्टि की जा सकती है। दोनों में एक मुख्य समानता यह है कि दोनों ही नापने का कार्य ही करते हैं। जैसे ताल संगीत को तो छंद साहित्य को यानि पदों को नापता है।

ताल को स्वरों से अधिक महत्वपूर्ण बताते हुए लिखा है कि ताल से अनुशासित होकर ही संगीत विभिन्न भावों एवं रसों को उत्पन्न कर पाता है। ताल की गतियां स्वरों की सहायता के बिना भी रसनिष्पत्ति में सक्षम होती है।

चूंकि ताल एवं लय के बिना संगीत में न तो कोई अनुशासन होता है एवं न ही उसका स्थायित्व। केवल स्वरों का लगाव रस तो उत्पत्ति कर सकता है जैसे आलाप आदि। लेकिन ताल के साथ जोड़कर उसकी यह क्षमता काफी अधिक हो जाती है।

स्वरों में रस पहले से विद्यमान है। उसे प्रदर्शित करने के लिए लय का प्रयोग किया जाता है। लय का संबंध ताल से है यानि स्वरों के द्वारा रस उत्पत्ति हेतु ताल की सहायता ली जाती है। इस बात की पुष्टि करते हुए पं. जगदीश नारायण पाठक जी ने लिखा है कि ताल का संबंध काल से होता है। काल का संबंध मात्राओं से होता है। मात्राएं किसी न किसी लय में आवद्ध रहती है। लय से ध्वनि वैचित्र्य उत्पन्न होता है जैसे सा, रे का उच्चारण करने से जो ध्वनि उत्पन्न होती है वह साड, रेड के उच्चारण से परिवर्तित हो जाती है।

इस प्रकार स्वरों को अलग-अलग लयों में प्रयुक्त करने पर उससे अलग-अलग रस उत्पत्ति हो सकती है एवं स्वरों द्वारा रस उत्पत्ति लय द्वारा उत्पन्न ध्वनि वैचित्र्य से ही उत्पन्न होती है। स्वर से रस उत्पति हेतु सुनने वाले मनुष्य को संगीत का ज्ञान या समझ होना आवश्यक होता है जैसे कि शास्त्रीय संगीत का बिल्कुल ज्ञान न हो उस को उसके द्वारा रस उत्पन्न करना एक बहुत ही कठिन कार्य है। इसी प्रकार विभिन्न प्रदेशों एवं देशों के संगीत की भी अपनी-अपनी सीमाएं हैं। इसकी अपेक्षा ताल उन लोगों पर भी अपना प्रभाव या रस निष्पति कर देता है जो कि संगीत को कम समझते हैं या फिर न समझते हैं। इस बात की पुष्टि करते हुए चार्ल्स डब्ल्यू ह्यूज ने कहा है -

It may further be assumed that the rhythemic factor is more important in porportion as the listner is in experienced or lacking in musical capacity.

अर्थात् यह भी माना जा रहा है कि ताल तत्व आधुनिक रूप से अधिक महत्वपूर्ण है जबकि श्रोता कम अनुभवी या फिर कम सांगीतिक क्षमतायुक्त हों।

ताल के प्रभाव को जानने के लिए यदि जीवन में ताल की उपयोगिता को देखें तो चार्ल्स डब्ल्यू ह्यूज का कथन इसे स्पष्ट करता है -

The specifically therapeutic effect of rhythum will be better understored of we first outline briefly the ways in which rhythum has been utilised as an aid in practical life situation.

अर्थात् ताल का विशिष्ट चिकित्सकीय प्रभाव अच्छी तरह से तभी समझ में आ सकेगा जबकि प्रथमतः हम उन उपकरणों को संक्षेप में रेखांकित करें जिसके अंतर्गत ताल का उपयोग जैविक स्थिति में प्रायोगिक रूप में एक सहायक के रूप में उपयुक्त होती है।

यदि हम जीवन में ताल की उपयोगिता का गहराई से अध्ययन करें तो हमें इसके कई उदाहरण देखने को मिल सकते हैं जैसे कि थपकियों से शिशु को नींद आ जाती है। इसी प्रकार इन्हीं थपकियों से घोड़ों की थकान मिटाते हुए हम देखते हैं। यही थपकियां कुत्तों में साहस जगा देती है। थपकियां एवं सहलाने की प्रक्रिया एवं उसका अंतराल इतना

Scanned with OKEN Scanner

प्रभावी एवं सुखकर होता है कि यह मनुष्य के अतिरिक्त पशु आदि अन्य प्राणियों को भी मानसिक शांति प्रदान कर एक सुखकर निद्रा प्रदान करता है।

इसी तरह हमें एक अन्य उदाहरण इस तरह देखने को मिलता है कि एक सैनिक बैंड सैनिक की थकान कुछ समय के लिए मिटाकर उनमें नया जोश पैदा कर देता है तथा उन्हें इस नये जोश के संग कूच करने की अनुमति देता है, यथा-

In a similar fashion it has been observed that a marching band causes soldiers to forget their fatigue at least for a time and permit them to march with renewed vigaour.

संगीत निहित ताल के इसी प्रभाव को ध्यान में रखते हुए ही सेना में बैंड की उपस्थिति एवं परेड के समय उसका उपयोग किया जाता है। इस तरह हमारी दिनचर्या में और भी कई उदाहरण देखने को मिलते हैं। जिसमें किसी विशेष रसयुक्त प्रभाव उत्पन्न करने के लिए ताल का उपयोग किया जाता है।

प्राचीन काल में रंगमंच पर जब कोई नाटक खेला जाता था तो अकेला तबला बादक दृश्य और अभिनेता के अनुसार दायें-बायें तबले पर आघात द्वारा प्रत्येक भाव और रस को सफलता के साथ प्रदर्शित कर दिया करता था। नायक-नायिका की अवस्था, आंधी तूफान और आग लगाने का प्रभाव, विदूषक की क्रियाएं, युद्ध का कोलाहल, राजा, चोर, देव, दानवों का प्रादुर्भाव, हास्य, रूदन सभी कुछ तबला वादन की कुशलता से सजीव कर दिये जाते थे।

ताल का प्रभाव प्राणियों पर बड़ी आसानी से एवं कम समय में होता है। इसका प्रभाव उन प्राणियों पर भी होता है जो कि संगीत को कम समझते हैं या फिर नहीं समझते हैं। इसके अतिरिक्त ताल द्वारा किसी संगीत विशेष को पहचानना भी आसान होता है एवं विद्वानों के मतानुसार ध्यान लगाने में संगीत में ताल का महत्व कहीं अधिक होता है। इसी संदर्भ में चार्ल्स डब्ल्यू ह्यूज के अनुसार -

State of self forgetful musical satisfaction may be produced largely by the movement and rhythm of music. Psychological experiments have demonstrated that rhythum is the important factor in the recognistion of music.

अर्थात् सांगीतिक अनुभूति में स्वयं को भूलने की अवस्था संगीत के ताल एवं लय के कारण बड़े पैमाने पर होती है। मानसिक प्रयोग के द्वारा ज्ञात हुआ है कि ताल संगीत की पहचान हेतु एक महत्वपूर्ण तत्व है। इसी तालजन्य शक्ति को जांचने के लिए आजकल कई प्रयोग किये जा रहे हैं। संसार में घटित कई घटनाओं को भी विश्लेषित करने पर पाया गया कि यह ताल का ही प्रभाव था। जैसे नेपोलियन के समय में एक ऐसी घटना हुई। उसकी सेना उस पर होकर कदम से कदम मिलाकर चल रही थी कि पदचाप के क्रमबद्ध हो जाने से पुल हिला और नीचे ढह गया। पूरी टुकड़ी नदी में बह गयी। कारण तलाशने पर यह क्रमबद्ध पदचाप का प्रभाव निकला। तब से पुल पर चलना हो तो सेना को तितर-बितर करने का नियम बना जिसका अभी भी पालन किया जाता है।

अमेरिका की ओहियो नदी का पुल भी इसी प्रकार 1854 में बैठा था। निभाग्रा जल प्रपात का झूला मजबूत पुल भी इसी प्रकार से दो बार धाराशायी हुआ। एक बार सन् 1864 में और दूसरी बार 1889 में। कारण तलाशने पर न निर्माण सामग्री में कोई खराबी पायी गयी और न बनानेवाले की विधि व्यवस्था में। गहरी खोजबीन करने पर यह निष्कर्ष निकला कि धरती के भीतर उत्पन्न हुए भूकंप की नगण्य सी हलचल ने तालबद्ध ध्वनि तरंगें उत्पन्न की और इसके प्रभाव से यह अनर्थ हुआ।

इसी प्रकार 7 नवंबर, 1940 को वांशिगटन स्थित टेकोसा नदी पर स्थित पुल का एवं 1852 एवं 1872 में फ्रांस का लाहोक बनार्ड पुल का भी गिरना भी ऐसी घटना है जिसका विश्लेषण करने पर पाया गया कि यह तालजन्य शक्ति का ही परिणाम था।

इस ताल प्रभाव को देखने के लिए वैज्ञानिकों ने न्यूयार्क की वेस्टींग हाउस प्रयोगशाला में कुछ समय पूर्व एक प्रयोग किया। प्रयोगशाला में आधा टन भारी, 8 फुट लंबा लोहे का गार्डर बीचोंबीच एक जंजीर में बांधकर छत में लटकाया गया। उसके

Scanned with OKEN Scanner

पास ही आधा अंस भारी बोतलें बंद करने के काम आनेवाला कार्क एक धागे से बांधकर लटकाया गया। साथ ही यह व्यवस्था की गयी कि कार्क एक नियत क्रम से लोहे के गर्डर से टकराता रहा। 15 मिनट बाद ही गर्डर में कंपकंपी उठती पायी गयी और एक घंटे बाद वह घड़ी के पेंडुलम की तरह अपने आप आगे पीछे हिलने लगा। इस प्रक्रिया को यदि कुछ समय तक और जारी रखा जाता तो लोहे का भारी गर्डर तो गिरता ही उसके कंपन से छत भी गिर सकती थी।

उपर्युक्त उदाहरणों एवं प्रयोगों से प्राप्त परिणामों से इस बात की पुष्टि होती है कि क्रमबद्ध तरीके से या तालबद्ध तरीके से किया गया कार्य काफी प्रभावपूर्ण होता है। एवं जहां तक संगीत के प्रभाव में ताल के महत्व का प्रश्न है। ताल स्वर के साथ मिलकर या फिर अकेले ही रस उत्पति में सक्षम है।

समस्त विवेचन एवं विश्लेषण यह सिद्ध करते हैं कि रस उत्पत्ति ही संगीत के प्रभावी एवं अप्रभावी होने का मुख्य आधार है अतः संगीत से प्रभावी होने के लिए उसका रसयुक्त होना अति आवश्यक है। इस प्रकार ये रस जीवन में संगीत का जीवंत अनुभूति कराने में समर्थ है।

संदर्भ

1. Music & Medicine संकलनकर्ता–डॉ. रोथी एच. शुलियन एवं मेक्स शओन लेख–Psychatrist experience with Music age a therapeutic, Ira M. Altsular
2. शर्मा अमलदास, संगीतायन
3. बसंत, संगीत विशारद, 19वीं संस्करण
4. पाठक जगदीश नारायण , संगीत निबंधमाला
5. "अखंड ज्योति" मासिक पत्रिका मार्च 96
6. शर्मा आचार्य श्रीराम "शब्द ब्रह्म नाद ब्रह्म"

Scanned with OKEN Scanner

लोकनृत्य और चिकित्सा

अमृता कर्मकार

प्राणी-मात्र के हृदय में सोए भाव जब जाग्रत होते हैं तो वे वाणी या चेष्टाओं के द्वारा अभिव्यक्ति पाते हैं और जिस माध्यम से वे अभिव्यक्त होते हैं, उस माध्यम को ही कला की संज्ञा दी गई है। गाना, बजाना और नाचना प्रफुल्लित मन की स्वाभाविक क्रियाएँ हैं जो पशु-पक्षी, कीट-पतंग, देव-दानव और मनुष्य सभी में पाई जाती हैं। इन स्वाभाविक क्रियाओं को जब कोई व्यवस्था दी जाती है तो उसे कला कहते हैं। प्रकृति भी इस व्यवस्था का पालन करती है, जैसे खिले हुए पुष्पों का एक निश्चित आकार, निश्चित रंग और निश्चित गंध होता है। इन सबके पीछे स्पंदन की एक ऐसी शक्ति कार्य करती है जो अपनी लय और स्वरुप में कोई व्यतिक्रम नहीं चाहती। मन में उठी सुख और दुःख की अनुभूतियाँ जब गीत बनकर गूँजने लगती है तो उन्हीं को विभिन्न नामों से पुकार कर किसी राग का नाम दे दिया जाता है। ठीक इसी प्रकार जब क्रियाओं द्वारा हृदय की अनुभूतियाँ व्यक्त होती हैं तो उन्हें विविध मुद्राओं और अंगहारों का नाम दे दिया जाता है। गीत और नृत्य की सृष्टि इसी प्रकार हुई है।

भारतीय नृत्यकला अत्यंत पुरानी कला है, जिसका विस्तार नाट्य-वेद में हुआ है। उसी के आधार पर भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में नृत्यकला को विस्तार से समझाया है। भारत के अलग-अलग प्रांतों में शास्त्रीय आधार पर जिन तत्वों को ग्रहण किया गया, उनमें शास्त्रीयता के साथ-साथ लोक तत्वों के मिश्रण से कुछ नई शैलियों का जन्म हुआ है। जैसे- भरतनाट्य, ओडिसी, कथकलि, मणिपुरी और कथक आदि। लोकनृत्य शास्त्रीय राग-रागनियों की ऋजुता और क्लिष्टता से दूर समाज के प्रति समर्पित होता है। यह व्यक्तिगत एवं निजता के दंभ से बचता हुआ अपनी सहजता, सरलता और निश्छलता के साथ अपने हर्ष में सबको सम्मिलित करता है। यह प्रकृति के वात्सल्यपूर्ण अंचल में अपने साथ सबको बुला लेता है।

प्राचीन काल से मानव इतिहास में संगीत और नृत्य का संबंध शारीरिक रोगों के उपचार के लिए उल्लिखित है। चिकित्सा की अनेकानेक पद्धतियाँ हैं और उनके अपने आधार हैं। जैसे आयुर्वेद शरीर में वात, पित्त, कफ का असंतुलन मानता है। यूनानी में भावी प्रकृति की अस्त-व्यस्तता को रोगों का कारण मानता है। ऐलोपैथी में जीवाणु विषाणुओं के आक्रमण जीवनी शक्ति के शिथिल होने तथा रासायनिक पदार्थों की न्यूनधिकता को निमित्त कारण बताया गया है। होमियोपैथी में उत्पन्न हुए विषों को लक्षणों के आधार पर विष उपचार में मानने का विधान है। वायोकेमिक में बारह प्रमुख लक्षणों की घट-बढ़ को निमित्त माना गया है, और उन्हें औषधि के रुप में देकर क्षतिपूर्ति करने की परम्परा रही है। क्रोमोपैथी में सूर्य किरणों के सात रंगों में से किसी रंग की कमी बेशी को रंगीन काँचों द्वारा उन किरणों का शरीर में प्रवेश कराकर पूरा किया जाता है। अनेक बिमारियाँ शास्त्रीय संगीत के द्वारा भी ठीक किया जा सकता है। जैसे—राग भैरवी अस्थमा, ठंढ़ और अनिद्रा के इलाज में मदद करता है। राग मल्हार, राग सोरठ, राग जैजैवन्ती मानसिक तनाव से छुटकारा में उपयोग किया जाता है। इसके अलावा राग सारंग सिर दर्द, राग दरबारी दिल की हालत में सुधार, राग पंचम पेट विकार एवं राग शिवरंजनी कम स्मृति को बढ़ाने में उपयोग किया जाता है। शरीर को उत्साहित

Scanned with OKEN Scanner

करने, मन ताजा रखने, माइग्रेन कम करने यहाँ तक की अनिद्रा जैसी मानसिक रोगों के उपचार में संगीत थेरेपी प्रभावी है। संगीत चिकित्सा से यह मान कर चला जाता है कि स्नायु संस्थान में विद्युत प्रवाह की न्यूनतम या शिथिलता उत्पन्न होने से शारीरिक और मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं। अस्तु नाड़ी संस्थान को तरंगित और उत्तेजित करना संभव हो तो शिथिलता जन्य विकृतियों से छुटकारा पाया जा सकता है और अस्त व्यस्तताओं को दूर किया जा सकता है। इसका प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही प्रकार का लाभ रोगी को मिलता है, और वह इस सहज सुलभ सस्ती और मनोरंजक पद्धति के सहारे अपेक्षाकृत अधिक जल्दी अच्छे होते हैं, अतएव उसका लोकप्रिय होना स्वाभाविक है।

प्राचीनकाल में मानव इतिहास में संगीत और नृत्य का संबंध शारीरिक रोगों के उपचार के लिए उल्लिखित है। आदि मानव नृत्य के द्वारा भाव व्यक्त करता था जैसे धर्मिक आस्था, भय और अव्यक्त के प्रति आश्चर्य की भावना। किसी व्यकित समूह अथवा अनेक समूहों के लिए नृत्य की शक्ति, प्रभाव और अनेक उपयोगों के बारे में ऐतिहासिक और नृवैज्ञानिक आलेखों में प्रचुर प्रमाण प्राप्त होता हैं इसलिए आज नृत्य में चिकित्सा करने की शक्ति का भी आरोपण होने लगा है। नृत्य के द्वारा ही अनजाने में ही Physiotherapy और Psychotherapy मिल जाती है।

स्वास्थ्य को तीन भागों में बाँटा गया है -

1. शारीरिक स्वास्थ्य (Physical Health)
2. मानसिक स्वास्थ्य (Mental Health)
3. सामाजिक स्वास्थ्य (Social health)

लोकनर्तक द्वारा उपर्युक्त तीनों प्रकार के तत्वों का समावेश नृत्य में स्वतः हो जाता है। लोकनृत्य में केवल मनोरंजन ही नहीं वरन स्वस्थ समाज के निर्माण की सारी प्रक्रिया अंतर्हित हैं।

1. शारीरिक स्वास्थ्य (Physical Health)— लोकनृत्य शरीर की अनेक क्रियाओं से मिलकर बने हैं। यथा—कूदना, झूकना, उछलना, चक्कर लगाना, दौड़ना, बैठना, हाथों को घुमाना आदि। यहि क्रियाएं जब नृत्य संरचना में कई बार दोहराई जाती है तो शरीर की विभिन्न मांसपेशियों को बल मिलता है। गीत तथा लय के साथ इन नृत्यों में थकान का अनुभव नहीं होता, क्योंकि नृत्य के समय रक्त का संचार प्रचुर मात्रा में होता है तथा ऑक्सीजन की अधिक मात्रा में सांस द्वारा ली जाती है। नृत्य संरचना में भाग लेनेवाले को लय के इस प्रवाह में आनंद की प्राप्ति होती है। Biology की दृष्टि से इस प्रकार की Neuromuscular क्रियाएँ स्वाभाविक होती हैं और यही शारीरिक क्रियाएँ नृत्याकार की भावनाओं की सहज अभिव्यक्ति बन जाती है।

भारत में लोकनृत्यों की बहुत ही सुदृढ़ परंपरा आज भी विद्यमान है। इन नृत्यों में उपचार की अद्भुत क्षमता भी है। शरीर में होनेवाली विभिन्न बिमारियों के लिए जैसे मांसपेशियों व जोड़ों के दर्द में जो Physiotherapy दी जाती है उसके तत्व हमें लोकनृत्य में स्पष्ट मिलते हैं। Physiotherapy में क्षीण होती मांसपेशियाँ अथवा जोड़ों की बिमारी के उपचार में अंग संचालन को कई बार दोहराना आवश्यक होता है। अतः इन नृत्यों में धीमी लय और धीमी गति उसी प्रकार का प्रभाव डालती है जैसे जमे हुए जोड़ों अथवा दुर्बल होती मांसपेशियों के लिए Physiotherapy दी जाती है। शरीर के जोड़ों और मांसपेशियों को स्वस्थ और लचीला बनाने के लिए लोकनृत्य महत्वपूर्ण Physiological प्रक्रिया है।

2. मानसिक स्वास्थ्य (Mental Health)— देश के कई इलाकों में दिनभर के थके श्रमिक ताल वाद्य पर थाप पड़ते ही घर से बाहर निकलकर समूह नृत्य में तल्लीन हो जाते हैं। लय से ओत-प्रोत जीवन पद्धति के कारण ये गहरी नींद सोते हैं। इन्हें अनिद्रा जैसे रोग नहीं होते। लोकनृत्य और लोकगीत उनको चिंताओं से मुक्त कर मानसिक संतोष देते हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक इलाज है। महाकवि टैनिसन ने कहा है—यदि लोकनृत्य और लोकगीत लुप्त हो जाए तो समाज में पागलों की संख्या अधिक हो जाएगी। क्योंकि लोकनृत्य और लोकगीत व्यक्ति को विषम परिस्थितियों का सामना करने की प्रेरणा

Scanned with OKEN Scanner

देता है। मानव शरीर का सबसे महत्वपूर्ण भाग मस्तिष्क है। मानव शरीर की समस्त क्रियाएँ मस्तिष्क द्वारा संचालित होती हैं, इसलिए मस्तिष्क का स्वस्थ रहना अत्यधिक आवश्यक है। लोकनृत्य थके हुए मस्तिष्क को अहलाद प्रदान करके ऐसे प्रभाव उत्पन्न करते हैं जो उत्तेजक होते हुए भी अपनी सृजनात्मक प्रभाव पैदा करते हैं। इसी संदर्भ में पं. भातखंडे जी के अनुसार लोकनृत्यों को उचित रीति से सीखने पर उसका सुन्दर परिणाम मन और शरीर दोनों पर पड़ता है। चिन्ता और थकान से मृतप्राय स्नायुओं को पुनर्जीवित करने में लोकनृत्य प्राणदायिनी औषधि का कार्य करते हैं।

3. सामाजिक स्वास्थ्य (Social Health)— सामूहिक रुप से गाने-बजाने और नाचने का महत्व प्रायः सभी देशों ने माना है। इस मिली-जुली सामुदायिक क्रियाओं से एक दूसरे का मन मिलता है और भावात्मक अभिव्यक्ति प्रखर होती है। हमारे देश में विवाह, पर्व, उत्सव आदि में लोकनृत्य और लोकगीत का प्रचलन है। अतः यह नृत्य जबतक समूह में होंगे तबतक समाप्त नहीं होंगे। इन नृत्यों के कारण ही समाज संगठित रहेगा। समूह नृत्य ऐसे समाज की सृष्टि करता है जिसमें विचार-साम्य और क्रिया की एकरुपता है। इसी से मानव में मूकभाषा का भी संप्रेषण होता है। अच्छी और बुरी अनुभूतियों का भावात्मक विकास होता है। नृत्य के द्वारा उसे अपने और समाज के वातावरण से एक होने की क्षमता मिलती है।

लोकनृत्यों में सामूहिकता की प्रक्रिया इस प्रकार होती है जैसे—नृत्य में हाथ से ताली बजाना, एक दूसरे का हाथ पकड़ना, एक दूसरे के कंधें पर हाथ रखना आदि। इससे अनुशासन, आत्मीयता और एकात्मकता पैदा होती है। उसी तरह समूह नृत्य के द्वारा जब आत्मीयता और अनुशासन के तत्व मजबूत होते हैं तब मानव एक दूसरे के लिए त्याग करने को तत्पर हो जाता है, वह दूसरों के सुख-दुःख की संवेदनाओं में भी भागी होता है और ऐसा समूह ही सुगठित समाज बनाता है।

लोकनृत्य का औषधि के रुप में प्रभाव पड़ता है। इससे शारीरिक विकार दूर होते हैं। वर्तमान मनोवैज्ञानिक भी यह मानते हैं कि संगीत के धुनों से मानसिक रोगों का उपचार हो जाता है। लोकनृत्य के विविध संबंध स्थापित हैं। प्रत्येक मानव इसकी छाया में जीवन व्यतीत कर सुकून पा सकता है।

संदर्भ

1. भैरवी, संगीत शोध पत्रिका, सं. डॉ. पुष्पम नारायण, स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल. ना. मि. वि., दरभंगा (बिहार)।
2. शर्मा (डॉ.) नीरा, भारतीय लोकनृत्यों में हरियाणा और राजस्थान, सत्यम पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
3. वर्मा (डॉ.) सतीश, संगीत चिकित्सा, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
4. गर्ग लक्ष्मीनारायण , संगीत विशारद, भारतीय नृत्य कला, संगीत कार्यालय, हाथरस।

Scanned with OKEN Scanner

संगीत चिकित्सा पद्धति

डॉ. प्रवीण सैनी*

संगीत चिकित्सा एक सहयोगी चिकित्सा है और पुराने समय में अरस्तु और प्लूटो सरीखे विद्वानों ने भी इसकी उपयोगिता पर बल दिया है। सभ्यता की शुरूआत से ही संगीत को मनुष्य के जीवन को प्रभावित करनेवाली एक बडी ताकत के रूप में देखा गया है, इस के प्रमाण मिले हैं कि मनुष्य ने आज से हजारों वर्ष पूर्व हड्डी से बनी बांसुरी के रूप में अपना वाद्य यंत्र तैयार कर लिया था। कहते हैं कि भाषा के विकास से पहले संगीत के माध्यम से ही संप्रेषण होता था।

संगीत चिकित्सा में हमारे देश में सदैव से आस्था रही है। संगीत चिकित्सा चिकित्सा विज्ञान का ही एक विभाग है, जो मनुष्यों की शारीरिक, मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं की आपूर्ति करता है। आधी शताब्दी खोज कार्य के उपरान्त अब यह सिद्ध हो चुका है कि संगीत चिकित्सा द्वारा रोगियों के पुनर्वास, उपचार के लिए उत्तप्रेरणा, भावनात्मक सहयोग और भावाभिव्यक्ति में काफी सहायता मिलती है।

वर्तमान में मनुष्य "सामगान" युग के मंत्रों को प्रतीक के रूप में आज भी नित्य पढता है। जिस "संगीत" को कला के रूप मे हम देख रहे हैं वह वाक्शक्ति का ही पर्याय एवं परिणाम हैं इन पाठों का सस्वर पाठ होता है, तथा श्वास के आरोह-अवरोह पर ही एक सॉस में इनको पढ़ा जाता है। ये यंत्र न सिर्फ परमेश्वर में आस्था जगाते हैं वरन इन शरीर रूपी तंत्र को पूरी तरह से स्वस्थ रखने में भी अपनी भूमिका निभाते हैं -

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।

अर्थात् योग युक्त आहार-विहार, चेष्टा, कर्म, स्वप्त, जागना। इनका संयोग जीवन में आनेवाले दुखों का नाश कर सकता है। मनुष्य का शरीर एक तंत्र है। इस तंत्र को मंत्रों द्वारा रोगमुक्त भी किया जा सकता है। भेषज-तंत्र (रोगों को दूर करने के उपाय) में चार प्रकार के भेषज बताये गए हैं—पवनौकष, जलोकष, बनौकष तथा शाब्दिक। शाब्दिक का आशय मंत्रों तथा संगीत से है। कश्यप-तंत्र में कहा गया है कि भोजन पश्चात यदि रूचि के अनुसार मधुर संगीत सुना जाए तो वह पाचन शक्ति को बढ़ाता है। संगीत में जो आनंद प्रदान करने की चामत्कारिक शक्ति है, वह श्रोता को सांसारिक बंधनों से मुक्त करके आत्मिक सुख प्रदान करती है। संगीत द्वारा चिकित्सा पर बहुत कार्य हो चुका हैतथा हो रहा है, जैसे रागों का पागल रोगियों पर प्रभाव, पक्षाघात-ग्रस्त, चेतनाहीन रोगियों को लाभ, पेड़ों की वृद्धि में अंतर, गायों की दुग्ध-उत्पादन क्षमता पर प्रभाव, गर्भवती महिलाओं के स्वास्थ्य मे सुधार इत्यादि।

संपूर्ण मानव शरीर ही संगीत है। हृदय की धड़कन, नाड़ी का फड़कना, मस्तिष्क की तरंगे, हारमोन्स का प्रवाह और सांस की लय, सभी कुछ तो एक वृहत संगीत है। अन्वेषकों ने यह ज्ञात किया है एलजीमर के रोगियों को संगीत सुनकर पूर्व बातें स्मृत हो जाती है और पारकिंसन के रोगियों का मोटर कोऑर्डीनेशन सुधर जाता है। मस्तिष्क की चोट खाये व्यक्तियों के पुनर्वास में भी संगीत-चिकित्सा

* प्रवक्ता, गोकुलदास हिन्दू गर्ल्स कॉलेज, मुरादाबाद

Scanned with OKEN Scanner

के सुखद परिणाम सामने आये हैं। ग्रेट फुल डैड, मिकी हार्ट और ऑलीवर सेक्स जैसे न्यूरोलॉजिस्ट भी यह स्वीकार कर चुके हैं कि संगीत के द्वारा मस्तिष्क के चोट के रोगियों के उपचार में सहायता मिलती है। सेक्स के अनुसार जो व्यक्ति भाषा नहीं समझते थे संगीत पर प्रतिक्रिया प्रकट करते हैं और जो रोगी एक अक्षर नहीं बोल सकते वह भी गा लेते हैं। दंत चिकित्सकों ने भी संगीत चिकित्सा का सहारा लेकर देखा कि ओरल सर्जरी के समय उन्होंने संगीत को ऑडियो ऐनेस्थीसिया के रूप में प्रयुक्त किया। उन्होंने देखा कि ऐसे रोगियों पर नाइट्रस ऑक्साइड की कम मात्रा ही पूरा काम कर गई। एलीसिया ऐन क्लेयर के मानुसार, संगीत मानसिक तनाव कम करता है इधर उधर निरर्थक घूमने वाले व्यक्ति को भी कम से कम आधे घंटे तक एक स्थान पर बैठा सकता है। संगीत की लय संयोग की भावना उत्पन्न करती है और हिंसात्मक प्रवृत्तियां रोकती है। कोलेरेडो राज्य विश्वविद्यालय के मायकेल थाउट ने पाया कि संगीत द्वारा पारकिंसन के रोगियों की बनले की गति में भी सुधार किया जा सकता है। उनके चलते समय प्रतिदिन अधिकाधिक गति से चलने वाले टेप सुनाकर उनकी गति दस गुनी तक बढ़ाई जा सकती है परंतु उनका प्रयोग एक सीमित समय का था और उसे मान भी नहीं मान सकते।

संगीत का मन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। 'मन' हमारे व्यक्ति का अभिन्न अंग है हमारी चेतना की अभिव्यक्ति है। हमें अपनी शारीरिक क्षुधाओं का भान मन से होता है, तो उसकी तृप्ति के लिए भोजन की प्रेरणा भी मन से ही मिलती है। मन शरीर से सम्बद्ध होने के बाद अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखता है। इसका महत्व तथा प्रभाव इतना गहन है कि इसे मनुष्य का भाग्य-विधाता भी कहा जाता है। मन का भोजन है संगीत। मन के अनियमित विन्यासों को संगीत अपने नियमित विन्यासों से समन्वित करता है जिनसे मन पुष्ट और समृद्ध होता है।

संगीत का नियमित श्रवण करे या अल्पान्तर के साथ यह सकारात्मक विचारों की आदत डाल लेता है। जिस तरह एक इंजीनियर अनुपयोगी तत्वों का खनन कर चमचमाती धातु को पा लेता है उसी प्रकार संगीत मानव मन की विसंगतियों और नकारात्माओं का खनन कर आस्था और विश्वासों को उन्नत करता है और मानव में आंतरिक शक्ति संस्थापने का कार्य करता है। मनोचिकित्सा विभाग के इकाई प्रमुख आर.के. सोंलकी का यह मान है कि संगीत व्यक्ति के दिमाग में ऐसी तरंगें उत्पन्न करता है जिनसे मानसिक शांति मिलती है। संगीत चिंता, घबड़ाहट, चिड़चिड़ेपन, क्रोध, आवेश आदि के मरीजों को आराम देता है व अवसाद से बचाता है। यही नहीं डाक्टर स्वयं आपरेशन थियेटर में संगीत का प्रयोग कर रहे हैं। मुंबई के डॉ. एल. एच. हीरा नंदानी अस्पताल के डॉ. अरूण शेट्टी के अनुसार वहां के आपरेशन थियेटर में ऑडियो सिस्टम लगाये गए हैं, जिनके द्वारा डॉक्टर स्वयं की पसंद का संगीत सुनते हैं। जयपुर के कई अस्पतालों में भी ऐसा ही किया गया है। डॉक्टरों का मानना है कि संगीत के उपयोग से आपरेशन की सफलता की दर बढ़ी है।

संगीत द्वारा उपचार की पद्धति यानि म्यूजिक थेरेपी को वैकल्पिक उपचार पद्धति नाम दिया गया है। जिसमें मरीज की बीमारी की दवा तो दी जाती है साथ में संगीत का उपयोग भी किया जाता है। जयपुर के मेंटल हॉस्पिटल के साईकियाट्रिस्ट डॉ. अरूण पांडेय के अनुसार "मैडिसिन के साथ ही म्यूजिक के प्रयोग से पेशेन्ट को हेल्थ से रिलेटिड प्रोबलम्स को दूर करने का प्रयास किया जाता है। मेडिकल साइंस में म्यूजिक थैरेपी के प्रयोग से अपेक्षित परिणाम प्राप्त हुए हैं।" कुछ अन्य लाभ, जो डॉक्टरों ने संगीत थैरेपी के गिनाए हैं, इस प्रकार है–1. तनाव में कमी 2. एकाग्रता में बढ़ोतरी 3. याददाश्त बढ़ना 4. ब्लड प्रेशर कंट्रोल रहना 5. उतावलेपन में कमी और 6. चिड़चिड़ेपन में कमी। हर पल खुश और हैल्दी रखता है संगीत।

संगीत में रोगी के संवेदनात्मक व बौद्धिक पहलुओं को उत्तेजित करने की शक्ति होती है। इसे सुनते ही रोगी की मनःस्थिति मूलतः परिवर्तित हो

Scanned with OKEN Scanner

जाती है। इसके फलस्वरूप उसके ध्यान को बुरे विचारों से हटाकर सुंदर व स्वस्थ विचारों में लगाया जाता है। संगीत सुनने मात्र से रोगी में रक्त वाप प्रक्रिया आदि कई प्रकार के शारीरिक परिवर्तन होने के साथ ही उसके ध्यानाभाव में वृद्धि होती है। अतः रोगी एक समय में कई आवश्यक कामों में ध्यान दे सकता है। अमेरिका में लगभग आठ सौ रोगियों की चिकित्सा संगीत द्वारा की गई है, उन्हें सफलता भी मिली है। उन्होंने यह पता लगाया है कि श्वास तरह की ध्वनि, लय तथा वाद्य, रोग निवारण में सहायक होते हैं। प्रयोग करने से यह सिद्ध हुआ है कि वायलन की मधुर ध्वनि, अति तीव्र सिर दर्द को 15 मिनट में दूर कर सकती है। हार्प (एक वाद्य) से हिस्टेरिया का रोग दूर किया जा सकता है। प्रेममय वह मधुर गीतों को सुनने से आधी बीमारी दूर हो जाती है।

पागलों के अस्पताल में भी संगीत चिकित्सा पद्धति काम में लाते हैं। रूचि के अनुसार 'ध्रुपद' या 'ख्याल' गायन सुनवाया जाय तो वह ख्याल से अधिक प्रभावित होगा। ख्याल में तराना, वाद्य में झाला, नृत्य में पदविन्यास रोगी को अधिक प्रभावित करते हैं, जिससे उसे मानसिक प्रसन्नता प्राप्त होती है। उपचार के लिए 'भक्ति संगीत' और वाद्य पर लोकधुन बजाना अधिक अनुकूल है। संगीत मानसिक उपचार का एकमेव तो नहीं किन्तु साधन अवश्य है। संगीत भाव भड़कने वाला नहीं होना चाहिए। कैदियों पर भी संगीत का उपयोग किया गया है, जिसके अच्छे परिणाम प्राप्त हुए हैं। संगीत अविस्मृत करने वाला होना चाहिए। 'जबलपुर' विश्वविद्यालय के डॉ॰ मोरे ने वनस्पति पर संगीत का प्रयोग करके बताया है कि उससे पौधे जल्दी विकसित हुए हैं। अमेरिका में तो संगीत को नींद की गोलियों माना गया है। न्यूयार्क में भी इसका प्रयोग हुआ है। 'मिरज' (महाराष्ट्र) में एक मानस रोग चिकित्सक है, जिन्होंने संगीत द्वारा कई रोगियों को ठीक किया है।

निष्कर्ष रूप में कहा जाता है कि सभी रोगों के उपचार हेतु संगीत आवश्यक है। संगीत साधकों के पास अतुल्य औषधि का भंडार है, जिसे वह इन रोगियों में बांटकर सेवा का लाभ प्राप्त कर सकते हैं तथा संगीतज्ञों एवं संगीत चिकित्सकों ने संगीत के प्रभाव को देखते हुए उसे दैनिक दिनचर्यों में अपनाने का सुझाव दिया।

संदर्भ ग्रन्थ सूची :

1. संगीत पत्रिका अगस्त 2008 पृ॰ 08
2. संगीत पत्रिका मार्च 2007 पृ॰ 20-21
3. संगीत पत्रिका अगस्त 2008 पृ॰ 08-10
4. संगीत पत्रिका मार्च 2009 पृ॰ 41
5. राजस्थान पत्रिका : 'राजापार्क सप्लिमेंट' के 8 जनवरी 2008 अंक से उद्धृत।
6. टाइम्स ऑफ इंडिया के 1 जुलाई 2005 के अंक से उद्धृत।
7. "दैनिक भास्कर" के 4 नवंबर 2006 अंक से उद्धृत।
8. भारतीय संगीत एवं मनोविज्ञान—डॉ. वसुधा कुलकर्णी पृ॰ 139-140

Scanned with OKEN Scanner

लोकगीत एक आत्मिक आवाज है

इंदिरा सिंह*

संसार की सृष्टि के साथ ही लोक संगीत का भी उद्भव माना जाता है लेकिन लोक संगीत के रचनाकार प्रायः अज्ञात होता है, क्योंकि लोकगीत के रचना में किसी एक व्यक्ति विशेष का हाथ न होकर संपूर्ण मानव समाज का ही हाथ रहा है। किसी भी शुभ अवसर पर एक व्यक्ति द्वारा आनन्द विभोर होने पर एक पंक्ति गाया गया फिर अन्य व्यक्तियों ने पूरे लोकगीत का निर्माण किया और धीरे-धीरे एक से अधिक लोगों द्वारा गाया गया।

किसी भी लोक-गीत को जब संस्कृति, समाज और जनकंठ का आस्थापूर्ण आधार मिलता है। तभी वह लोक-हृदय पर युग-युग तक राज करता है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होने के नाते भावनाओं के आवेग में रस विभोर होकर अपने मुख से स्वर लहरी एवं पदों के माध्यम से लोकगीत का निर्माण करता है।

लोकगीत गीत का वह प्रकार है जो सदियों से समाज की रीति-रिवाज, जीवन-पद्धति, सुखः-दुख, हर्ष-विषाद, मिलन-विरह आदि के शाश्वत भावों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी लोक-कंठों के माध्यम से व्यक्त करता रहा है। यह जीवन के वास्तविक भावनाओं तथा सामाजिक परंपराओं से जुड़ा होता है। चूंकि लोक गीतों में भावनात्मक अभिव्यक्ति है, इसलिए इसका प्रभाव क्षेत्र भी बहुत व्यापक एवं विस्तृत है।

हमारे देश में सांस्कृतिक धरोहरों के रूप में लोकगीत का एक महत्वपूर्ण स्थान है। हमारे संगीत के विविध रूपों में लोक-गीत जन-जन के अंतर की भावनाओं की अभिव्यक्ति है।

लोक-गीत क्षेत्रीय भाषाओं पर आधारित रहता है जिसमें राष्ट्रभाषा से हटकर उस क्षेत्र में रहनेवाले लोगों में बोले जाने वाले स्वाभाविक भाषा का आधार रहता है, जैसे—विहार में हिन्दी के अतिरिक्त मैथिली, भोजपुरी, मगही अंगिका, बज्जिका, संथाली तथा उत्तर प्रदेश की बनारसी अवधि, ब्रजभाषा, बंगाल की बंगाली, राजस्थान की राजस्थानी आदि।

लोक-गीत हमारे जीवन के विकास का इतिहास है जिसमें जीवन के सुख-दुख, सामाजिक स्थिति, मिलन-विरह और जीवन के समस्त उतार-चढ़ाव की भावनाएं व्यक्त होती है। यह मानव के भिन्न-भिन्न स्थानों के सामाजिक जीवन, धर्म एवं परंपरा पर आधारित है। यह मानव जीवन का गंगा-यमुनी प्रवाह है जो छन्दशास्त्र एवं अलंकारों के नियमों से मुक्त रहता है। लोकगीत शब्द प्रधान होता है और यह शास्त्रीय संगीत के समय में न बंधकर 'अवसर' से बंधा रहता है।

लोक-गीत शास्त्रीय राग-रागनियों तथा उनके अन्य नियमों से मुक्त होने के कारण ये भाव-प्रधान रसों से पगे होते हैं। इसके अधिकतर गायक सुरीले और लयदार होते है। यद्यपि उनपर तालों का जटिल बंधन नहीं होता है। किन्तु वे स्वाभाविक रूप से तालज्ञ होते हैं। वास्तव में लोकगीत जीवन के आत्मा की सुमधुर अभिव्यक्ति है जो गायक एवं श्रोता सबों को आत्मविभोर कर देता है।

लोक-गीत या लोक-संगीत कदम-कदम पर हमारा साथ देता है। जन्म से लेकर अंतिम क्षण तक समस्त जन-जीवन का चित्रण है। लोक-गीत एक ऐसा वृक्ष है जिसमें बालकों को शयन, वृद्धजनों की

* शोध छात्रा, ति0मा0 भागलपुर वि0वि0, भागलपुर

मन की शांति, युवाओं को उत्साह, पथिकों को विश्रांति तथा वियोगियों के मन की कसक मिटाने वाली पद या ध्वनि रूपी नवीन शाखाएं, पत्ते और फूल-फल निरंतर लगते रहते हैं।

रामायण एवं महाभारत काल में जन्म एवं विवाह आदि के शुभ अवसरों पर स्त्रियों द्वारा मंगलाचार आदि गाने की प्रथा थी।

लोकगीत में महिलाओं की अहम भूमिका रही है। महिला समाज ने मिलन, विरह, क्रोध, उलाहना, उत्साह, श्रम-गीत, रोपनी गीत, ऋतु विशेष में कजरी, चैती, झूला तथा होली आदि गीतों के रूप में गाकर लोकगीत की रचना में महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया है।

प्रारंभ में मनुष्य ने अपने आस-पास पशु-पक्षियों के कलरव, हवा के शीतल झोंकों, समुद्र के तरंगों एवं मधुर ध्वनियों को सुनकर संगीत की ओर उन्मुख हुआ होगा।

वैदिक काल में संगीत की दो धाराएं प्रवाहित हो रही थी। इनमें प्रथम धारा 'मार्गी-संगीत' एवं द्वितीय धारा 'देशी-संगीत' कहलाई। मार्गी संगीत एवं देशी संगीत इन दोनों का ही मूल श्रोत जन-संगीत या लोक संगीत या लोकगीत था।

Scanned with OKEN Scanner

सामा चकेवा के गीतों का सांगीतिक अनुशीलन

स्मिता सुमन

लोक संस्कृति के विभिन्न आयाम जीवन, साहित्य और कला परम्परा में सन्निहित होते हैं। संस्कृति के ये आयाम संस्कृति के स्वरूप को गढ़ने का कार्य करते हैं और उसके संवाहक भी होते हैं। प्रथा, परम्परा, रीति-रिवाज, संस्कार, लोकगीत, लोकगाथा, विधक, कहावत, लोकनृत्य, लोकनाट्य, लोकसंगीत आदि का अनुशीलन करने से संस्कृति के मूल स्वरूप को समझा जा सकता है।[1]

भारतीय संगीत को समृद्ध करने में लोकसंगीत का महत्वपूर्ण स्थान है।[2] संगीत के शास्त्रीय रूप को विकसित करने में लोकधुनों का योगदान को नकारा नहीं जा सकता अतः अभिजात संगीत को समझने के लिए लोकसंगीत का अनुशीलन आवश्यक है। लोकधुनों के अनुसंधान में सामा चकेवा के गीतो का सांगीतिक अनुशीलन करने से यह स्पष्ट होगा कि इन गीतों में प्रयुक्त धुन भारतीय रागदारी संगीत को विकसित करने में अपना क्या योगदान किया है।

सामा चकेवा का खेल या स्वांग सम्पूर्ण मिथिला में सभी जाति वर्ग के लोग करते है। सामा चकेवा की मूर्ति बनाकर रात में महिलाएं बाँस के बने हुए डाला में गीत गाती हुई आँगन से निकलकर किसी चौमुहाने पर पहुँचती है और अपने-अपने भाई का नाम लेकर गीत गाती है। गीत में सामाजिक यथार्थ का पक्का रूप झलकता है। चुगलखोर को गालियाँ सुनाती है।[3] यह खेल छठ के समाप्ति के बाद कार्तिक महीने के शुक्ल पक्ष की सप्तमी तिथि से आरम्भ होकर कार्तिक पूर्णमासी तक खेले जाते हैं।[4] पूर्णिमा के दिन पउती-पेटारी में डालकर, बेड़ा बनाकर नये वस्त्रों में सजाकर सामा चकेवा को जल में प्रवाहित किया जाता है।

सामा चकेवा के धुनों में सरल, सहज एवं स्वप्रवाहमयता दृष्टिगत है यह धुन मुख्यतः आधा सप्तको में ही प्रस्तुत होता है।

उदाहरण स्वरूप :-

स्थाई -

डाला ले बहार भेलन बहिनो से कौने बहिनो
कौने भईया लेल डाला छिन सुन गे राम सजनी

अन्तरा -

कथी के तोहर डलवा गे पोती
कथी लगाएल चारो कोण,
सुन गे राम सजनी।
काँच हीं बाँस के डलवा हो बाबा
चम्पा चमेलिया चारो कोण
सुन गे राम सजनी
जबे हम डलवा मँगाए देव गे पोती
भईया जी के किए देबु दान,
सुन गे राम सजनी ।
जबे हम बसबई ससुरबे घर हो बाबा
चढ़ने के घोड़बा देवई दान,
सुन गे राम सजनी ।
चढ़ने के घोड़बा घोड़सरबे घर गे पोती
भईया जी के किए देबु दान,
सुन गे राम सजनी ।
चढ़ने के घोड़वा घोड़सरबे घर हो बाबा

शोध-छात्र, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

छोटकी ननदीया देवई दान
सुन गे राम सजनी।[5]

ताल - कहरवा

स्थाई -

ध़	-	ध़	सा
डा	ऽ	ला	ऽ
म	-	म	म
हा	ऽ	ऽ	र
ग	-	सा	-
व	ऽ	हि	ऽ
रे	सा	सा	सा
को	ऽ	ने	ऽ
ध़	ध़	ध़	सा
को	ऽ	ने	ऽ
ग	रे	रे	रे
ले	ऽ	ऽ	ल
ग	-	-	रे
छी	ऽ	ऽ	न
ग	-	रे	ग
रा	ऽ	ऽ	म
सा	-	-	-
नी	ऽ	ऽ	ऽ
×			

सा	रे	म	-
ले	ऽ	ब	ऽ
म	प	म	ग
भे	ऽ	ल	न
सारे	-	ग	-
नो	ऽ	से	ऽ
सा	सा	सा	ध़
ब	ही	नो	ऽ
सा	सा	सा	-
भ	ई	या	ऽ
रे	म	म	-
डा	ऽ	ला	ऽ
रे	म	म	-
सु	न	गे	ऽ
ग	-	सा	-
स	ऽ	ज	ऽ
-	-	-	-
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
0			

अन्तरा -

सा	-	-	-
क	ऽ	ऽ	ऽ
म	-	-	-
के	ऽ	ऽ	ऽ
ग	ग	सा	-
ड	ऽ	ल	ऽ
सा	सा	सा	सा
पो	ऽ	ऽ	ऽ
ध़	ध़	ध़	सा
क	ऽ	ऽ	ऽ
ग	ग	रे	रे
गा	ऽ	ए	ल
ग	ग	रे	रे
को	ऽ	ऽ	ण

रे	म	-	-
थी	ऽ	ऽ	ऽ
म	प	म	म
तो	ऽ	ह	र
सा	रे	ग	ग
वा	ऽ	गे	ऽ
सा	ध़	-	-
ती	ऽ	ऽ	ऽ
सा	-	-	-
थी	ऽ	ल	ऽ
रे	म	म	म
चा	ऽ	रो	ऽ
रे	म	म	-
सु	न	गे	ऽ

ग	-	रे	ग
रा	ऽ	ऽ	म
सा	-	-	-
नी	ऽ	ऽ	ऽ
×			

		ग	-
		स	ऽ

सा	सा		
मा	ई		
ध़	सा		
ज	ऽ		
सा	सा		
के	ऽ		
सा	रे		
हे	ऽ		

0

इस गाने में तिलक कामोद राग की छाया दिखाई पड़ती है।

2. माई गंगा रे जमुनवा के चिकनी के मटिया
माई आनी देथीन कौने भईया गंगा पइसी हे मटिया
माई बनाई देथीन कनिया भउजो हंस रे चकेउआ
माई खेले जइथन कौने बहिनो चारो पहर हे रतिया
माई खेलीये खेउलीये बहिनो ठारे भेलन अँगनवा
माई खोलुना हे कनियाँ भउजी अपनी दरवजवा
माई कथी केर दियरा कथिअ सुत हे बतिया
माई सोने केर दियरा रे सामा सुत हे बतिया
माई कथि केर तेलवा जरइबो सारी हे रतिया
माई सरसो के तेलवा जरइबो सारी हे रतिया
माई जुग-जुग जीय भईया लाखो हे बरसिया।[6]

ताल-रूपक

ग	-	रे	सा	-	ध़	सा
गं	ऽ	गा	रे	ऽ	ज	ऽ
सा	सा	रे	सा	सा	सा	सा
मु	ऽ	नऽ	वा	ऽ	के	ऽ
म	म	प	म	ग	सा	रे
चि	ऽ	क	नी	ऽ	हे	ऽ
ग	ग	रे	सा	सा		
म	ऽ	टि	या	ऽ		
0			2		3	

शेष अन्तरे उपर्युक्त धुन में हीं हैं।

इस गाने में शुद्ध स्वरों का प्रयोग हुआ है। धुनों का अवलोकन करने पर तिलक कामोद राग की छाया दिखाई पड़ती है।

3. एही पार कौने भईया खेललन शिकार
ओही पार कौने बहिनी रोधना रे पसार

Scanned with OKEN Scanner

तोहरो रोधनिया गे बहिनी मोरो न रे सोहाए
आवे देही अगहनबा गे बहिनी कटाई देही गे धान
खुरबे कसरबे गे बहिनी भरबऊ गे पेटार
बाबा के संपतिया गे बहिनी आधा देबऊ गे बाट
बाबा के संपतिया हो भईया भतिजबे भोगे हो राज
हम दूर देसी हो भईया मोटरिया केर हो आस
भारा लेले भरिया हो भईया डोलिया लेले हो कहार
छाता लेले चकवा भईया बहिनिया बोलैले जाए।[7]

ताल - कहरवा

प	प	प	म	प	ध	ध	प
ए	ही	पा	र	कौ	ऽ	ने	ऽ
प	ग	सा	रे	म	प	म	ग
ब	ई	या	ऽ	खे	ऽ	ल	ऽ
रे	सा	रे	सा	सा	-	-	सा
न	न	शि	ऽ	का	ऽ	ऽ	र
सा	ध़	सा	सा	म	म	ग	रे
ओ	ही	पा	र	कौ	ऽ	ने	ऽ
सा	सा	रे	सारे	म	प	म	ग
ब	हिनो	ऽऽ	रो	ऽ	ध	ऽ	ना
रे	सा	रे	सा	सा	-	-	सा
रे	प	ऽ	सा	ऽ	ऽ	र	
प	प	प	म	प	ध	ध	प
तो	ह	रो	रो	ध	नि	या	गे
म	ग	सा	रे	म	प	म	ग
ब	हि	नो	ऽ	मो	ऽ	रो	ऽ
रे	सा	रे	सा	सा	-	-	सा
न	रे	सो	ऽ	हा	ऽ	ऽ	ए
सा	ध़	सा	सा	म	म	ग	रे
आ	बे	देही	अग	ह	न	वा	गे
सा	सा	रे	सारे	म	प	म	ग
ब	हि	नी	कऽ	टा	ऽ	ई	ऽ
रे	सा	रे	सा	सा	-	-	सा
दे	बु	गे	ऽ	धा	ऽ	ऽ	न

शेष अन्तरे उपर्युक्त धुन में हीं है।

इस गाने में शुद्ध स्वरों का प्रयोग हुआ है। धुनो का अवलोकन करने पर तिलक कामोद राग की छाया दिखाई पड़ती है।

4. कौने भईया के एहो धनी फुलवरिया हे
कि कौने बहिनी लोढ़ली चमेली फुल हे
फुलवा लोढ़इते बहिनिया मोरा धामल हे
कि धामीर गेल शीर के सिन्दूरबा हे
छतवा लेले दउरल अलथीन से कौने भइया हे
कि बइठू हे बहिनी एहो छत धइयाँ हे
पनिया लेले दउरल अलथीन से कनिया भउजो हे
कि पीऊ हे ननदी एहो शीतल पनिया हे
कनिया भउजो के केशीए चउर डोले हे
कि ओही रे केशिये गुथबो चमेली फुल हे।[8]

ताल - कहरवा

प	प	प	प	म	ग़	ग़	म
ए	ऽ	हो	ऽ	ध	नी	फु	ल
प	-	प	-	म	म	प	म
कौ	ऽ	ने	ऽ	भ	ई	या	के
ग़	रे	नि़सा	ग़	ग़	-	-	म
ब	री	याऽ	ऽ	हो	ऽ	ऽ	कि
ग़	रे	सा	रे	सा	नि़	नि़	प
कौ	ऽ	ने	ऽ	ब	हि	नि	ऽ
प़	नि़	नि़	सा	रेसा	रे	सा	सा
लो	ऽ	ढ़	ऽ	लीऽ	ऽ	ऽ	च
नि़	ग़	ग़	ग़	ग़	ग़	ग़	ग़
मे	ली	फु	ल	हे	ऽ	ऽ	ऽ

शेष अन्तरे उपर्युक्त धुन में हीं है।

इस गाने में धुनों के अनुसार इसमें ग़ नि़ कोमल होने के कारण यह काफी थाट का राग है।

5. सामा खेले गेली हे कौने भईया के आँगन हे
आहे कनिया भउजी लेल लुलुआई
छोड़हुँ ननदी आँगन हे।
काहे लुलुआबहु कनिया भउजी हे
भउजी जाले रहतई माय बाप के राज
तउले साम खेलब हे।
भउजी छुटी जईतई माय बाप के राज
छोड़ब राउर आँगन हे।
एतना बचनिया जब सुनलन कौने भईया हे
भईया मारे लगलन बरछी घुमाए बहिनिया मोरा पाहुन हे।[9]

Scanned with OKEN Scanner

ताल - दीपचन्दी

सा	सा	सा		सा	ग	ग	रे
सा	मा	ऽ		खे	ऽ	ले	ऽ
×				2			
सा	सा	सा		सा	ग	ग	रे
गे	ऽ	ऽ		ली	ऽ	हे	ऽ
0				3			
सा	सा	सा		सा	म	म	म
कौ	ने	ऽ		भ	ई	या	के
×				2			
सा	सा	सा		सा	ग	ग	रे
आँ	ऽ	ऽ		ग	ऽ	न	ऽ
0				3			
म	म	म		म	म	म	म
हे	ऽ	ऽ		आ	ऽ	हे	ऽ
×				2			
प	ध	ध		प	प	म	म
क	नि	या		भ	उ	जी	ऽ
0				3			
ग	सा	सा		सा	ग	ग	रे
ले	ल	ऽ		लु	ऽ	लु	ऽ
×				2			
सा	सा	सा		ध़	ध़	ध़	सा
आ	ऽ	ऽ		ए	ऽ	छो	ऽ
0				3			
सा	सा	सा		सा	सा	म	ग
ड़	हुँ	ऽ		न	न	दी	ऽ
×				2			
रे	ग	ग		रे	रे	सा	सा
आँ	ऽ	ऽ		ग	ऽ	न	ऽ
0				3			
सा	सा	सा		म	म	म	म
हे	ऽ	ऽ		आ	ऽ	हे	ऽ
×				2			
प	ध	ध		प	प	म	म
क	नि	या		भ	उ	जी	ऽ
0				3			
ग	सा	सा		सा	ग	ग	रे
ले	ल	ऽ		लु	ऽ	लु	ऽ
×				2			
सा	सा	सा		ध़	ध़	ध़	सा
आ	ऽ	ऽ		ए	ऽ	छो	ऽ
0				3			
सा	सा	सा		सा	सा	म	ग
ड़	हुँ	ऽ		न	न	दी	ऽ
×				2			
रे	ग	ग		रे	रे	सा	सा
आँ	ऽ	ऽ		ग	ऽ	न	ऽ
0				3			
सा	सा	सा		ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
हे	ऽ	ऽ		ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
×				2			

शेष अन्तरे उपर्युक्त धुन में हीं है।

इस गाने में सभी स्वर शुद्ध प्रयोग हुए हैं धुनों के अवलोकन से तिलक-कामोद अथवा खमाज राग की छाया दृष्टिगत होती है।

उपर्युक्त धुनों का अवलोकन करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि खमाज, काफी और तिलक कामोद रागो की छाया स्पष्ट रूप से दृष्टिगत है। लयातमकता की दृष्टिकोण से इन धुनों में दीपचन्दी, रूपक, कहरवा ताल दृष्टिगोचर होते हैं। इन गीतों में रागात्मक अथवा लयात्मकता सहज रूप से आयी है जो धुन को और शब्द को सहज रूप से संचरण करने में सहायक है।

संदर्भ

1. निरगुणे, वसन्त, लोक संस्कृति, पृ. - 57
2. कुमार, अरविन्द, राग : एक अध्ययन पृ0 - 19
3. अमरेश, विजय (सं.), बिहार की लोक-संस्कृति पृ.-144
4. जैन, शान्ति, ऋतुगीत, पृ. - 172
5. कुमारी ममता से
6. वहीं से
7. कुमारी विनीता से
8. उषा श्रीवास्तव से
9. वीणा देवी से

मिथिलांचल की लोकगाथाएँ : संगीत एवं श्रद्धाभाव

राजेश कुमार गुप्ता*

किसी भी देश की गाथाओं में वहां का लोक तत्व अनिवार्य रूप से मौजूद होता है। विभिन्न परिस्थितियों से उपजी गाथाएँ लोक में प्रचलित होती हैं। वही जब संशोधित रूप में वृहत स्तर पर छा जाती है तो महाकाव्य की श्रेणी में आ जाती है । अपनी स्थानीय अनुरंजकता और लोक मान्यता के बीच एक सीमा तक व्याप्त लोक गाथाओं को लोक संस्कृति का अंग माना जाता है। अपनी भौगोलिक व ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से गाथाएँ मुँह नहीं मोड़ सकती । साथ ही सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक दृष्टि से भी इनके अपने तत्व होते हैं । लोक-मानस अत्यन्त सशक्त माध्यम है समाज के अध्ययन और अंकन का।

मिथिलांचल की लोकगाथाओं की सबसे बड़ी विशेषता है कि यह अपने साथ सभी राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा सामाजिक परिवेश को अपने में समेटते चलती है। यहाँ के राजा-रानी और योद्धाओं का तो नहीं परन्तु लोक गाथाओं से सम्बन्धित इतिहास जग-जाहिर हो उठता है।

मैथिली लोकगाथा का अध्ययन, अनुशीलन का आरंभ जार्ज ग्रियर्सन ने किया था। इस अध्ययन का विस्तार डॉ॰ ब्रजकिशोर वर्मा मणिपद्म (मैथिली लोक गायाक इतिहास), डॉ॰ पूर्णानन्द दास (मैथिली लोककाव्य), डॉ॰ जयकान्त मिश्र (Introduction to the folk litrature of Mithila) डॉ॰ वीरेन्द्र नाथ झा (मैथिली लोक महाकाव्य आलोचनात्मक अध्ययन) पं॰ राजेश्वर झा (लोकगाथा विवेचन) डॉ॰ रामप्रवेश सिंह (लोकायत और लोक देवता) ने किया।

मिथिला में विभिन्न जातियों का निवास है जिनमें अधिकांश जाति अपने-अपने जातीय देवी-देवता के प्रति श्रद्धावनत रहते हैं। उन सभी देवताओं का अपना-अपना पूजन विद्यान है। देवताओं के गहबर होते है तथा उनके भाओ होते हे। भाओं करने वाले भगत कहलाते है। कुछ देवता ऐसे भी होते है जिनके पूजन मात्र होते हैं । कुछ वैसे देवी-देवता है जिनकी पूजन वर्ष में एक बार सामूहिक रूप से किसी खास मास जैसे सावन में बड़े धूम-धाम से होता है। मिथिला में कुछ लोक देवताओं को व्यवसाय से संबद्ध जोड़ा जाता है जैसे पशुपालन और दुग्ध व्यवसाय के निमित अन्हेर बाँट नामक देवता का पूजन होता है। ईख को पेरकर उसके रस से गुड़ बनाने के व्यवसाय में कोल्हुआर के देवता होते है। महाकाल जिनकी पहली पूजा होती है।

मिथिला में पूजा होने वाली लोक देवताओं की संख्या काफी वृहद है। लोक देवताओं की संख्या लगभग सत्तर से भी ज्यादा है, परन्तु मुख्य नामावली निम्न प्रकार है। अन्हेरबाँट, अमर सिंह, अलखिया, कमलाक्षत्रि, कलाली, काली, कालिदास, कारिख, किरंची, कुमर विनोदी, कुसियारमल, केवल महराज, कोइला, कोरल, गणिनाथ, गरीबन मूइयाँ, गाहिल गांगो, गोरैया, गोविन्द, गौरबाला, जयसिंह, जलपा, झम्मन मरड़, झालाराम, ढीढामल, डीह बाबा, दयाराम, दीनाभद्री, दुलरादयाल, धर्मराज, नरसिंह, नाग, पंचपिढिया, पीरबाबा, फेकूराम, बहरिया बाबा, बहिंरूतीयर, बरहम बन्दीबालापीर, बौधुराम, भगवती, भैरव, मनसाराम, मनुसदेवा, महंकार, महमाया, महिषासुर, मातर, मीरसैयद, मीरा, मोतीदाइ, रइयारनपाल, रकतमाला; राना माई (छठि परमेसरी)

* शोध-छात्र, वि.वि. संगीत विभाग, ति॰ मा॰ भा॰ वि॰ वि॰, भागलपुर ।

Scanned with OKEN Scanner

राजा ठाकुर, राहु, लालबन, लुकेसरि, बिहुला विषहरि, बेनीराम, श्याम सिंह, सलहेस, ससिया, सहोदरा, सुद्दी कुम्हरि, सुरजाऊ, सोखार-सिवनाथ, हुलहुली इत्यादि।[1]

इन सभी लोक देवताओं को तीन वर्गों में बाँटा गया है। प्रथम वर्ग में वैसे देवी देवता आते है जिनकी पूजा मात्र होती है। दूसरे वर्ग में वैसे देवी देवता आते है जिनकी पूजा में भाओ के साथ साथ मिनती-मनुहारि के गीत गाये बजाये जाते है । तीसरे वर्ग में वैसे देवी-देवता आते है जिनकी पूजन व भाओं होता है तथा उनके जीवन संबंधी आख्यानमूलक लोक गाथा भी प्रचलित है।

गाथा गायन से पूर्व, बन्हौन, (दिक्पति वन्दना), सुमिरण (देवी-देवताओं का स्मरण) व भगैत (भक्तिमूलक गीत) गायन की परम्परा है। 'बन्हौन' में मिथिलांचल का सांस्कृतिक सीमांकन किया गया है यथा -

पुरब रे पुरनियाँ पुजलौं
पश्चिमरे विहार (लौरियागढ़)
उत्तर जे नेपाल पुजालिइ
दक्षिण गंगा धार
रौताजे तिलेकश्वर पुजलौ
झाड़ी बैजनाथ
मोरे उठिकै हाथ उठौलिअइ
दिनकर दीनानाथ।[2]

कुछ गाथाओं में पूर्व में दिक्पति, सूर्य, उत्तर में भीमसेन पश्चिम के मीरा सुल्तान व दक्षिण की गंगा कही गई है ।

गाथा और संगीत का अभिन्न साहचर्य है। सच तो यह है कि संगीत के बिना गाथा को सुनने में आनन्द नहीं मिलता है । अंग्रेजी बैलेड शब्द की उत्पत्ति लैटिन, बैलारे से मानी जाती है जिसका अर्थ होता है नाचना । अतः बैलेड का मूल अभिप्राय उस संगीत से था जो नाच-नाच कर गाया बजाया जाता था । इसे जन समुदाय स्वर कोरस के सदृश गान करता था । उत्तेजना जनक तथा पुनरावृति मूलक संगीत के बिना गाथा अधूरी है क्योंकि यही इसका प्राण है इसकी आत्मा है ।

मैथिली गाथा नायक व नायिका अलौकिक शक्ति से परिपूर्ण उनकी पूजा-अर्चना, गीतनाद, नाचगान, पान-प्रसाद, आदि के संग ग्राम्य गहवर व देवस्थान में अर्पित होता है तथा उनके गाथा-गायन के साथ ही भावभूमि के अनुकूल विशेष वाद्य-वादन का विधान भी निहित है । जैसे आल्हा-रूदल के लिए ढोल, सलहेस के लिए ओरनी, रइया रणपाल के लिए ढोलकी, राजा-भरथरी व गोपीचन के लिए सारंगी, वसावन व वखतौर के लिए मृदंग व झाल एवं कारिख पंजियार के लिए करताल जैसे वाद्यों का उपयोग किया जाता है।

वैसे तो आल्हा-रूदल का गायन प्रायः सालोभर किया जाता है परन्तु वर्षा के दिनों में आल्हा गाने की प्रथा है। आल्हा गाने वाला अपने गले में ढोल बाँध लेता है और उसे पीट-पीट कर अपने भावावेश की सूचना श्रोताओं को देता है। आल्हा के गाने की गति ज्यों-ज्यों तीव्र होती है, ढोल के बजने की गति में भी वैसा ही परिवर्तन होता जाता है।

मिथिलांचल के जन मानस में सलहेस लोक गाथा प्राचीन काल से ही रची बसी है। सम्पूर्ण मिथिलांचल में विशेषतः दुसाध जाति के गाँव-गाँव में राजा सलहेस लोकदेव के रूप पूजित और प्रतिष्ठित होते है। कही मूर्तियाँ बनाकर कही मिट्टी की पींड़ी बनाकर, लोकदेव सलहेस की पूजा अर्चना अत्यन्त श्रद्धा एवं भक्ति भाव से की जाती है। गायन एवं पूजन स्थल को सलहेस स्थान कहा जाता है। पूजा के अवसर पर समस्त ग्रामीण पुरूष एवं महिलाएँ, बाल एवं वृद्ध एकत्रित हो जाते है। पूजा से दो दिन पूर्व व्रतनिष्ठ एवं लोकदेव उपासक जिसे भगत कहा जाता है, वे नववस्त्र धारण कर सलहेस महाराज के पूजा स्थल पर विराजमान होते हैं उनके साथ सम्पूर्ण गाँव- वासी की सद्भावना श्रद्धा भाव एवं निष्ठा निहित रहती है। भगत मंडली ढोल एवं मंजिरा, झाल एवं करताल आदि वाद्य यंत्रों से सलहेस लोकदेव का वन्दन, पूजन एवं अभ्यर्थना करते हैं। फलस्वरूप कुछ ही देर के बाद पूजा स्थल पर विराजमान भगत का शरीर रोमांचित हो उठता है और धीरे-धीरे उनका शरीर झूमने लगता है। सुस्थिर

Scanned with OKEN Scanner

एवं संयमित शरीर, शरीर का अंग प्रत्यंग फरकने लगता है। समक्ष में प्रस्तुत डाली में दूर्वाक्षत, पान आदि से उपस्थित कारणीयों का आहवान किया जाता है तथा भगत अपने कर कमलों से उन्हे वरदान स्वरूप दूर्वाक्षत प्रदान करते है जिससे उनकी मनोकामना पूर्ण होने की संभावना प्रवल हो जाती है। ऐसी मान्यता है कि जब भगत के शरीर में लोकदेव सलहेस का भाव आता है, तभी वे कारणीयों अथवा रोगियों के कष्ट निवारण हेतु अपना आशिर्वाद अथवा वरदान देते हैं, उस समय का वातावरण आध्यात्मिकता के सागर में डुबकी लेते है । श्रद्धा एवं भक्ति से सारावोर हो जाते है तथा भगत सलहेस लोक देव की भक्ति भवना में लीन हो जाते है, उसी प्रकार जिस प्रकार भगवान शिव की मंदिर में पुजारी पूजा करते समय श्रद्धा एवं भक्ति मे डूब जाते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि मिथिलांचल की लोकगाथाएँ संगीत एवं श्रद्धा भाव से ओत-प्रोत है । वस्तुतः मैथिली लोकगाथा लोक संगीत एवं श्रद्धा का समन्वित रूप है जिसे मिथिलांचल के जन-मानस गा-गाकर आनन्द विभोर हो उठते है।

संदर्भ ग्रंथ :

1. डॉ रामदेव झा, मैथिली अकादमी पत्रिका, पटना ।
2. महेन्द्र नारायण राम, मैथिली लोकगाथा स्वरूप विवेचन एवं प्रस्तुति, साहित्य अकादमी नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2007, पृष्ट सं.- 1 क

Scanned with OKEN Scanner

बिहार के लोक-नृत्यों का सांगीतिक अध्ययन

कुमारी मेनिका*

प्रारम्भ से ही नृत्य और गायन लोक जीवन का एक अभिन्न अंग रहा है । प्राणियों का आनंद विभोर हो जाना, दुःख में झुँझला पड़ना या विरक्ति आदि भावों का प्रकट करना नृत्य का स्वरूप है । शासन के उलट-फेर के कारण इसपर लगे प्रतिबन्ध के बावजूद भी इसका प्रवाह गतिमान रहा । जनजातीय एवं लोकनृत्यों ने हमारी प्राचीन विरासत को आज भी संजोये रखा है। यहाँ विविध जातियों, भाषाओं, धर्मों संस्कृतियों व लोक परम्पराओं का संगम है।

प्रत्येक प्रदेश के लोकनृत्य की अलग-अलग पहचान है । असम का 'मिसिग बिहू', सिक्किम का 'चाक छम', मणिपुर का 'लाई हरोबा', पश्चिम बंगाल का 'रवा', उड़ीसा का 'दालखई संबलपरी', हिमाचल प्रदेश का 'छम छलक', बिहार का 'सरहुल' 'करमा', 'सेहराय', 'डांगा', जतरा, 'नचारी' झिझिया', 'पवरिया', 'जट-जटिन' कीर्तनियाँ, आदि प्रमुख है।

गीत के साथ वाद्य एवं नृत्य का प्रयोग सर्वकालिक रहा है। महाभाष्य, 'नाट्यशास्त्र', भरतार्णव, आदि श्रेष्ठ ग्रन्थों में नृत्य का विशेष उल्लेख मिलता है । 12वीं सदी के ग्रन्थ मानसोल्लास में भी संगीत तथा नृत्य का विशद वर्णन, मिलता है। 12वीं सदी के ही ग्रन्थ 'अभिनयचन्द्रिका' जो महेश्वर महापात्र द्वारा लिखी गई है, प्राचीन नृत्यों के साथ-साथ प्रादेशिक नृत्य-शैलियों का परिचय कराती है । शुभंकर का 'संगीत दामोदर' और 'हस्तमुक्तावली' आसाम की प्राचीन नृत्य कला का विवेचन करता है। वर्णरत्नाकर में भी कई प्रकार के लोकगीत लोक नृत्य, एवं लोक कथा का उल्लेख मिलता है। 18वीं सदी के यूरोपीय यात्री 'क्राफोर्ड' की लेखनी में भी बिहार के लोक नृत्य का उल्लेख मिलता है।

बिहार के प्रसिद्ध आदिवासी, संथाली लोक नृत्य न केवल बिहार में बल्कि पूरे देश और विश्व में प्रसिद्ध है। यहाँ के लोक नृत्यों में आदिवासी जीवन की लोक संस्कृति मुखरित होती है। आदिवासियों के लोक नृत्यों में स्त्री और पुरूष दोनों को सहभागिता समान होती है। ये लोग नृत्य समूह में गोलबन्द होकर करते हैं। आदिवासी लोक नृत्य की मनोरिम छटा तब दिखती है जब सरहुल, करमा, जतरा, घुरिया आदि पर्वों के अवसर पर ये छोटे-छोटे समूह बना कर झाड-फानुस से युक्त प्रांगण या वन आच्छादित जगहों पर 'हड़िया' एक विशेष पेय पीकर झूम-झूम कर नाचते हैं।

आदिवासी समुदाय सरहुल और करमा की विशेष रूप से तैयारी करते हैं। वसंत के आगमन से ही सरहुल की तैयारी में जुट जाते हैं। इसी प्रकार वर्षा के बाद करमा की तैयारी करने लगते हैं । ढोल और मांदर की थाप पर करमा गीतों और नृत्यों की छोटी-छोटी टोलियाँ झूम-झूम कर मनमोहक, नृत्य करते हैं। करमा गीतों में नारी और पुरूष के शाश्वत सनातन और प्रेमपूर्ण आकर्षण को अभिव्यक्त किया जाता है। जहाँ नारी पक्ष और पुरूष पक्ष अपनी-अपनी टोलियों में एक दूसरे के आकर्षण, प्रेम और पौरूष का वखान गीत और नृत्य के माध्यम से करते हैं।

* शोध-छात्र, स्नातकोत्तर संगीत विभाग, ति.मां. भागलपुर विश्व विद्यालय, भागलपुर

संथाल परगना के आदिवासी समुदाय 'माधी' मगडोल एवं 'देसई' लोक पर्व के अवसर पर 'झींका और डागा' नृत्य सामूहिक रूप से करते हैं । वहीं उरांव और मुन्डा आदिवासियों में करमा के साथ-साथ 'जदुर और जतरा' नृत्य का भी विशेष स्थान है। आदिवासी पुरूष समाज में एक विशेष प्रकार का नृत्य 'पंका' या 'पैकिटा' विशेष रूप से प्रसिद्ध है। इसे युद्ध नृत्य भी कहा जा सकता है। इस नृत्य में परम्परागत वस्त्र एवं अस्त्र-शस्त्र से लैश होकर बड़ी तीव्र गति से हुंकार भर-भर के नाचते हैं।

आदिवासी लोक नृत्य अपनी विशेष शैलियों के लिए भी प्रसिद्ध है। कमों-बेस सभी आदिवासी नृत्यों में घेरा डालकर नाचने का अदभुत रिवाज है। हाथ-में-हाथ डालकर वृत्ताकार घेरा बना कर नाचना उनका आकर्षण का केन्द्र होता है। 'सरहुल और करमा' नृत्यों में अर्द्ध वृत्ताकार नाचते हुए भी गोलाई में घूमने का विशेष रिवाज है। उरांव समुदाय धुरिया नृत्य में केन्द्र से परिधि तक पंक्ति बनाई जाती है, जो एक प्रकार से घड़ी की सुई की तरह घूमती है। इनके विवाहों में भी नृत्य का विशेष समावेश रहता है। इन पर्व त्यौहारों के साथ-साथ कृषि पर आधारित त्यौहारों का भी महत्व कम नहीं था। जैसे बीज डालने, फसल तैयार होने तथा नये अन्न की शुरूआत होने के अवसरो पर मनाए जाने वाले समारोहों में भी नृत्य की धूम होती है, जिसमें गैर आदिवासी समुदाय के लोग भी भाग लेते हैं।

संक्षेप में कहें तो आदिवासी नृत्य के मूल में भी प्रवृति और पूर्वज पूजा ही मुख्य है, परन्तु जादू-टोना, मंत्र-तंत्र अंधविश्वास आदि ने भी इनके जीवन को काफी प्रभावित किया। इन सारे अवसरों पर नृत्य की एक अपनी महत्ता रही है।

लोक नृत्य के मामले में मिथिला भी अपना स्थान रखता है। यहां मैथिल कोकिल विद्यापति के सरस और सुन्दर पदों को गाकर नृत्य प्रस्तुत करने की एक अदभुत शैली है। जिसे 'नचारी' कहा जाता है। 'झिझिया' और संतरी नृत्य यहाँ की महिला और पुरूष दोनों मिलकर करते हैं। मिथिला के अन्य लोक नृत्यों मे रामलीला, कुंजवासी, नारदी, विद्यापद आदि नृत्य मुख्य है। इन लोक नृत्यों में मिथिला के इतिहास और संस्कृति का सुन्दर रूप प्रस्तुत होता है।

बिहार के लोक नित्यों में भिखारी ठाकुर का 'विदेशिया' भोजपुर क्षेत्र का बड़ा ही प्रसिद्ध नृत्य हैं लोक मनोरंजन में बिदेशिया', 'सामा-चकेला और 'पवरिया' भी भोजपुर क्षेत्र से लेकर सम्पूर्ण बिहार और भारत में अपना स्थान रखता है। आज भी जहाँ हॉलीबुड और बॉलीबुड की धूम हैं बिदेशिया नृत्य दर्शकों को अधिक भाती है। भोजपुरी गीत एवं नृत्य ने भारतीय सिनेमा को भी काफी प्रभावित किया है।

बिहार के अन्य लोक नृत्यों में मगध क्षेत्र का 'जट-जटिन' 'होरी', 'चैता, 'झूमर' सोहर, वंगुली, चौहट आदि प्रसिद्ध और विख्यात हैं। विवाह लगन एवं जन्मोत्सव के अवसरो पर झूमर, सोहर आदि लोक नृत्य काफी प्रसिद्ध है। इन नृत्यों के अलावा 'वगुली' और 'चौहट' भी यहाँ का प्रसिद्ध और अपने तरह का अनूठा नृत्य है। इसमें महिलाएँ दो दलों में वट कर गाती और नृत्य करती हैं, जिसे सामान्यतः पुरूषों को देखने की मनाही रहती है।

बिहार की अंगिका लोक गाथा और नृत्यों भी काफी प्रसिद्ध है । अंगिका भागलपुर, मुंगेर, खगड़िया, सहरसा, पूर्णियां, मधेपूरा, कटिहार, साहेबगंज, दुमका, देवघर आदि जिलों की केन्द्रीय लोक भाषा है। बाबा विसुराय की गाथा अंगिका लोक गाथा का एक आधार स्तंभ है। अंगिका के महायात्रा गीत डॉ. तेजनारायण कुशवाहा का एक मौलिक स्तंभ है। अंगिका गीत में श्री राम जन्मोत्सव एक अदभुत है जिसे नृत्यपूर्ण तरीके से प्रस्तुत किया जाता है। 'अंगिका' जतसार' श्री नरेश पाण्डेय चकोर द्वारा संकलित एक लोक गीत-संग्रह है। ये गीत चक्की चलाने या धान अथवा अन्य फसलो की निकौनी करने के समय ग्रामीण महिलाएँ गाती और नृत्य करती हैं।

वर्त्तमान में अंगपुत्र से सम्मानित अंगिका लोकगायक और गीतकार 'छैला बिहारी' ने अंगिका गीत और नृत्य को ग्रामीण परिवेश से उपर उठा कर रूपहले पर्दे तक पहुँचा दिया।

Scanned with OKEN Scanner

निष्कर्षतः बिहार के लोक नृत्यों के सम्बन्ध में यह कहना समीचीन होगा कि इसमें संभावनाएं अपार हैं और इसका आकर्षण निराली। वर्त्तमान समय में लोक नृत्य के प्रति लोगों का लगाव बढ़ा है और शहरी चकाचौंध में भी इसे सम्मान मिल रहा है। आवश्यकता है इसे फुहड़पन से बचाने की और सजाने संवारने की। बिहार की यह कला अद्भुत और निराली है, इससे यहाँ की सभ्यता और संस्कृति की पहचान मिलती है।

संदर्भ- ग्रन्थ

1. एडवर्ड टी. डाल्टन ; ट्राइबल हिस्ट्री ऑफ ईस्टर्न इन्डिया, कौसमों पब्लिकेशन, नई दिल्ली-1978.
2. के.एम. अशरफ; लाइफ एण्ड कन्डिसन्स ऑफ दि पीपुल ऑफ हिन्दुस्तान, कलकत्ता-1935
3. आर.आर. दिवाकर; बिहार थ्रू दि एजेज, ऑफिशर लॉग मेन्स, कलकता, 1959.
4. कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ बिहार, वॉल्यूम- 1 से 4
5. बिहार डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, पटना, भागलपुर, मुंगेर, गया, पूर्णिया।
6. वर्णरत्नाकर ;
7. प्रो. विद्यानारायण ठाकुर (स.) महाकवि विद्यापति, विद्यापित की सौन्दर्य भावना- 1968
8. डॉ. पुष्पम नारायण (स.) भैरवी, संगीत शोध, पत्रिका वर्ष-1 अंक 1, 2009 ल. ना. मि. वि.वि. दरभंगा।
9. अंग माधुरी, मासिक पत्रिका, वर्ष-10 अंक- 8 (सं.) नरेश पाण्डेय "चकोर" शेखर प्रकाशन, पटना।
10. डॉ. निर्मल कुमार सिंह, अंगिका संस्कार गीतों का अध्ययन, 1976.

Scanned with OKEN Scanner

मिथिला में प्रमुख लोकनाट्य

डॉ. नरेन्द्र नाथ झा*

भारत में नाट्य रचना की परम्परा प्रारम्भिक युग से ही मिलता है। वैदिक काल, रामायण काल, महाभारत काल आदि सभी कालों में अभिनय का उल्लेख मिलता है। महर्षि पाणिनि एवं कौटिल्य भी अपने ग्रन्थ में इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं। संस्कृत काव्य रचना काल में नाटकों की रचना पराकाष्ठा पर थी। समय के साथ संस्कृत भाषा के स्वरूपों में परिवर्तन होते रहने के कारण नाटकों में प्राकृत का प्रवेश हुआ। पुनः नाटकों की सम्पूर्ण प्रस्तुति प्राकृत में ही करने का प्रयास किया गया। राजशेखर के कर्पूरमञ्जरी इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। प्राकृत युग के समाप्ति के बाद अपभ्रंश का आगमन हुआ। उसके पश्चात नाट्य रचना में भी नवीन परिवर्तन हुआ।

साहित्य के अन्य विधा की तुलना में भारत के विभिन्न जनपदों में सर्वाधिक नाटकों की रचना मिथिलांचल में ही हुआ। यही कारण है कि इसका इतिहास अतिप्राचीन एवं प्रौढ़ है। शिष्टवर्ग और निरक्षर समाज में साहित्य की अभिरूचि उत्पन्न करने के लिए मैथिली साहित्य के मनीषि नाट्य रचना की ओर उन्मुख हुए। देश और काल के आधार पर मानवों का मूल्य परिवर्तन होता रहा, युगों के गर्त में जहाँ उसकी जर्जर परम्परावादी सिद्धान्त अटक गया, वहाँ साहित्य भी समय के मांग के साथ परिवर्तित हुआ। मैथिली नाटक, अपने कठिन यात्रा को पार करके आज चौराहे पर उत्कृष्ट रूप में खड़ा दिखाई देता है ।

मैथिली नाटकों के प्रसंग में सन् 1962-63 में नवीन रीति का ही विचार किया गया। इससे पहले डॉ. जयकान्त मिश्र ने मैथिली के मध्यकालीन नाटकों का विस्तार से वर्णन कर तीन भागों में विभक्त किया हैं–

(1) मिथिला के मैथिली नाटकों का साहित्य , जिसे कीर्तनिञा नाटक की संज्ञा दी गई।
(2) नेपाल का मैथिली नाटक साहित्य एवं
(3) आसाम में विकसित मैथिली नाटक साहित्य जो अंकीया नाटक के नाम से प्रचलित है ।[1]

लेकिन प्रो॰ रामानाथ झा अपने प्रबंधसंग्रह में प्रकाशित मैथिली नाटक नाम के प्रबंध लेख में तर्कपूर्ण रीति से सिद्ध कर दिया है कि मिथिला में न तो मैथिली के अभिनय की परम्परा थी और न ही कोई नाटक आधुनिक युग से पूर्व लिखा गया। उन्होंने इस प्रसंग में जो तर्क दिया है वह समीचीन है। प्रो॰ रमानाथ झा अपने प्रबंध संग्रह में कहा हैं कि–

कुछ दिन पहले मेरे सुहृदय डॉ॰ जयकान्त मिश्र ने मैथिली नाटक के प्रसंग में एक नवीन कथा का उत्थान किया। उन्हें किर्तनियाँ नाटक का पता चला, जो मिथिला की प्राचीन परम्परा के अनुसार था। उन्हें यह भी मालूम हुआ कि उमापति का परिजातहरण और लालकवि विरचित गौरीस्वयंवर इन दोनों नाटकों का अभिनय किर्तनिञा करता था।

तब उन्होंने स्वीकार किया कि प्राचीन काल में नाटकों की जो रचना होती थी उसमें संस्कृत नाटक जैसी भाषा है लेकिन बीच में कहीं -कहीं मैथिली में गीत को प्रस्तुत किया गया जो किर्तनिञा के द्वारा गाया जाता था।[2]

प्रो॰ रमानाथ झा इसी प्रसंग में पुनः कहते हैं कि किर्तनिञा नर्त्तकी के समुदाय का नाम था जो

* डी. लिट्. गवेषक, विश्वविद्यालय मैथिली विभाग, ल॰ ना॰ मि.वि., दरभंगा ।

विशुद्ध मैथिली परम्परा का नृत्य करता था और विशुद्ध मैथिली रीति से मैथिली गीतों का गान करता था।[3]

डॉ दुर्गानाथ झा श्रीश ने मैथिली साहित्य का इतिहास नामक पुस्तक में कहा है कि कीर्त्तनिआ के हेतु पश्चात् केवल दो नाटकों को लिखा गया विश्वनाथ झा का उषाहरण और शिवदत्त का पारिजातहरण[4]

मिथिला में प्रचलित नाट्य परम्परा को यहाँ दो भागों में विभक्त करना युक्तिसंगत होगा—**संस्कृत मूलक और लौकिक मूलक**

संस्कृत मूलक नाट्य परम्परा—इस परम्परा में ऋग्वेदकाल में भी सामगायन की परम्परा विद्यमान रही है। उस समय यज्ञानुष्ठान में ऋत्विज उच्च स्वर में सामगायन करते थे। यही सामगायन संगीत शास्त्र की आधारशिला है।[5]

ऋग्वेद के सूक्त से ज्ञात होता है कि सोम विक्रय के अवसर पर अभिनय होता था जिसका उद्देश्य दर्शक का मनोरंजन था । अश्वमेघादि यज्ञ के अवसर पर तथा उसके साथ होने वाले अवकाश समय प्राचीन आख्यान कहने की परम्परा थी। यद्यपि इस प्रकार का नाटक नहीं होता था तथापि निसंदेह कहा जा सकता है कि उसमें संस्कृत नाट्य कला का बीज विद्यमान था ।

संस्कृत साहित्य की परिधि में वैसे तो बहुत नाट्यकार हुए किन्तु संस्कृत नाट्य साहित्य में भी हर्षदेव जिनका तीन नाटक उल्लेखनीय हैं—प्रियदर्शिका, रत्नावली, नागनन्द ।

मैथिल संस्कृत नाट्यकारों ने संस्कृत नाट्य साहित्य की वृद्धि करने में उत्साहपूर्वक अपना सकारात्मक योगदान दिया है । उन्होंने समयानुकूल उसमें नया-नया प्रयोग भी किया । जिसका प्रमाण है मिथिला में प्रचलित त्रयभासिक नाट्यकृति । इन नाटकों में संस्कृत और प्राकृत के अतिरिक्त मैथिली का भी समावेश किया गया है गौरीस्वयंवर नाटक जिसमें शिव पार्वती के विवाह विषय के कथा को लेकर लालकवि संस्कृत प्राकृत मिश्रित मैथिली गीतमय गौरी स्वयंवर की रचना की। इसमें संस्कृत एवं प्राकृत का अंश अत्यन्त गौण है। नाटक का स्वरूप मुख्यतः मैथिली गीत पर ही खड़ा है। इसमें नैनायोगिन, परिछन कोहबर इत्यादि मिथिला की संस्कृति एवं परम्परा का द्योतक है।[6]

महाकवि नन्दीपति विरचित संस्कृत प्राकृत मैथिली मिश्रित नाटिका है कृष्णकेलिमाला। इसमें संस्कृत और प्राकृत गौण तथा मैथिली गीत प्रधान है जैसा कि नन्दीपति कहते हैं कि—

जनमल यदुकुल बालक बाल कमल मुख रे ।
सुर-नर मुनि गन पालक अति सुख रे ।[7]

संस्कृत नाटककार कवि कुल गुरू कालिदास कहते हैं कि संसार में सभी प्राणियों की रूचि भिन्न-भिन्न हैं लेकिन नाटक के उपयोगिता के विषय सभी का मत एक ही है । भिन्न - भिन्न रूचि रखने वाले प्राणियों के चित्त को नाना प्रकार से मनोरंजन करने का साधन है नाटक । इस सम्बन्ध में प्रथम नाटककार भरत मुनि कहते हैं कि -

यानि शास्त्राणि ये धर्माचानि शिल्पनीयाः क्रिया।
लोक धर्म प्रवृत्तानि तानि नाट्यं प्रकृतिकम्।[8]

अर्थात् शास्त्र, धर्म, शिल्प और लोक क्रिया-लोक प्रवृत्त है जिसे नाटक कहा जाता है।

मिथिला में लोकनाटक की प्रस्तुति अनुष्ठानगत परम्परा द्वारा होता है। जिसके अंतर्गत लोकमंच के स्वरूप का वास्तविक दिग्दर्शन होता है यथा— नैना-योगिन, दसौत, डोमकछ, सामा-चकेबा, झिझिया, जट -जटिन, रमखेलिया , लोरिक, सलहेस, गोपीचन्द, विदापत्र, हरिलता, बिहुला, चौपहरा, पमरिया, नारदीय, भाव, झड़नी आदि का उल्लेख किया गया है ।

अब मिथिला में उपर्युक्त लोक नाट्य के विषय वस्तु एवं प्रस्तुति के संबंध में अलग - अलग विवेचन करना ही युक्तिसंगत होगा—

(1) **नैना योगिन**—नैना शब्द का सम्बन्ध नयन तथा योगिन शब्द का सम्बन्ध योगिनी से है । इसका संबंध मिथिला में विवाह के अवसर पर होने वाला एक व्यवहारिक परम्परा से है जिसमें विवाह के अवसर पर ब्रह्मचर्य के वशीकरण के लिए नैना-योगिन तांत्रिक प्रक्रिया अपनाया गया है जिसका सम्बन्ध कामरूप से है।

Scanned with OKEN Scanner

(2) **दसौत**—भारतीय संस्कृति में विवाह को पुरुषार्थ कर्म की संज्ञा दी गई है, इसमें पत्नी के शरीर, प्राण, मन आदि का दृढ़ सम्बन्ध पति के शरीर, प्राण, मन से कर देना इसका मुख्य लक्ष्य है। यह विवाह के दसवें दिन मानाया जाता है जिसमें कन्या की माता एक थाली में दस वत्ती जलाकर इस तांत्रिक प्रक्रिया को सम्पन्न करती है। इस क्रम में अन्य-अन्य वत्ती में पृथक-पृथक, कृष्ण-रूक्मिणी, महादेव-गौरी, इन्द्र-शची, मार्कण्डेय, प्रजापति, तारा आदि के सौभाग्य जैसा वर-वधु के सौभाग्य की कामना की जाती है ।

(3) **सामा-चकेवा**—सामा-चकेवा का सम्बन्ध मूलतः कृषि से है । इस लोक नाट्य के अभिनय के द्वारा बहन अपने भाई के घर में धन्य-धान्य वृद्धि की कल्पना करते हुए लक्ष्मी का आवाहन करती है। सामा-चकेवा लोक नाट्य में प्रचलित पात्र-चुगिला, सतभईयां, वनतीतर, खञ्जन चिड़ै, झाँझी कुत्ता एवं वृंदावन आदि उल्लेखनीय है। उपर्युक्त पात्र को एक वंशपात्र में रख किसी खेत में रखती है जिसका तात्पर्य उपज वृद्धि से है। यह नाट्य कार्तिक पूर्णिमा को जुते हुए तैयार खेत में सामा को चूड़ा दही एवं गुड़ भोजन कराकर विसर्जन किया जाता है।

(4) **जट-जटिन**—यह पद्यवद्ध लोक नाटक है। इसके प्रस्तावना में नृत्य, गीत एवं सह-गान, एवं संवादगीत द्वारा उत्सव उल्लास के लिये उद्दीपन के भाव की प्रमुखता है। इस लोकनाट्य के अभिनय के उपरान्त महिला द्वारा हल जोतने की परम्परा है। अना वृष्टि होने से स्त्री के द्वारा हल जोतने तथा मेढ़क को कूटकर पड़ोसी के आँड़न में फेकने की परम्परा है। इसमें वर्षा के अभाव में सुखाड़ का विस्तृत चित्रण किया गया है।[9]

(5) **झिझिया** - इस नाट्य का अभिनय नवरात्र में प्रारंभ होता है तथा विजया दशमी के दिन यह समाप्त हो जाता है। इसमें चार-पाँच घड़े में कलात्मक ढंग से छिद्र किया जाता है तथा उसके पेनी में दीप जलाया जाता है। घड़े - पर घड़ा अर्थात् पाँच से सात घड़ा एक स्त्री के माथे पर रख कर नृत्य किया जाता है। इससे सम्बन्धित ही गायन होता है। इस लोक नाट्य के अभिनय द्वारा मिथिला के पुरातन परम्परा डाईन (डाकिनी) योगिन को गाली दी जाती है जिससे हमारे समाज में भविष्य में किसी प्रकार का उपद्रव न हो।

(6) **नारदीय**—मांगलिक अनुष्ठान के पश्चात् नारदीय लोक नाट्य का आयोजन किया जाता है। मिथिला में नारदीय का आयोजन भगवती के पूजा-अर्चना के बाद किया जाता है इसमें भक्तगण यशोगान को गाकर अपने आराध्य देव को प्रसन्न करते हैं । इस नाट्य को देवी-देवता के पूजा स्थल पर किया जाता है।

(7) **झुमरि** : मिथिला मे झुमरि लोक - नाट्य की परम्परा है। इसमें भाई बहन का स्नेह परिलक्षित होता है। इसमें निःस्वार्थ वात्सल्य रस से पूरित हृदय की विशालता है, जो अपने बच्चों की मंगल कामना के लिए बड़े से बड़े प्रलोभन का त्याग कर सकता है, इसमें खाद्यान का अभाव, बेजोड़ विवाह, श्रृंगार प्रधान मनोरंजन और आभूषण आदि अनेक पक्षों पर प्रकाश दिया जाता है ।

(8) **रमखेलिया**—यह लोक नाट्य नेपाल की तराई में सर्वाधिक प्रचलित है। इस लोक नाट्य पर बंगाल के कृतिवास रामायण का अधिक प्रभाव है। नेपाल की तराई में देवी नृत्य, ज्यापू नृत्य, महाकाली नृत्य आदि के अतिरिक्त सरायकेला के छाउ-नृत्य में भी मुखौटा का प्रयोग किया जाता है। इसका कथानक मुख्यतः राम के वनगमन से प्रारम्भ होकर रावण बध तक चलता है। इसको अनेक खण्डों में विभाजित कर क्रमबद्ध रूप में या कभी स्वतंत्र रूप में भी प्रस्तुत किया जाता है।

(9) **डोम कछ**—डोमकछ का शाब्दिक अर्थ है डोम का स्वांग। इसका अभिनय महिलाओं द्वारा किया जाता है। पुत्र विवाह के अवसर पर जब पुरूषगण बारात चले जाते हैं तब उस रात अपने घर और आस-पड़ोस की महिलाएँ रात भर खेल-खेल में जाग जाती है तथा चोरी के भय से समाज की रक्षा करती है। इस नाट्य में विवाह के सामाजिक आवश्यकता पर जोर दिया जाता है।

Scanned with OKEN Scanner

(10) **सलहेस**–मिथिलाञ्चल एवं पूर्वी नेपाल के तराई के जन-जीवन में यह लोक-नाट्य अत्यन्त लोकप्रिय है। किन्तु मोरंगिया सलहेस एवं मिथिलाञ्चल में प्रचलित सलहेस मे कुछ भिन्नता है। इस लोकनाट्य में विदूषक की चर्चा की गई है। सलहेस के साथ सूक्ष्म शब्दों का प्रयोग हुआ है, जो उसके वीरता का प्रतीक है। इस लोक नाट्य में नृत्य तत्त्व की अपेक्षा अभिनय तत्त्व की प्रधानता है, जिसका कथानक में जीवन्तता वर्त्तमान है ।

(11) **पमरिया**–इस लोक नाटक के प्रसंग में डॉ॰ प्रेम शंकर सिंह कहते हैं कि मिथिलाञ्चल में पमरिया लोकनाट्य का प्रचार तब हुआ जब मनुष्य का जन्म पृथ्वी पर हुआ। किसी परिवार में नव शिशु के जन्म होने पर पमरिया खुशी का गीत गाने के लिये उपस्थित होता है। इस लोक-नाट्य में मूलतः तीन पात्रों का प्रयोजन होता है। एक गीत गाता है, दूसरा ढोलकी बजाता है और तीसरा झाल को बजाते हुए गीत में साथ देता है और बीच-बीच में हाँ जी, हाँ जी करता रहता है। यह नाट्य धन्य-धान्य सम्पन्न व्यक्ति द्वारा पुत्रोत्सव के अवसर पर किया जाता है।[10]

(12) **झड़नी**–इस लोकनाट्य का आयोजन मुख्यतः तजिया के अवसर पर मिथिलाञ्चल के मुसलमानों द्वारा किया जाता है। इसका आयोजन चार-पाँच या उससे अधिक लोगों द्वारा हाथ में बंश की झरनी से ताल देते झड़नी गाते हैं। मिथिलाञ्चल में तजिया को दाहा भी कहा जाता है। इसकी मुख्य विशेषता यह है कि मिथिलाञ्चल का मुसलमान विशुद्ध मैथिली में इसका गायन करते हैं।

अतः मिथिला में प्रमुख लोक नाट्य विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि यह मैथिली साहित्य की मूल निधि है। इसमें लोक जीवन की परम्परा लोक विश्वास एवं अनुश्रुति के रूप में धीरे-धीरे हमारे साहित्य को प्रभावित किया। यह परम्परा चिरंतन से विकसित होता रहा है तथा उसका प्रतिमान युग के अभिरूचि के अनुकूल परिवर्तित होता गया। मिथिलाञ्चल का लोकनाट्य और मंच विभिन्न आख्यानों पर आधारित हो विकसित हुआ। जिसका दिग्दर्शन विविधि लोकनाट्य में उपलब्ध होता है। जिसमें मिथिलाञ्चल के लोकजीवन के विभिन्न समस्याओं को प्रतिपादित किया जो हमारे साहित्य का अक्षय भण्डार है।

संदर्भ

1. मैथिली इतिहास-डॉ॰ जयकान्त मिश्र-साहित्य अकादेमी, दिल्ली-1988
2. प्रबंध संग्रह, प्रो॰ रमानाथ झा, मैथिली साहित्य परिषद्, दरभंगा-1371 साल
3. तत्रैव
4. मैथिली साहित्य का इतिहास डॉ॰ दुर्गानाथ झा, भारती पुस्तक केन्द्र, दरभंगा-1990
5. वैदिक साहित्य का इतिहास, डॉ॰ पारस नाथ द्विवेदी पृ॰ - 87
6. गौरीस्वयंवर नाटक लालकवि
7. कृष्णकेलिमाला-नन्दी पति
8. नाट्यशास्त्र भरत मुनि - व्याख्याकार - रघुबंश, मोतीलाल वनारसी दास, वाराणसी - 1964 ई.
9. जट - जटिन - जागेश्वर झा- मैथिली साहित्य संस्थान-1971 ई.
10. मैथिली नाटक परिचय प्रेम शंकर सिंह - मैथिली अकादमी, पटना - 1981 ई.

Scanned with OKEN Scanner

बिहार के लोकगीतों के अंतर्गत संस्कार गीत-एक दृष्टि

डॉ. माधुरी सिंह*

"लोक" यानि आम जनता और "गीत" यानि किसी क्षेत्र विशेष में बोली जानेवाली लोकभाषा में रचित काव्य जो लय और धुन में बद्ध अथवा निबद्ध हो उसे हम लोक गीत कहते हैं।

भारत मे लोकगीतों का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है और विभिन्न प्रांतों के लोकगीतों से हमें वहां की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों की झांकी देखने को मिलती है।[1]

भारत के विभिन्न प्रांतों में तथा प्रांतों के अंतर्गत आनेवाले विभिन्न क्षेत्रों में प्रादेशिक संस्कृति की आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न अवसरों पर जो गीत गाये जाते हैं उसे हम लोक-गीत कहते हैं।

कला का उद्देश्य भावनाओं के उत्कर्ष द्वारा रस की अनुभूति कराना है। यह रसानुभूति चाहे क्रिकेट के खेल में तन्मय होने या नृत्य-गीत आदि में एकाग्र होने से भी होती है। स्वर, ताल और लय, मनुष्य या किसी भी सजीव प्राणी के मन-मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव छोड़ते हैं, इसलिए संगीत को श्रेष्ठ कलाओं में गिना जाता है। जीवन से जुड़ी हुई जब विभिन्न परिस्थितियाँ लोकगीतों के माध्यम से फूट पड़ती है तो वे अनायास ही रस की वर्षा करने लगती है। गीतों की सरल शब्दावली और सरस धुन जो प्रत्येक व्यक्ति के समझ में आसानी से आ जाती है, अपने सुन्दर अर्थ से श्रोताओं को मंत्र मुग्धकर देती है। अलग-अलग अवसरों पर गाये जानेवाले गीत अपनी सरल भाषा और सुंदर स्वरावली के कारण क्षेत्रीय जन-जीवन को तो आकर्षित करता ही है साथ ही लोकगीत के माध्यम से मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक के जीवन में जितनी भी परिस्थितियाँ आती है उनका गुणगान शब्दों को छंद - बद्ध करके भावपूर्ण अभिव्यक्ति के साथ स्वरों के माध्यम से आम जन-जीवन तक पहुंच जाती है जो श्रोताओं को परमानंद की अनुभूति करवाती है। इन्हीं विभिन्न लोक भाषाओं में एक लोक भाषा "भोजपुरी" है जो "बिहार" प्रांत में बोली जानेवाली क्षेत्रीय भाषा है। अर्थात् हम यहां "भोजपुरी" लोकगीतों के अंतर्गत आनेवाले संस्कार गीत का वर्णन करने जा रहे हैं।

भोजपुरी लोकगीतों में कई ऐसे गीत हैं जिनका धुन एक - दूसरे से बिल्कुल अलग है जैसे - भोजपुरी लोकगीत के अंतर्गत विवाह गीत को लिया जाए तो विवाह गीत में देवी-देवताओं के गीत गाने का भी प्रावधान है क्योंकि हमारे भोजपुरी क्षेत्र में ऐसी परंपरा है कि जब भी कोई शुभ कार्य अथवा विवाह शादी का रश्म हो, शुरू करने से पहले भगवान शिव की अराधना गीतों के माध्यम से की जाती है जैसे–

1. *गाई के गोबरे महादेव आंगना लिपाई,*
   गजमती आहो महादेव चउका पूराई,
   सुनी ए शिव, शिव के दोहाई .....
2. *पुरइन पात चढ़ी सुतेली गउरादेई,*
   सापाना देखेली अजगुत
   कवना ही देशे बाजन एक बाजेला
   केकर होखेला बिआह .....

इस तरह से शिवजी का गीत गाने के बाद कहीं-कहीं भगवान राम का भी गीत गाया जाता है जैसे -

* श्री अर्जुन लाल हिरानी कॉलेज ऑफ, जर्नालिज्म एण्ड परफोर्मिंग आर्टस, सौ.यू. राजकोट

Scanned with OKEN Scanner

1. *बांसवा कटावन चलेले राजा दशरथ*
अंगुरी गरेला खपाचारा
अंगुरी का दरदे मरेलें राजा दशरथ
केकयी के परेला हकार
आव-आव केकैयारानी पलंग चढ़ी बइठहुं
धरना अँगुरी के पोर .....

जब शिवजी और रामजी का गीत हो जाए तो फिर देवी मां का भी स्मरण जरूरी होता है, क्योंकि कई परिवारों में देवी गीत के माध्यम से कुलदेवी का स्मरण किया जाता है -

1. *नीमियां के डाढ़ मइया लावेली हिलोरवा*
कि झुली-झुली, मइया गावेली गीत
की झुली-झुली .....

दूसरा गीत -

2. *कहाँ रहलू ए मइया कहाँ रहलू हो*
आ मइया हो लीपल धरती धांगाई
गइले कहाँ वां बिलम भइले हो .....

इस तरह के अनेक परंपरागत गीत गाए जाते हैं तथा उसके बाद आगे का वैवाहिक रस्म शुरू होता है अब शादी में भी दो बातें सामने आती हैं।

वर पक्ष और कन्या पक्ष की बातें जिसमें वर पक्ष के लोगों में खुशी अधिक देखी जाती है क्योंकि उन्हें दान दहेज के साथ कन्या को ब्याहकर लाना होता है इसलिए कार्यक्रम की शुरूआत वर पक्ष से ही होती है अर्थात् लड़की के माता-पिता, भाई, चाचा, मामा जो भी नजदीक के रिश्तेदार होते हैं वो सभी एकसाथ मिलकर लड़के के घर तिलक लेकर जाते हैं जिसमें घरेलू उपयोग में आन वाली सभी वस्तुएं दी जाती हैं यानि कपड़े गहने से लेकर बरतन तक दहेज में दिया जाता है फिर भी लड़केवाले को कुछ कमी ही नजर आती है और इन बातों का वर्णन गीत के माध्यम से किया जाता है।

झझकी के बोलले अनजानुबाबा
तिलकना चढ़ाएब हो मोरो बबुआ
पढ़ल पंडितवा तिलक बारा थोड़ा अइले।
बिनती से बोलले बेटी के पापा
तिलक हम चढ़ाएब, मोरा घरे
सीता कुंवारी तिलक हम चढ़ाएब .....

इस तरह से गीत के माध्यम से लड़केवालों का रूआब लड़की के पिता के उपर होता है कि तिलक में अभी भी कुछ कमी है और इसलिए मैं तिलक नहीं लूंगा और कहने का ढंग भी सहज नहीं है फिर भी बेचारा लड़की के पिता विनती भरे लहजे में बोलते हैं कि आप ऐसी बात मत कहिए क्योंकि मेरे घर में सीता तुल्य पुत्री कुंवारी है इसलिए मैं तिलक चढ़ाउंगा।

अब तिलक चढ़ जाने के बाद भोजन कराने की बारी आती है जिसमें घर आये मेहमान यानि कन्या पक्ष के लोगों को जब भोजन कराने की बारी आती है तो प्रेमपूर्वक गीत के माध्यम से स्वागत के रूप में गाली सुनाने की भी प्रथा जिसे भोजपुरी भाषा में (गारी) कहा जाता है जिसका अर्थ होता है गाली यानि हंसी-मजाक की गाली न कि लड़ाई-झगड़े की।

उदाहरण :- ओरियन-ओरियन पांत परिय गइले
जेई ना कृष्ण-मुरारीजी
रउआ के गारी, रउआ सखियन के गारी
माता जसोदा के गारीजी .....

अर्थात् तिलक का रस्म पूरा हो गया अब बारी आती है हल्दी कलश और कथा मटकोर की जिसमें घर की सुहागन स्त्रियाँ एक साथ मिलकर माटी कोरने के लिए जाती है तो अपने पित्रों को गीत के माध्यम से याद करती हैं जो परंपरागत गीत है -

संकरी गलिया रउरी (पित्रों का नाम) बाबा
आहे हाथि-घोड़ा पैरोना लेस कइसे
गढ पइसब है .....

उसके बाद मांटी कोरते समय का गीत -

काहंवा के पीयर माटी, कहां के कुदार हे
कहांवा के पांच सोहागिन माटी कोरेजास हे...

माटी कोरने के बाद हल्दी चढ़ाने की विधि आती है जिसका गीत इस प्रकार गाया जाता है

भाला ए आपन पापा भाला रउआ बानी हे....
कहिया के हल्दी सोचले रउवा बानी हे.....

हल्दी कलश पूरा होने के बाद चुमावन की विधि आती है जिसे घर की सधवा स्त्रियाँ मिलकर वर या कन्या जिसकी भी शादी हो

Scanned with OKEN Scanner

उसके हाथ में पीला चावल देकर चुमावन किया जाता है साथ में गीत भी गाया जाता है

चुमवन चलेले अम्मा सोहागिन
चुमावहु हे ललना धीरे-धीरे
बजावहु हे बिछिया धीरे-धीरे .....

उसके बाद विधि आती है "मातृ-पूजा" की जो वर और कन्या दोनों पक्षों के यहां की जाती है एक तरह से अपने पूर्वजों (पित्रों) को पिंडदान किया जाता है जो हमारे हिन्दु धर्म में लगभग सभी लोग करते हैं। इन सभी विधियों के बाद "नहवावन" की विधि आती है जिसमें पांच सोहागिने मिलकर वर का नहवावन करवाती हैं जिसमें दोनों पक्षों की विधि एक जैसी ही होती है और गीत भी एक ही होते हैं सिर्फ लड़के के यहां लड़के का नाम लिया जाता है और लड़की के यहां लड़की का। नहवावन के बाद दोनों की अपने-अपने घरों मे नजर भी उतारी जाती है राई-जवाइन से और इस अवसर का गीत इस तरह से गाया जाता है .....

1. *नदिया किनारे नैया लागी रे*
   टपकि बूंद पड़े, दुल्हन हे
   अलबेली रे नजरियो ना लागे .....

2. *राई जवाइन भाभी अँइ छे*
   देखियो रे कोई नजरी ना लावे
   दुल्हवा के रे कोई नजरी ना लावे .....

इस तरह का गीत दोनों पक्षों मे नहवावन के समय गाया जाता है। नहवावन के बाद एक और विधि होती है जिसका नाम होता है "इमली धोटावन" ये विधि भी वर और कन्या पक्ष में एक जैसी ही होती है अर्थात् लड़का या लड़की जिसकी भी शादी होती है उसका मामा उसकी मां को इमली घोटाते हैं जिसमें मामा को गाली दिया जाता है गीत के माध्यम से हंसी-मजाक के रूप में जिसका गीत भी हास्यपूर्ण ढंग से गाया जाता है -

छापारा में कापारा महंग भइले
मामा साहेब ना अइले हे,
ऐ मामा जे हँ उँ एँ मेहर मउगा
मेहरिया छोड़ी के ना अइले हे .....

अतः इस विवाह-शादी के रस्मों मे कुछ ऐसे भी रस्म होते हैं जिसमें आम आदमी यानि आम पारिवारिक लोग भी हँसी का आनंद उठाते हैं।

इमली धोटावन के बाद वहीं उसी समय मंडप में "नहछुआ" नाम से एक विधि की जाती है जिसके दौरान लड़का का नाखुन नाई अपने नोहरनी से काटता है और लाल (आलता) रंग से रंगता भी है उस समय सभी सखियाँ मिलकर नाई को गाली गाती है .....

सोने नोहरनी में रंग भरल वा
हजरमिनिया के हजमां हारन कइलेवा .....

इसके बाद दुल्हे के यहां "जोड़ा" पहनाने की विधि होती है जिसे लड़के का जीजा यानि बहन का पति जिसको भोजपुरी भाषा में बहनोई कहा जाता है के द्वारा लड़के को पहनाया जाता है। जोरा यानि वो पोशाक जिसे पहनकर लड़का शादी करने ससुराल जानेवाला है। इस अवसर पर लड़के के विवाह गीत के साथ बहनोई को गाली गाई जाती है जैसे -

1. *बाजा जावा के जनमल अन्जानु बहनोइया*
   उहे रे ले आवे अजब रंग जोरवा
   चमरा के जनमल बहनोइया उहे रे
   ले आवे अजब रंग जूतवा .....

2. *सोनल पूरावा से अइले सोनारवा भइया,*
   ले अइले सोनावा बेसा हे।
   से सोनवा पहिरेले दुल्हा, (दुल्हा का नाम)
   पहिरी चलेले ससुरार हे।
   सासु आलारी पूछे, सरहज दुलारी पुछे
   बसीं बाबु आज के रात हे,
   कइसे में बसी सासु आजु के रतिया हो
   अम्मा जोहत होइहें बाट हो।
   बटिया जोहत होइहें छतिया फाटत होइहें
   नयना ढारत होइहें लोर हो।

"जोरा" पहनकर तो बारातियों के साथ दुल्हे राजा शादी करने चल दिए परंतु उनके साथ-साथ परिवार की महिलायें भी कुछ दूर घर के बाहर तक आती हैं जो परिछावन करके वापस घर को आते समय कई गीत गाती हैं जैसे -

Scanned with OKEN Scanner

चलले अन्जानु बाबा बेटवा बिआहन हे
दह के चिड़इयां सब उड़ल जास हे
का तुहूं चिड़इयां सभ उड़ल जालू हे
हमहूं त जाइले बेटवा बिआहन हे .....

इन विवाह गीतों में ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित गीत भी गाये जाते हैं जैसे -

सुकर चलले हो अपनी बिआह करे
सोने के सोनहुला गइले छूट हो
आधा ही रहिया से सुकर
फिरि अइले हो खोल चेरिया बजर केंवार हो...
कइसे में खोली ऐ बबुआ बजर केंवरिया हो
राउर आम्मा बइढेली जेवनार हो।
गइतु बजइतु ए आम्मा डोमकच
करइतु हो तब नु बइठतु जेवनार हो

तब उनकी माँ का जवाब आता है कि -

अनकर जामालका ए बबुआ
घर भर होइहे हो जेंवली ना बनिहें हमार हो।

माँ की इतनी बात सुनकर शुक्र नामक व्यक्ति शादी करने से इनकार कर देता है।

हमरो बिआह कइले आम्मा दुखित होइहे हो
नाहिं करब अपनी बिआह हो।
मांग जे-फारि बियफइया बाट जोहेली शुकर नियरा कि दूर हो।

अतः ये सभी बातें और विधि-व्यवहार ज्यादातर लड़के और लड़की की शादी में समान भी होते हैं और कुछ अलग भी जैसे कि अब लड़के के यहां से तो बारात निकल गई मगर लड़की के यहां बारात आती है यहां का माहौल बिल्कुल अलग हो जाता है क्योंकि एक तरफ तो खुशी ये होती है कि लड़की की शादी हो रही है परंतु उससे भी ज्यादा दुःख ये होता है कि इतने दिनों से जन्म देकर पाल-पोसकर जिसे बड़ा किया उसे अब दूसरे के घर भेज देना है इसलिए खुशी और गम का मिला जुला माहौल होता है।

अब बारात आने के साथ ही गीतों का सिलसिला शुरू हो जाता है जैसे -

1. लिहीं ना अनजानु बाबा धोतिया साथे पान के बीरा
करीं ना समधियासे विनती सिर आजु नवाई
जे सिर कबहुं ना नवलें सिर आजु नवाई बेटी के
दुलरइतिन बेटी करने सिर आजु नवाई .....

ये सभी परंपरागत बातें हैं जिनमें लड़की के पिता का सिर हमेशा झुका हुआ और विनती में साथ जुड़ा हुआ होता है।

2. आरे आरे भईया अन्जानु भइया
घोड़वा के साजि रखिह हो भइया
सांझी बेरा अइहें बहनोइया त कुरखेते
लड़इया ठनिहे हो।
दिन भर भइया जीतीय अइले
सांझी बेरा हाराई गइले हो
आहे भइया हारि अइले अन्जानु
अइसन बहिना दुल्हा जीती गइले हो।

इन गीतों में जहां ऐतिहासिक और पारंपरिक बातें गीत के माध्यम से कही गई है वहीं दूसरी ओर कई गीतों में शब्दों के सुन्दर साहित्य और भाव-भंगिमाओं का चित्रण देखने और सुनने को मिलती है।

जादू भरे नैन तोरे जादू भरे नैन
ओ हमर मोहना जुलुम तोरे नैन
भृकुटि कटिली गुलाव के डाढ़ी
मुख पर मधुर मुस्कान छवि न्यारी
लतिका स्नेह के ना पावे जिया जैन .....

इस गीत में जब शादी करने के लिए दुल्हा आँगन में आता है तो उसके सुन्दर रूप और सौन्दर्य का वर्णन इस प्रकार किया गया।

इन गीतों के अलावा निरेक्षण, कन्यादान और सिन्दुर दान का भी गीत शामिल है जो सिर्फ लड़की के शादी में ही गाया जाता है कन्या निरीक्षण की विधि में लड़के का बड़ा भाई जो कन्या का भैंसुर कहा जाता है कपड़े और गहने नई बहु को चढ़ाने के लिए आँगन मे आता है तथा कन्या पक्ष की महिलायें इन नये भसुर का स्वागत हास्यमय गीतों और गालियों से करती हैं जिन्हें सुनकर लोग भी आनंद लेते हैं विवाह के इस विधि को निरेक्षण के साथ

Scanned with OKEN Scanner

बरनेत भी कहा जाता है जैसा कि गीत में भी वर्णन है -

1. *ओरीतर, ओरीहोतर बइठे बरनेतिया,*
हमरो अन्जानु हो बेटी आँखी के रे पुतरिया
दिनवां हरेलु हो बेटी भुखिया रे पियसिया,
रतिया हारेलु हो बेटी बाबा आँखी रे निनियाँ
2. *आरे-आरे भसुर तुं अइल दो दुअरिया*
सोर भइले हमरो नगरिया ना
पीतल के तु टीका ले अइल सोना के
ओपर पालिस चढ़ावल ....

बरनेत के बाद कन्यादान की बारी आती है और सारा माहौल जैसे गमगीन हो जाता है क्योंकि गीतों के साथ धुन भी ऐसी होती है जो स्वतः मन को द्रवित कर जाती है तथा सबसे बड़ी खासियत यही है लोकसंगीत की भावपूर्ण अभिव्यक्ति -

उदाहरण– 1. *सीता के सकल देखी झखेलन जनक राजा,*
अब सीता रहिहे कुंवारि गे माई
सोनवां जे रहितु बेटी फेर से गढ़इती;
सेनुरा फेरल नाहीं जाय गे भाई।
बेटवा जे रहितु बेटी फेर से बिअहिती
बेटीया, बिआहलो ना जाय गे माई।
2. *बांसवा का जड़ी-जड़ी सुन्दर धिया हो जनमेंली*
सउँसे जनकपुर अंधार, जाहुँ हम जनिती कि
धिया कोखी हो जमि हे, पियती में मरिचि हो पचास
मरिचि का झाके-झुके धिया मरि हो जइती छुटी जइते
गढ़ुआ सनूताप .....

इस तरह के करूणामय गीत वातावरण को अनायास ही भिगो जाते हैं।

हमने तो सिर्फ एक-दो गीतों का परिचय मात्र दिया है वरना अनगिनत गीत इस तरह के भोजपुरी लोकगीतों में सुनने को मिलते हैं।

अब अंत में कन्यादान के बाद सिन्दुरदान आता है और इस विधि के बाद विवाह का कार्यक्रम पूरा हो जाता है परंतु भोजपुरी लोकगीतों का प्रकार अभी पूरा नहीं हुआ क्योंकि कई ऐसे लोकगीतों के प्रकार अभी बाकी हैं जैसे सोहर, झूमर, जातसारी, बिहुला के गीत, भिखाड़ी ठाकुर का बिदेशिया गीत इत्यादि।

संदर्भ

1. संगीतशास्त्र दर्पण, शांन्त गोवर्धन पृ. 6-155
2. संगीत विशारद, बसंत पृ. 566.

Scanned with OKEN Scanner

Leadership for Global Excellence through nad Sampraday and Guru-Shishya Parampra of Indian Music

Pandit Ishwarchandra*

NAD itself is God. It is incorporated with BRAHMA. TEJ and PRANA, it is self adorned. NAD is always either in the beginning or in the middle or at last in the end. So, the world is full of NAD, i.e. NAD - "NA-AD" - thus it is clear by word NAD, it has no ancestral venue or presentlyrelations. It is out of imagination for persons and that which is that ONE by whose inspiration DHWANI, arising from ANAHAT DHVANYALOK and coming down to earth, is made to get sprung. Let it be that it becomes steady in all the linguistic motivation of the Human being through out the universe or let it be that it exposes incarnated in all the newly developed creations of LALIT KALA. Still however, everything is not possible except NADADHAR. DHVANI, adorned by SWAYAMBHU ANURANANA of SHRUTI, when it reaches to the stage of self made out status, it forms two defined divisions by names.

SWARASTHA DHWANI is settled exactly on NAD BINDU, it means that is steadily settles on SHRUTI and becomes SWAR thus, it reaches RAGSHRUSTI by help of these 12 steady SWARS, through SWARAS we get DARSHAN of different sorts of LILA of SWAR under MANDRA MADHYA and TAR SAPTAK SWAR, it shows that because SWAR is a science, SADHAK gets supreme joy mentally -ANAND due to PRATIKOPASANA under proper guidance and inspiration of SADGURU. DHVANI with words gives DARSHAN of ups - and downs of NAD as well as simple and limited LILA of NAD. Over and above, it gives some meaning of points out thing or object. Life is not an idea, Firstly life is being lived. Thereafter, man inclines through mind. Due to this, many types of ideology, manners and methods evolove. Now, let us see to SANGIT - philosophy, it is felt that so many actionable ideologies on SANGIT have been developed in Northern BHARTIYA SANGIT out GURU SHISHYA PARAMPARA and its history are its witnesses. Different types of SANGIT in GHARANA systems have been developed due to orderly development of ANAHAT to AHAT. Does it mean that SANGIT it to be known

* Dean & Head, Faculty of Performing Arts, M.S. University. Baroda.

Scanned with OKEN Scanner

by GHARANA? Or from NAD SAMPRADAY? This is a clumsy subject to understand by every SADHAK. Actually, NAD is spread all over universe and it belongs to all; still however, none can claim its belonging.

NAD SAMPRADAY is MUKTIDAYAK path, it seems that relationship of SANGIT with GHARAN has developed after a very long time, what does SADHAK wish to get from wel - continued SADHANA of SANGIT? What is his aim? It is very important to get untainted and deep understanding with himself. If some aim is in the mind, then and then, a goal can be achieved as per expection. SANGIT cannot be understood by different type of singing systems, but some inner instinct and understanding of the person wouls be achiev ed to lead to how different sorts of system of SANGIT have been developed due to UPASANA of NAD BRAHMA. Firstly, SADHAK has to develop within himself an ideology in complete perfection and ahs to sacrifice his whole life into SANGIT YAGNA. For this continuity in practice of NAD and blessing of GURU are necessary. Really speaking spgherical endlessness and VIRAT WARUP DARSHAN can only be achieved through wel - versed GURU having full perfection - only due to this idelogical perfection importance of GURU - SHISHYA - PARAMPARA has sustanid. SWAR - LAY - knowledge is : basically required in SANGITOPASANA and to get acquainted GURU, with matured knowledge in required. Without knowledge of grammer, language cannot be spoken as well as can not be written to get command on language is very easy and simple. But to get command on SWAR language is SANGIT, some what more TAPASYA and proper SADGURU is needed. Actually, disability of SADHAK is seen in losing originality to understanding while mostly in copying and practicing system of GHARANA after he obtains SWAR - LAY - knowledge. If we like to up - lift BHARATIYA SANGIT unbounded ideology of SANGIT must be highly respected.

Matured people devoted to SANGIT should show their wisdom and hearty benevolent attitude sincerely for development of SANGIT; so that it may get there it is also at the first instance necessary to get admission in realm of SANGIT or GHARANA with full attachments to SANGIT join the everlasting YATRA of SANGIT leaving GHARANA. If this does not occur the proverb "SA VIDYA YA VIMUKTAYE" shall prove worthless. The PARAMPARA which has been moulded due to operative continuity of GHARANA is mostly consisting of special mode of system by its ORINATOR who has developed by his SADHANA and unparalled environment by wisdom and with mental intringic rhythemetic waves. It is quite natural that new environment definitely gives supreme joy but it cannot be said, that this very joy can also be enjoyed by his discoples. This seems to be the cause why GHARANA - systems have vanished. Does it mean that these GURUS have not imparted idea of unbounded SANGIT to their disciples? Or does it mean that disciples have committed mistake to understand their GURUS? It is always seen that artists attached to some GHARANA system have always the originator of GHARANA in their mental field. Subsequent to this, it also clearly inspires from history of SANGIT that decendant - disciples might

Scanned with OKEN Scanner

have become some what in efficient and immature in knowledge. There cannot be quarrels, vanity, ousting attitude in Devine Art like SANGIT. Actually SANGIT builds bridge between persons inter se filled with joy, Really speaking, people of world, inter-linked with thread of SANGIT form one-ness and heavenly atmosphere created by SANGIT. Whether can this happen? Yes, definitely. It is possible only when GURUS departed from GHARANA - mindedness as well as being UPASAK of the very system, though acquainted to realistic, religiously, devoted, by themselves relieving their deciples directly, connect them with NAD SAMPRADAY permanently. In GHARANA system, mostly personality - worship is inevitable, when ADVAIT BHAV between GURU and SHISHYA. GURU by touching intringic internal CHETANA elites the inspirations of disciple regarding SANGIT. During this discomfortable condition, the protection of GURU internally guides him constantly when wuch benevolent spirtually sacred GURU showers blessings on the diciple, he enjoys supreme joy internally and heavenly heappiness automatically spreads over this earth. At the same time, it fills this whole world with breezes of joy; If this will really happen, the motto of GURU-SHISHYA-PARAMPARA will definitely be achieved and SADHAK will cherish real throbbing arising in heart.

Notes for explanation :

NAD - sound, voice
GURU - Priest,
TEJ - internal gracious light
DHVANI - Rhythemetic tone
SWAYAMBHU - Automatically
NAD BINDU - a point of NAD
DARSHAN - a happy look
SADHAK - who tries to learn
ANAND - joy
MUKTIDAYAK - Reliver
GHARANA - a system of singing
ANURANAN - keeping self behind or following
SWAR - A steady note on shruty with fixed vibration.
TAR SAPTAK - a method of tunning on stage.
"SA" - first note of SAPTAK
SA VIDYA YA VIMUKTAYE - knowledge that which relieves or comforts all
PARAMPARA - continuity
BRAHMA - Supreme intensive element
ANAHAT - a special place where from instinct of sangit arises
DHWANYALOK - a sacred place where from ANAHAT spreads.
SAMPRADAY - a group of particular purpose
SHISHYA - Disciple
PRAN - Element of life
LALITKALA - Art for amusement.
SHRUTI - Storage of hearing
RAG - a disciplined singing
MANDRA - one type of lower swar
PRATIKOPASANA - individual worship
LILA - an exposition of art
AHAT - spreading from ANAHAT
UPASANA - worship
NADADHAR - Resting depending place of NAD
BRAHMA - Supreme intensive element

Scanned with OKEN Scanner

The various facets of semi-classical music

Dr. Shyam Mohan*
Dr. Arbind Kumar**

The semi-classical genre of music is replete with expression, beauty, romance and melody. This style lays equal stress on 'Swara' and 'Shabda' (words). It is musically related with the finer elements of literature. Infact, it's main objective is to ventilate the connotations of the composition. The words are filled with melody which give life to the Swaras. The Swaras epitomise the poetic aspects of union and separation and sentiments of the 'Shringar Rasa.' This style can be likened to the continuous flow of a river which demonstrates the march of life which in turn. encompasses the pulsating 'Aroh-Avaroh.'etc.

Though this style is also characterized by Raga but without the hard and fast rules of pure classical style to make the rendition more expressive & aesthetic, this style allows the use of swaras of other Ragas as well. For the sake of beauty of the composition, this form of music uses 'Kana', Khatka', 'Murki' 'Gitkiri' 'Meend' in plenty. Since this style traces its origin to Folklores', the natural simplicity expression & sweetness is always there. In other words this is closer to heart than to mind.

The accompanists also have sufficient scope. The brief rhythmic pattern and befitting 'Mohras' supported by flourishing 'Laggis and Ladis' have a big say in this style. This style of 'Gayaki is characterised by Thumri, Dadra, Tappa, Chaiti, Kajari, Holi etc compositions.

Thumri

This genre has become most popular owing largely to its sweetness, romance and the poetic format which powerfully regales the human psyche. The credit for the publicity of this form of Gayaki is attributed to the Nawabs of Lucknow and and their court musicians. This form has a very wide spectrum ranging from the episodes of Radha-Krishna to those of his torical 'lover and beloved (Nayak or Nayika).[1] The inter play and delicacy of swaras and words, are the salient features of this style. No less important is the application of 'Kanas', 'Meend', 'Murki' 'Khatka' etc and its ornamentation by short alaaps, 'shabdalaap', 'tanas' full of emotions. Bahlava or gradual progress (Badhat) is very well depicted under this style. The performer exhibits the various shades of life in his presentation like 'Pukar', mischievous pranks, sorrow, sanyog (union), viyog (separation) request, coaxing and cajoling, anger etc. The fabric of the composition,

* Renowned Tabla Player (Bihar)
** Lecturer, Magadh Mahila College, Patna University, Patna.

Scanned with OKEN Scanner

interspersed with flow and expression leads it to its division into, two kinds - 'Bolbaant ki Thumri' and 'Bolbanao Ki Thumri' respectively. The Thumri of 'Bolbaant as it is called has flawless flow whereas the 'Thumri of 'Bolbanao' is sentiment specific or full of feelings.[2]

The Bolbaant Thumri' of Paschim Ang' is remarkable for its packed rhythmic and wonderful Bandish. Generally this thumri is recited in medium tempo set to Taalas like Teental, Addha, Ektal, Jhaptal etc. Save and except a few ragas of sombre nature this Thumri includes almost all the ragas for rendition. On the other hand the 'Bolbanao Thumri.' shows sense of comfort & relaxation and often the use of slow tempo during its presentation. More often this Thumri is set to Taalas like Jat, Deepchandi, Punjabi etc. This Purab Ang style predominantly includes Ragas like Bhairavi, Piloo, Jangla, Bihari, Jhinjhoti, Gara, Khamaj, Tilang etc which draw a lot form folklore elements. Lucknow & Benaras ae famous for 'Bol Banao Thumri. The Lucknow Ang Thumri shows in bold relief the impact of the culture of Awadh Nawabs marked greatly by coquetries, embellishments etc.[3] The recital of this kind of Thumri is punctuated with urdu couplets in between.[4] The Beneras style of recital is marked by sweetnes and simplicity and nobleness of folklores. For the expression of the feelings, this style amply shows the agony, pukar, and shooting pain in the heart so to say.[5] In keeping with the tenor of the subject, verses, Sohar, Couplets are also sung occasionally.[6] The Punjabi style of 'Bol Banao Thumri also cropped up influenced by the local elements. In this style the use of 'Tanas has a special role using profusely Kana, Khatka etc with fast Tanas. Here this style is performed in medium tempo and slow medium mixed tempo.[7]

Dadra

Unsteady, playful and romantic poetry studded with flowing Khatkas and murkis as well as artistic, aesthetic vocalism is called 'Dadra'. It is as if emotional words and imagination coming to life. One feels froglike movement here in.8 It has a medium or fast tempo rhythm more often than not set to 'Dadra & Kaharwa Taalas. Melodious and harmonious treatment of words and swaras and the rhythmic patterns differentiate it from Thumri. The impact of folk music is very vividly seen on this form. Several tunes of folk music are borrowed and sung shaping them as Dadras for example "Andheria Hai Raat Sajan Rahiyo ki Jaiyo."[9] This Dadra is a derivative of Jhoomar of Bihar's folk music. This style of Gayaki is more 'Shadba specific than Thumri. The presentation is enriched by a vocalist using couplets, verses, Kavitta in between.

Tappa

This is a different style of singing which uses the words of punjabi language. The bandish or the composition of Tappa does not attach much importance to words. This style is ornamented with 'Kana', 'Murki', 'Khatka', Tanas with gamakas, 'Boltanas etc sans alaap. There are very fast and compex tanas which require tremendous practise or Riyaz (well rehearsed throat). The rendition is marked by unstable movement and a rhythm of slow and medium tempo. Basically, Kafi, Bhairavi, Khamaj, Jhinjhoti, Pilu, Barwa, Sindura etc are the favourite Ragas for its presentation and Punjabi, Sitarkhani, Addha etc talas so far as the tal is concerned. Shori Miyan is credited for the propagation of the style of singing.[10]

Scanned with OKEN Scanner

Kajari

This form of art is associated with Rains or Rainy season, Hovering black and nimbus clouds, scintillating lightenings, pitch dark nights, sounds created by frogs, crickets, cuckoos etc are the characteristics of this form of Gayaki. The Gayaki is also embellished with Shringar Rasa in its totality. In other words both the Rasas (Union and separation) are equally important here in. The main theme of this style is love which is hugely depicted as between husband and wife, Nayak and Nayika, Lover and beloved. A wife puts a charter of demands before her husband such as to get back home sooner, demand for ornaments & clothes, showing profuse love for the spouse etc. She also expresses helplessness in enjoying Kajari since black clouds are acting as villains.[11] Swaras are amply melodious and the compositions are set to Deepchandi Kaharw etc. These together make the presentation very artistic and aesthetic.

Chaiti

This is a very sweet and dulcet to the ears style of singing. This is called chaiti since it is linked with the month chaita of Hindu Calendar. Various facets of love find their expression in this form. Some times it portrays the wife waking up her idle husband for he is sleeping even after sun rise, sometimes it gives a glimpse of taunts between husband and wife, sometimes the pure love of Radha for Krishna, sometimes the ideal conjugal love between Ram and Sita and affection of Ram for his younger brothers and vice-versa.[12] This style has a unique and peerless romanticism and sensuousness of spring. The melody and spirit of the style spills over to make the human being also dipped in the same spirit. This style is mostly rendered in Taalas like Roopak, Deepchandi, Kaharwa etc. The style has the classicism as well as the natural beauty of folk tunes.

Holi

This song style has also deep connections with spring season. The style incorporates the mixture of ecstacy, gaiety and frolicsomeness of the season. The Bandishes or the compositions portray the festival of clolours celebrated by Radha-Krishna, Sita-Rama and Parvati-Shankar. The holi compositions are mostly based on the Ragas Kafi, Sinoora etc and Taalas like Keharwa, Dadra, Deepchandi etc. In its semi classical form , the rendition lays emphasis on swar, laya (Rhythm) and intricacies of 'Bolbaant.'[13]

In addition to the above mentioned forms, the Jhoola songs, sung in the rainy season and the rendering of Ghazals also come under the head of semi-classical music.

References :

1. Dr. Sarachandra, Shridhar Pranjpey, Sangeet Bodh, Third edition, page. 120
2. Dr. Shatrudhan Shukla, Thumri ki Utpatti, Vikas aur Shailiyan, First edition, page. 227
3. Do. page. 228
4. Do. Page. 291
5. Do. page. 292
6. Arbind Kumar, Thumri : Gayaki aur Shailiyan, Sangeet Kala Vihar, May 1991, Page. 113
7. Do. Page. 113
8. Dr. Alka Deo Marulkar, Uttar Bhartiya Upshashtriya Sangeet Prakar, Sangeet Kala Vihar, May 1991, Page. 126
9. Shobha Gurtu, T series (Immortal Series), SVCC - 07
10. Prof. V.S.Nigam, Sangeet Kaumudi, Part - 4, Sixth edition, Page. 86
11. Dr. Shanti Jain, Ritugeet : Swar aur Swaroop, Page. 59
12. Dr. Shanti Jain, Chaiti, Page. 42
13. Neeta Mathur, Hindustani sangeet mein Holi gaan, Page. 116

Scanned with OKEN Scanner

Ramakien The Great Epic of Thailand

P. Medini Hombal *

Culture and heritage are almost always unique in each country, but sometimes we witness something very beautiful which seems similar to our own culture and hence becomes close to our heart. Ramakien, the great Epic of Thailand touches our hearts as it presents the story of Indian epic Ramayana in a different yet truly magical way.

Old kingdoms have been destroyed while new countries have been created, numerous wars have been fought, many races have been completely destroyed, yet no war or manmade boundary can truly eradicate a nation's heritage and culture or hold it back in iron clad hands from being spread. They spread as easily as the fragrance of a flower.

The Indian religious and political ideas began spreading to the South East Asian countries after the death of Christ. Along with that, the revered epics of India, the Ramayana and the Mahabharata also influenced the religious and social beliefs of the people of these countries. Amongst these Thailand was more influenced by Ramayana, the story of Sri Ram immensely, so that the country even had a capital named Ayutthaya (Ayodhya) and the Kings were named as Rama.

Ramayana is known as Ramakien in Thailand and by some people it is believed to be originated there rather than in India. After researching on Valmiki's Ramayana and the Ramakien, the scholars established that Ramakien was more influenced by the South Indian, Indonesian and Malaysian versions of Ramayana.[1] The story too is changed according to Thai beliefs, stripped of its religious elements and as Thailand is more prominent in Buddhist beliefs, Rama is viewed as a Thai prince who was Buddha in a previous life.[2]

Hence the story though having similar characters and the same theme of good winning over evil is presented in a very different manner than the one found in the Valmiki's Ramayana. Records of Ramakien in Thai literary works date back to the reign of King Ramkamhaeng of Sukhothai period, when stone inscriptions relating to Rama and Sita were found. The earliest version of Ramakien found is the one written by King Taksin of Thonburi (1767 - 1782). The only complete version found is that of King Rama I of Bangkok period.

The national Thai Classical Dance and Drama style Khon is most famous for its Ramakien presentations than any other Thai story, and for that King Rama II's shorter version of Ramakien is used, as it was written exclusively for

* Research Scholar, Dept. of Dance, Faculty of Performing Arts, BHU, Varanasi.

Scanned with OKEN Scanner

presentational purposes. During Ayutthaya period, performances were held in palace halls or courtyard lighted by torches presented by the royal troupe of performers.

A complete Ramakien story presentation may take days to finish as Ramakien is a very long literature with 311 characters. The most basic rule of a Ramakien presentation is that, no performance should end on a tragic note. If Rama or his brother is wounded then the performance continues till they are cured and even the death of Ravana is not shown on the stage.[3]

The story of Ramakien begins in the heaven when the demon gatekeeper Nontuk is blessed with a diamond finger, by Phra Isuan (Lord Shiva), which when pointed at someone kills the person. Phra Narai (Lord Vishnu) is asked to intervene so he disguises as a lady and tricks Nontuk to point his own finger at himself and then kills him. This story is quite similar to the story of Bhasmasur Mohini.

Before dying Nontuk says that Phra Narai could only kill him because he had four arms so Phra Narai says that Nontuk will be reborn with 20 arms and still be destroyed by me with only two arms. [4] Thus Nontuk was born as Tosakanth (Ravana), the ten faced and twenty armed demon king of Longka (Lanka) who is considered a good person who sometimes acts evilly,

While Phra Narai was born as Phra Ram, on earth as the king of Ayutthaya (Ayodhya) who eradicates evil. Phra Lak (Sri Lakshman) is Phra Ram's loyal brother and an incarnation of serpant. Phra Satrud (Sri Shatrughna) an incarnation of weapon and Phra Phrot (Sri Bharat) an incarnation of discus (Chakra) are his other two brothers. All four brothers were born to King Totsaroth (Dasharath) of Ayutthaya.

Sida (Sita) is Phra Ram's loyal consort and incarnation of Goddess Lakshmi was born as the daughter of Tosakanth (Ravana) and Montho (Mandodari). After her birth she cries "Kill the demons" three times, so Phipek (Vibheeshan) Tosakanth's smart and straightforward brother and a prophet says that the child will bring destruction for our race so Tosakanth places her in a casket and leaves her in the river, where she is found by King Chanok (Janak) of Mithila.

Phra Rama and Sida are married and then exiled to the forest for 14 years, where Sida is abducted by Tosakanth with the help of Maris (Marich). While searching for Sida, Phra Rama and Phra Lak are joined by monkey kings Sukrip (Sugreev) of Khitkhin (Kishkintha) and Thao Maha Chompoo of Chompoo. Hanuman searches and finds Sida in garden of Tosakanth.

The bridge over the ocean is then built and Phra Ram's monkey army crosses over the bridge, fights with the demon army of Tosakanth and finally wins when Phra Ram kills tosakanth (this is not depicted on stage). After the war is over Phipek is crowned as the king of Longka. Valmiki's Ramayana ends with Sita submerging herself in the earth, while in the end of Ramakien Sida is sent to the forest while returning to Ayutthaya itself. But in the end Phra Rama and Sida are reunited once again by the Gods.

The changes are interesting yet in the entire Ramakien story the most surprising

Scanned with OKEN Scanner

package is Hanuman (white monkey) the son of wind god. In India he is viewed as the son of Vayudev, who is a loyal and devoted servant of Sri Ram, a warrior and a lifelong celibate. But in Thailand's Ramakien Hanuman is viewed as a hero who is smart, loyal, funny, a general in Phra Ram's army and also amorous. And when he yawns he exhales suns, moons and stars.

He is also married having five wives, which is in complete contrast with the Indian beliefs of Hanuman being a bachelor. Benyakai, daughter of Phipek and niece of Tosakanth and Supanmatcha, daughter of a fish and Tosakanth are both wives of Hanuman and help Phra Rama to win in the war against Tosakanth.[5]

Whatever the differences in the story or the depiction of characters, yet the Ramakien like Ramayana presents a true refined culture, the basis of which lies in Indian mythology and the age old belief that good always wins over the evil, teaching to the children to be good and learned like Rama and his brothers in their lives. In a way it depicts the fine essence of Indian culture cloaked in different but similarly beautiful and elegant attire, which is always interesting to read or watch and it helps us immensely to understand the spread of Indian culture, traditions and beliefs to other nations.

References :

1. The Khon: H. H. Prince Dhaninivat & Dhanit Yupho pg. 10.
2. http://n68h78.cs.niu.edu
3. The Khon: H. H. Prince Dhaninivat & Dhanit Yupho pg. 25.
4. Khon: Masked Dance Drama of Thai Epic Ramakien by Amolwan Kiriwat, M.A. Research Thesis, Chulalongkorn University, Thailand. pg. 6
5. Khon: Masked Dance Drama of Thai Epic Ramakien by Amolwan Kiriwat, M.A. Research Thesis, Chulalongkorn University, Thailand. pg. 9.

Scanned with OKEN Scanner

Chordophones : The String Instrument

Vishwas V. Sant*

According to the ancient classication, the musical instruments were classified in four divisions in Indian music. Among the two svara instruments there are the string instruments (tata i.e. chordophones) and wondblown ones like fluts and others. The tata instruments provided rhythm; these were classified as the c vanaddha like mrdanga and others and the Ghana producing rhythm by striking against each other - tal - symbols etc. In this short article the string instruments (chordophones) are described in brief. They are divided as having one string (monochord) and many (polychord).

The bow-shaped string instrument is the earliest one mentioned in ancient literature. Hunter's bow is suggested as the probable origin of the earliest string instrument. The twanging of the bow string might have suggested its use as a toral adjunct to rhythm. From the earliest Indian sculptures, the shape of the stringed instruments was like a bow. The instrument having one string is the simplest one in which the string is tied at the upper and the lower end. The most ancient chordophone of tamils is yaza. The South Indian instrument named billadivadyam indicates its shape and perhaps its parentage (in.billu.meaning bow). The earliest instruments were perhaps the harps in the form of a now with a number of parallel strings. The notes produced by striking the strings were in descending order of the scale. The topmost string was the longest adjusted to sad of the middle register and the shortest string having half of the length of the uppermost one, produced the nisada note. Thus, the 7 stringed of chitra produced 7 notes of the scale and vipanchi having 9 strings produced 2 additional notes - antar - ganthara and kakalinisada. Ghoshaka mentioned in the NS was probably one stringed vina providing drone. Ravanahasta is the folk instrument. Its mythological origin is given in the Puranas as follows - Ravana, while worshipping Shiva offered his 9 heads to please him but the god was not pleased. When he heard the sonorous whistling sound in bamboos. Ravana cut the vein of his right hand and struck it with that of the left. The music created in this manner satisfied the deity and thus the stringed instrument Ravanahasta was originated. There are tribal instruments like ronza, gantom of hill tribes of Andhra and gingtang of Assam, which is a chordophone made of bamboo piece. From this the development of instruments like gottuvadyam, vichitravina, ekatantri and others can be understood. The

* Lecturer in Sitar, Faculty of performing Arts, M.S. University, Baroda.

Scanned with OKEN Scanner

chordophone like vichitravina appears to have develped from a kind of gingtang. Latter, in the development of vina the restoriating gourd and frets were added. It suggests being the prototype of box-shaped svaramandala. The stringed instruments of the box-type are there in the form of santoor, svaramandala and guamun.

The harp type vina is not seen in the sculptures after 10th Cen. It seems to have completely disappeared from the concerts and the folk music. There is only one survivor in the form of gogiabanu of the Rajagonda region. Bharata's ghoshaka might have been a stringed instrument providing drone. Among the monochords, the striking and plucking might have been more ancient. Stringed instruments like tuntuna and ekatari provide drone and rhythm. The Vedic instrument vana is explained by the commentator as shatatntu (100 stringed). But no more details are found. The tamboora is described as having 4 string and gourd in Sangitasara. The author states that the tamboora with fret is the sitar of modern times. The sitar is spelt as sehatara meaning having 3 strings. Some scholars give another explanation calling it saptatara (having 7 strings). The wide bridge and the Jeeva are amongst the most creative contributions of India to the instrumental music of the world. Since ancient times, the melodic music of India had two svara instruments and two instruments of rhythm (tal). The ancient classification given by Bharat describes the four types as - (1) stringed (tata), (2) wind blown (susira) and these providing thythm (3) avanaddha (the faces being tightly covered), (4) Ghana, producing rhythm by striling each other - like cymhals.

In this short article only the svara instruments of stringed type are dealt with. The vina with strings was an instrument of Gandharvas in ancient times. From the Natyasastra onwards we get various stringed instruments. The simplest one is ektari which was named as ghosaka (probably provoding drone). The two instruments described in the Catyasastra, namely, chitra and vipanchi were played by fingers and Kona. They were bow-shaped. Afterwards we do not find such instruments and they rarely appear in sculptures after the 10th century. In tribal music such an instrument was there but later we do not find them. From the sculptures we find that there were no pegs to which strings were to be tied. In the South Indian music, a bowshapped instrument yal is played even now. It has pegs to which strings are tied. In the mediaeval period, the vinas of polychord type were there. In the sculpture of samudragupta's period bow-shapped instruments with many strings appear on a coin. Such instruments are found in the sculptures and described in literature. The important thing about them is that they are without frets. In the 10th century, in one sculpture of Abaneri there is a lady playing vina with 7 or 8 frets. Inliterature, Kinnari with 8 frets. From the 12th century onwards we find fretted vina e.g. the sarswati vina of Badami sculpture (12th cen. A.D.). These fretted vinas have 13 frets for two octaves. Among them, in modern times, we get kinnari vina having less number of frets. This is available in Karnataka. But it cannot be termed as a popular one used in regular practice. There is an instrument named as alapini with one string mentioned in the mediaeval period. Literary work describes it as producing music by the skillful

Scanned with OKEN Scanner

artists. The folk instrument Ravanahasta of Rajasthan has few strings and frets. It does not belong to the classical type but it is used by the mendicants there is one instrument mandunni, with 5 or 6 frets in Kerala folk instruments.

In modern times, tabala, surashrinagar and saroda are played with a plucktrum called java. The instrument like present saroda has prototypes in the sculptures of ancient times. The instruments of this type are without frets. The drone instrument called tanpura is in the practice of musical field all over India. The instrument like fiddle is also seen in a few sculptures. The name tanpura occurs in the work Sangitasara. It is described as an instrument without frets. It is stated that this instrument, used for drone had 4 strings. When provided with frets, this instrument is termed as as tambura. The last string of tanpura, known as Kharja, is made of brass or copper. The other stringed instruments - saraswati vina and rudravina are available throughout India. There are other vinas like gottuvadyam without frets, rudravina, vichitravina (a rare, uncommon instrument), surabahar the modified form of ancient kacchapivina. The sitar is the most popular fretted instrument. The been, surashrinagar, saroda etc. are also popular vogue. The instruments like sarangi are the most usful ones for the accompaniment in vocal and dance music all over India. Esaraja is the most common and popular stringed bow type instrument prevailing throughout Bengal. Dilruba is similar to esaraja; tausa is also of this type. Mandar has the largest size among the modern ones, Violin is one of the most popular and common musical instrument of bowed type current allover India. Sarangi has 3 strings and the 4th, a brass one employed for the tonic. King Haripal of the mediaeval period has stated that the regional kinnari is termed by the word saranga vina. Samgadeva mentions sarangi, Narayana (end of the 16th century) describes sarangi which is similar to the modern one. It is said that it was fashioned by Hakim Bakatagau. Another opinion gives the claim to Miya Kallukhan. This instrument is very useful for the production of meend. It is used as accompaniment as well as for solo performance. Sarinda is said to be fashioned by Amardasa of Amritsar. It is a folk instrument seen in the practice of lower class, in the regions of Punjab, Bengal and Kashmir. Pena or Penna is a folk instrument is Assam and Manipur region. It is without pegs. While playing, the small bells tied to an iron rod produce a tinkling sound.

Now a days saraswati vina of the North and rudra vina of the South are very much in vogue. Frets are all equal in number and similar to each other except for the decoration and workmanship of the South. Gottuvadyam is a fretless vina which is a common and popular concert instrument of the South. This instrument has a few sympathetic strings which pass through the main ones over a small bridge fitted beneath the main bridge. It has 6 main strings and 3 side ones to enrich the tone of the instrument. It is played gliding a cylindrical polished piece of hard wood of about 3 inches. Surbahar is the most fascinating instrument of Northern India. It looks like the largest size of modern Sitar having 17 frets and a flat ground. It is famous for rendering alapa, Jod alapa and zankara. At present only a few persons know the technique of this instrument. Its tone is grave and deep and

Scanned with OKEN Scanner

very melodious. Sitar is a very famous instrument in present times. It has 5 main and 2 side strings as well as 9 to 12 sympathetic strings. Two popular styles of playing are known as Mashitakhan and Rezakhan gat. The former one is played in slow tempo and the latter in the fast tempo accopmanied by table. Some sitars have two and some one gourd. It is popular in India and abroad. Nikhil Bannerjee and others. In Maharashtra, Pt. Usman Khan dharwad settled in Pune renders sitar in soft and melodious manner. His grand father Rahimatkhan who had great mastery over sitar showed the influence of Kirana style. Pt. Usman Khan's daughter Rukhyya has mastery over sitar playing like her father. After Slapa, jod and zala, begins the regular playing of gat. Vishitravina is a peculiar type of vina similar in appearance and structure to the saraswati vina. It's a rare and uncommon type of vina species. It is played by means of mezaroba (plectrum) that is worn in the fore and middle fingers of the right hand to strike the main string near the bridge. Sarada appears to be a prototype in the sculptures of Gandharva. It is mainly a solo instrument. Its famous players are Amzadalikhan, Zarin Daruwala and others. Surashrinagar is played with java. It has 6 main strings and 2 additional ones to serve the purpose of zankara and keeping the rhythm. It is particularly suited for playing Dhrupad and Dhamar style. Srangi has 4 pegs in the upper vacant portion. It has 3 strings of gat and the 4th one is employed for tonic. All the 4 strings are fashioned from the gut of animals. It has no frets and is played by a bow. From the references to this instrument in the mediaeval period, it is understood as a folk instrument and then after development, the modern sarangi is fashioned. It is closer to human voice. In its playing the fingers are employed in a peculiar way. Violin is not only an instrument for solo but serves as accompaniment in place of sarangi, particularly in the South. It is suggested that in the near future sarangi may be replaced by violin, esaraj and dilruba. The following instruments not being in vogue are as good as out of practice and naturally their players too become rare. Among the ancient one, the bow shaped were significant and in practice only upto 10th cen. A.D. Among the modern ones dilruba is less in use. Surbahar being large size is not played by modern players. Only rare ones like Kirti Kumar and Chandrashekhar Naringrekar show their skill in playing this instrument. The been which was very popular in the 14th - 15th cen. Is also not so at present and only a few experts exist. The Mandar Baharis a rare instrument mostly found in Bengal. It is now used in the modern Indian orchestra for producing bass notes in the lowr octave. Santoor has a rectangular box over which strings of different lengths are stretched. Unlike Swaramandala which has only are string to a note, the Santoor has normally a set of 3 strings to a note. It is played by a small delicate hammers held in both hands. It is made famous through out the musical world by players like Shivkumar Sharma, Zarin Daruwala and others. In Svaramandala, the strings are plucked by fingers. It is now used by expert vocalists for melodious accompaniment. there is no scope for meend in its playing. In santoor also practically meend is not clearly possible. But artists like Shivkumar create its appearance by skillful playing.

□□□

Scanned with OKEN Scanner

पारम्परिक संगीत के बदलते तेवर

- डा0 वेद प्रकाश

संगीत अपने आप में व्यापक अर्थ का बोध कराता है। आदिम से लेकर सभ्य समाज के बीच सुख–दुख के अवसर पर एकल या सामुदायिक रूप से होने वाले गायन–वादन–नृत्य आदि के साथ शास्त्रीय से लेकर फिल्मी संगीत और वह तमाम प्रयोगधर्मी सांगीतिक क्रिया–कलाप इसके अंतर्गत हैं।

संगीत एवं परम्परा एक दूसरे के पूरक रहे हैं। वैदिक काल में जहाँ अभिजात्य समाज के अंतर्गत यज्ञों के अवसर पर सामगान की परम्परा थी, वहीं लोक–जीवन में नाराशंषी संगीत का व्यवहार था। साम–गान के द्वारा ही आगे चलकर शास्त्रीय संगीत का विकसित स्वरूप सामने आया। शास्त्रीय संगीत के अंतर्गत जितने भी परिवर्तन या बदलाव आए हैं, उनको इसके नियम के द्वारा ही व्यवस्थित किया गया है। जन–अभिरूचियों से जुड़े रहने से ही कोई भी कला जीवंत रह सकती है। वैदिक कालीन साम–गान से जाति–गान, प्रबंध–गान ध्रवपद, ख्याल आदि गायन शैलियों का क्रमिक परिवर्तन मनुष्य की बदलती हुई पसंदगी के ही परिणाम हैं।

संगीत मनुष्य की सांस्कृतिक जरूरत है। देश के बहुसंख्य क्षेत्रों में सभी सामाजिक कार्य लगभग संगीत के सान्निध्य में ही सम्पन्न होते रहे हैं। संगीत सुनकर दूर से ही हम किसी संस्कृति को पहचान जाते हैं।

ढ़ोल पर चोप की जोड़दार ध्वनी के साथ भांगड़ा के बल्ले–बल्ले के बोल सुनते ही हमारे सामने पंजाब के हरे–भरे खेत खलिहानों वाले मेहनतकश अलमस्तों का दृश्य उभरने लगता है। एकतारा की तुन–तुन और खोल की मृदुल ध्वनी के साथ शांत–भाव में सामूहिक कीर्त्तन को सुनते ही बंगाल के प्रभाती गाते हुए ब्रह्ममुहूर्त में जीवन की प्रेरणा देने वाले जोगियों की याद आ जाती है। मांदल की थाप के साथ झिहिर–झिहिर के सामुहिक स्वर हमें आदिवासियों के सहज और कलात्मक जीवन–शैली की याद दिलाते हैं। बिहु नृत्य के बांसुरी की लंबी–तान सुनते ही हमें जहा एक ओर आसाम की हरियाली और घाटियों के बीच कहीं एक–दूसरे की कमर में हाथ डाले मंथर गति से सामूहिक नृत्यरत युगलों की याद आने लगती है वहीं दूसरी ओर सामूहिक स्वर से गायी जाने वाली "गोसाउनी गीत" को सुनकर साधकों और नैयायिकों की भूमि मिथिला का स्मरण हो आता है।

भौगोलिक बनावट, आवोहवा, कलात्मक सोच, रीति–रिवाज, रहन–सहन के आधार पर विभिन्न सामाजिक परिवर्त्तनों एवं विकास के साथ ही हमारा पारम्परिक संगीत अविचल रूप से प्रवाहित है।

वास्तव में संगीत किसी भी संस्कृति की पहचान होती है। भू–मण्डलीकरण के इस दौर

* सम्प्रति : स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, कामेश्वर नगर, दरभंगा; आवास : बलभद्रपुर, लहेरियासराय, दरभंगा-846001 (बिहार)

Scanned with OKEN Scanner

में विभिन्न संचार माध्यम के द्वारा हमारे समाज की मान्यताएँ तेजी से प्रभावित हो रही है।

अपनी स्थापना के लिए जद्दोजहद में जुटी नयी पीढ़ी, जो आने वाले दिनों में विश्व उपभोक्ता बाजार का बड़ा खरीददार बनने जा रहा है, उन्हें इस माध्यमों के द्वारा परोसे जा रहे पारम्परिक संगीत का विद्रुप स्वरूप एक ओर जहाँ असंस्कृति को बढ़ावा दे रहा है, वहीं नहीं चाहते हुए भी आज हम ऐसे संगीत सुनने को मजबूर हैं, जिनका हमारे सामाजिक सरोकारों से कोई मतलब नहीं रह गया है। द्विअर्थी भाव वाले गीत के सहारे लोक–संगीत का पुट लेकर या किसी फिल्मी धुन के आधार पर बने ये गीत–संगीत हमारी उन्नत पारम्परिक संगीत के लिए मजाक लग रही हैं। ऐसे गीतों के निर्माण में विषयानुकूल शब्द–रचना, भाव, राग, वाद्य योजना, सुरीलापन आदि पर ध्यान नहीं दिया जाता है। अधिकतर कृत्रिम ध्वनि वाले विद्युत यंत्र से उत्पन्न ध्वनि में सितार, बांसुरी, शहनाई, सारंगी आदि वाद्यों की नैसर्गिक स्निग्धता नहीं मिलती है, जिससे यह संगीत सतही तौर पर कौतुहल मात्र बनकर रह जाता है। व्यवसायिकता ही किसी भी कला को व्यवहारिक बनाती है, अर्थोपार्जक दृष्टि के कारण ही शास्त्रीय संगीत में असंख्य मिश्र रागों के साथ विवादी आदि स्वरों को मान्यता मिली तथा आचार्य बैजु, तानसेन, कुदउसिंह, रामचतुर मल्लिक, लता मंगेशकर, बिस्मिल्लाह खाँ आदि संगीतज्ञ उत्पन्न हुए । परंतु वर्तमान दौर की व्यावसायिकता ने नवसिखुओं को भी सुजान बनने का भ्रम पैदा कर दिया है। ऐसे में कोई भी संगीत के मौलिक तत्वों से अनभिज्ञ, पैरोडी कलाकारों के सहारे मनचाहे संगीत को कैसेट में संग्रहित कर बाजार में पहुँच जाता है, जहाँ हम बस, टैक्सी, दुकान या पूजा स्थलों के माध्यम से चाहे–अनचाहे में इस बेतुके संगीत को सुनने के लिए मजबूर हो जाते हैं। व्यावसायीकरण के इस दौर में आज हर चीज को उपभोग की वस्तु बनाकर बेचने की होड़ सी लग गयी है। परंतु संस्कृति और इससे जुड़ी संस्कारें बेची नहीं जा सकती है, परम्परा से आवाहित हमारे सरोकारों से आबद्ध संगीत में परिवर्त्तन स्वाभाविक रूप से होते रहे हैं, इसमें जबर्दस्ती नहीं किया गया । यह तय है कि कोई भी कला अपने प्रयोगधर्मी गुणों के कारण ही समाज से जुड़ी रहती है, लेकिन इनकी मौलिकता कायम रहनी चाहिए। स्थापित धुन, गीत, शैली, या दूसरे की सृजित संगीत रचना में अनचाही घुसपैठ कर कौतुहल पैदा करना उचित नहीं माना जा सकता। सिनेमा संगीत आरम्भ से ही प्रयोगधर्मी रहा है। 20वीं सदी का भारतीय सिने संगीत अपनी सुरीली रचनाओं के लिए सदा याद किया जाएगा। इस काल के सिने संगीत के रंचनाकारों ने जहाँ शास्त्रीय संगीत के ध्रुवपद, धमार, ख्याल, ठुमरी, टप्पा, चतुरंग, भजन, गीत, गजल, लोरी आदि पर प्रयोग किया, वहीं लोक–संगीत के स्वाभाविक मिठास को भी अपनाया, साथ ही इस दौर के रचनाकारों ने खुलकर पाश्चात्य संगीत के साथ रवीन्द्र संगीत तथा विद्यापति संगीत को भी शामिल किया ।

कहा जाय तो इस काल की फिल्मी संगीत के सुरीलेपन ने पूरे देश को सुरीला बना दिया। कोई भी संगीत रचना सुरीला होने के साथ–साथ अपनी सार्थक अभिव्यक्ति के द्वारा ही जीवंत बन पाती है । नई गीतों का जन्म लेना, पुरानी गायन शैलियों का अप्रचलित होना यह स्वाभाविक प्रक्रिया है। असंख्य वाद्यों के निर्माण को पीछे भी समय की जरूरत ही रही है।

सारिकाविहिन वीणा के बाद पर्देवाली सितार का आविष्कार हुआ। मुगल बादशाहों के अंतः पुर में पुरुषों के प्रवेश वर्जित होने के कारण कष्टसाध्य सारंगी के स्थान पर वहाँ की संगीत गोष्ठियों में महिलाओं के द्वारा स्वर–संगति के लिए ही दिलरूबा नामक वाद्य यंत्र का आविष्कार हुआ। एक समय उस्ताद अब्दुल करीम खाँ एवं अन्य संगीतकारों के साथ देश के प्रथम प्रधानमंत्री

Scanned with OKEN Scanner

पं0 जवाहर लाल नेहरू एवं जनरल के0 एम0 करिअप्पा के विरोध के बावजूद भी हारमोनियम आज भारतीय संगीत का आधार वाद्य बन गया है।

आज के दौर में संगीत में जो व्यापक बदलाव आ रहे हैं, उससे ऐसा प्रतीत होता है, कि शायद यह संगीत के मायने ही न बदल कर रख दे। संगीत में राग जहाँ अन्तस् को प्रभावित कर भावात्मक शुकून पैदा करता है, वहीं लय–ताल उसमें गतिशीलता लाते हैं तथा दोनों के मंजुल योग से ही संगीतात्मक वातावरण का निर्माण होता है। इन्हीं गुणों के कारण आदि काल से संगीत मनोरंजन के साथ दुनिया भर में अपने आराध्य को भजने एवं रीझाने का माध यम रहा है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. ध्रवपद और उसका विकास, ले0–आचार्य बृहस्पति
2. वैदिक परम्परा में सामगान, ले0–राजेश्वर मित्र
3. संगीत–बोध, ले0–डा0 शरतचन्द्र श्रीधर परांजपे
4. स्मारिका–2008, प्रयाग संगीत समिति, इलाहाबाद
5. मुसलमान और भारतीय संगीत, ले0–आचार्य बृहस्पति
6. भारतीय संगीत का इतिहास, ले0–डा0 शरतचन्द्र श्रीधर परांजपे
7. हमारा आधुनिक संगीत, ले0–डा0 सुशील कुमार चौबे
8. भारतीय समाज, ले0–श्रीराम आहुजा
9. वैदिक संस्कृति, ले0–भगवान सिंह
10. इंडियन कल्चर, ले0–एम0 एन0 श्रीनिवास
11. छान्दोग्यउपनिषद्, ले0–श्रीराम शर्मा आचार्य
12. भारतीय संस्कृति, ले0–साने गुरू जी

❑❑❑

Scanned with OKEN Scanner

Scanned with OKEN Scanner